# गीता-प्रबंध
# (ESSAYS ON THE GITA)

## प्रथम भाग

श्रीअरविंद
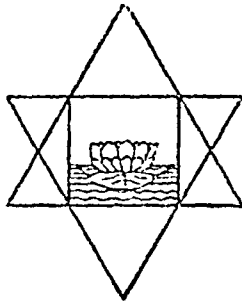
श्रीअरविंद-ग्रंथमाला
१६, र्‍यू देवासैं द रिश्मों
16 RUE DESBASSIN DE RICHEMONT
पांडीचेरी PONDICHERRY.

प्रकाशक

श्रीमदनगोपाल गाड़ोदिया

श्रीअरविंद-ग्रंथमाला

पांडीचेरी

१५ अगस्त १९४२

मुद्रक

हिन्दी प्रचार प्रेस,

त्यागरायनगर, मद्रास

प्रथम संस्करण
१०००

मूल्य
(४) चार रुपया

# प्रकाशकका वक्तव्य

श्रीअरविंदकी गीतापर एक लेखमाला "एसेज आन दी गीता" शीर्षक 'आर्य' पत्रिकामें सन् १९१६ से सन् १९२० तक प्रकाशित हुई थी जो पीछेसे पुस्तकाकार २ भागोंमें छपी है। इस पुस्तकके प्रथम भागका हिंदी रूपांतर आज हम हिंदी संसारके सामने रख रहे हैं। इससे पाठकोंको गीतासे एक नया प्रकाश मिलेगा, दार्शनिक परिभाषाके रूपमें नहीं, वल्कि जीवनके, उच्चतम आध्यात्मिक जीवनके पथ-प्रदर्शकके रूपमें। श्रीअरविंदकी व्याख्याके अनुसार गीताकी शिक्षा जगत् और उसकी वास्तविकतासे मुंह मोड़नेको नहीं कहती न यही कहती है कि नैतिक और मानसिक भावोंसे परिचालित कर्म ही जीवनका लक्ष्य है, वल्कि गीताका आदर्श है कामनारहित होकर तथा भागवत चेतनाके साथ एक होकर इस पृथ्वीपर भगवान्‌के संकल्पको चरितार्थ करनेके लिये कर्म करना।

हमें विश्वास है कि सत्यके जिज्ञासु पाठकोंको इस पुस्तकसे यथेष्ट लाभ होगा।

# विषय-सूची

# गीता-प्रबंध

प्रथम भाग

# गीतासे हमारी आवश्यकता और माँग

संसारमें कितने ही सद्ग्रंथ हैं वैदिक और लौकिक भी, कितने ही आगम-निगम और स्मृति-पुराण हैं, कितने ही धर्म और दर्शन-शास्त्र हैं, कितने ही मत, पंथ और संप्रदाय हैं। इन सबमें अधकचरे ज्ञानी अथवा सर्वथा अज्ञानी मनुष्योंके विविध मन ऐसी अनन्य-बुद्धि और आवेशसे अपने-आपको आबद्ध किये हुए हैं कि जो कोई जिस ग्रंथ या मतको मानता है उसीको वह सब कुछ जानता है, उसके परे और भी कुछ है इसको देख ही नहीं पाता, और अपने चित्तमें ऐसा हठ पकड़े रहता है कि बस यही एकमात्र ग्रंथ भगवान्‌का सनातन वचन है और बाकी सब ग्रंथ या तो केवल ढोंग हैं या यदि उनमें कहीं कोई भगवत्प्रेरणा या भाव है तो वह अधूरा है, और इसी तरहसे ऐसा हठ कि हमारा यह अमुक दर्शन ही बुद्धिकी पराकाष्ठा है—बाकी सब दर्शन या तो केवल भ्रम हैं अथवा उनमें यदि कहीं कोई आंशिक सत्य है तो वह उतना ही है जितना कि हमारे इस एकमात्र सच्चे दार्शनिक संप्रदायके अनुकूल है। भौतिक-विज्ञानके आविष्कारोंका भी एक संप्रदाय-सा ही बन गया है और उसके नामपर धर्म और अध्यात्मको अज्ञान और अंधविश्वास, तथा दर्शनशास्त्रोंको कूड़ाकरकट और ख्याली

पुलाव कहकर उड़ा दिया गया है। और बड़े मजेकी बात तो यह है कि बड़े-बड़े बुद्धिमान लोग भी, प्रायः इन स्वमताग्रही नान्यद्वादों और व्यर्थके झगड़ोंमें पड़कर इन्हें पुष्टि देते रहे हैं, कोई तमोभाव ही उनके निर्मल सात्विक ज्ञानके प्रकाशमें मिलकर उसे बौद्धिक अहंकार या आध्यात्मिक अभिमानसे आच्छन्न करके उन्हें इस प्रकार विपथगामी बनाता रहा है। अब अवश्य ही मनुष्य-जाति पहलेकी अपेक्षा कुछ अधिक विनयशील और समझदार होती हुई देख पड़ती है; अब हम लोग अपने भाइयोंको ईश्वरीय सत्यके नामपर कत्ल नहीं करते, न इसलिये मार डालते हैं कि इनके अंतःकरणोंकी शिक्षा-दीक्षा हम लोगोंकी से भिन्न है या इन अंतकरणोंका साँचा-ढाँचा कुछ और ही प्रकारका है; अब हम लोग अपने पड़ोसियोंको, अपनी रायसे भिन्न राय रखनेकी हिमाकत या जुर्रत करनेपर, कोसते या भला-बुरा कहते, कुछ सकुचते ही हैं; अब तो हम लोग यह भी स्वीकार करने लगे हैं कि सत्य सर्वत्र है, केवल हम ही उसके ठेकेदार नहीं; अब तो हम दूसरे धर्मों और दर्शनोंको, इसलिये नहीं कि उन्हें केवल झूठा साबित करके बदनाम करें, बल्कि इसलिये देखने लगे हैं कि देखें इनमें कहाँ क्या सदुपदेश है और उससे अपनेको क्या सहायता मिल सकती है। परंतु फिर भी यह कहनेका अभ्यास तो हम लोगोंका अभी-तक बना ही हुआ है कि हम लोग जिसे सत्य कहते और मानते हैं वही वह परम ज्ञान है जो अन्य धर्मों या दर्शनोंको नहीं मिला है और यदि मिला भी है तो अंशमात्र और अधूरे तौरपर ही, अर्थात् उनमें सत्यके केवल उन गौण और अधस्तन अंगोंका ही निरूपण है जो निम्न कोटिके अधिकारियोंके लिये ही उपयोगी हैं या जो हम लोगोंकी इस उच्च कोटि-को कालांतरमें प्राप्त करानेवाले निम्न साधनमात्र हैं। और अभीतक

# गीतासे हमारी आवश्यकता और माँग

हम लोगोंकी प्रवृत्ति ऐसी ही बनी हुई है कि जिस किसी सद्ग्रंथ या सदुपदेशका हम लोग आदर करते हैं उसीको सर्वांगसे सर्वथा ब्रह्म-वाक्य मानते और सिर आँखों उठा लेते हैं तथा इसी रूपमें उसे दूसरों-पर भी जबर्दस्ती लाद देना चाहते हैं इस आग्रहके साथ कि यह सारा-का-सारा ही इसी रूपमें स्वतःप्रमाण सनातन सत्य है, इसका एक रंच, रेख या स्वर भी इधर-से-उधर नहीं हो सकता, क्योंकि ये सभी उसी एक अपरिमेय प्रेरणाके ही अंश हैं।

इसलिये, वेद, उपनिषत् अथवा गीता जैसे प्राचीन सद्ग्रंथका विचार करनेमें प्रवृत्त होते हुए, आरंभमें ही यह बतला देना बहुत अच्छा होगा कि हम किस विशिष्ट भावसे इस कार्यमें प्रवृत्त हो रहे हैं और हमारी समझमें इससे मानवजाति तथा उसकी भावी सन्ततिका क्या वास्तविक लाभ होगा। सबसे पहली बात यह है कि हम निश्चय ही उस परम सत्यको ढूँढ रहे हैं जो एक है और सनातन है जिससे अन्य सब सत्य उद्भूत होते हैं, जिसके प्रकाशमें ही अन्य सब सत्य परम ज्ञानकी योजनामें अपने-अपने स्थानपर स्थित, निरूपित और सुसंबद्ध दिखायी देते हैं। परन्तु इसी कारणसे वह परम सत्य किसी एक पैने सूत्रके अंदर आबद्ध होकर नहीं रह सकता अर्थात् यह संभव नहीं है कि वह परम सत्य सर्वांशमें या सर्वार्थके साथ किसी एक दर्शनशास्त्र या किसी एक सद्ग्रंथमें प्राप्त हो जाय, न यही संभव है कि किसी एक गुरु, मनीषी, पैगम्बर या अवतारके मुखसे वह सदाके लिये सर्वांशसे उक्त हुआ हो। और यदि उस परम सत्यके विषयमें हमारी कल्पना या भावना कुछ ऐसी हो कि जिससे अपनेसे इतर संप्रदायों के आधार-भूत सत्योंके प्रति असहिष्णु होकर हमें उनका बहिष्कार करना पड़ता हो तो यह समझना चाहिये कि हमें उस परम सत्यका पूरा पता चला ही

नहीं, कारण जब हम इस प्रकार अंध आवेशमें आकर किसी सिद्धांतका बहिष्कार करनेपर तुल जाते हैं तब इसका मतलब केवल इतना ही होता है कि हम उसको समझने या समझानेकी पात्रता नहीं रखते। दूसरी बात यह है कि यह परम सत्य जो यद्यपि है एक ही और सनातन, पर वह अपने-आपको इस कालके अंदरसे और मनुष्यकी मन-बुद्धिमेंसे होकर ही प्रकट करता है; और इसलिये प्रत्येक सद्ग्रंथमें दो तरहकी बातें हुआ ही करती हैं, एक अचिर, नश्वर, देशविशेष और काल-विशेषसे ही संबंध रखनेवाली, और दूसरी शाश्वत, अविनश्वर, सब कालों और देशोंके लिये समान रूपसे उपयोगी और व्यवहार्य। फिर यह भी बात है कि परम सत्यके विषयमें जब जो कुछ कहा जाता है वह जिस रूपमें, जिस विचार-पद्धति और अनुक्रमसे, जिस आध्यात्मिक और बौद्धिक सांचेमें ढालकर कहा जाता है, उसके लिये जो विशिष्ट शब्दप्रयोग किये जाते हैं वे सब अधिकांशमें कालकी ही गतिके अधीन होते हैं और इसलिये उनकी शक्ति सदा एक-सी ही नहीं बनी रहती, कारण मानव-बुद्धि सदा बदलती रहती है; यह सदा ही विविध तथ्यों-को एक दूसरेसे पृथक् करके देखती और फिर उन्हें एक साथ जुटाती हुई अपने व्यतिरेकों और समन्वयोंका क्रम सदा ही बदला करती है; सदा ही प्राचीन शब्दप्रयोगों और संकेतोंको पीछे छोड़ती और नये शब्द और संकेत गढ़ा करती है, अथवा, यदि प्राचीन प्रयोगोंको पुनः प्रयुक्त करती भी है तो उनके अर्थ या कम-से-कम उनके गर्भित आशय या अर्थ-साहचर्यको इतना बदल देती है कि किसी ऐसे प्राचीन सद्ग्रंथको हम आज समझना चाहें तो यह पूर्ण निश्चय नहीं किया जा सकता कि जिस समयका यह ग्रंथ है उस समयके लोगोंने इसे जिस भावसे देखा या इससे जो अर्थ ग्रहण किया ठीक उसी भाव और अर्थको हम भी

इससे ग्रहण कर रहे हैं। इसलिये ऐसे सद्ग्रंथोंमें संपूर्ण रूपसे चिरंतन महत्त्वका विषय वही है जो सर्वदेशीय होनेके अतिरिक्त स्वानुभूत हुआ हो, जो अपने जीवनमें आ गया हो और जो बुद्धिकी अपेक्षा किसी परा दृष्टिके द्वारा देखा गया हो।

इसलिये गीताकी किस शास्त्रीय परिभाषासे उस समयके लोग कौनसा अर्थ ग्रहण करते थे, यह यदि यथावत् जानना किसी प्रकारसे संभव भी हो तो भी, मेरे विचारमें, इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। फिर यह जानना किसी तरहसे संभव भी नहीं, यह बात आजतक जो भाष्य इसपर लिखे गये और अभी भी लिखे जा रहे हैं उनके परस्पर मतभेदसे स्पष्ट ही प्रकट है; ये सब-के-सब एक दूसरे-से विमत होनेमें ही एकमत हैं, प्रत्येक भाष्यको गीतामें अपनी ही आध्यात्मिक रीति और धार्मिक विचार-धारा दिखायी देती है। इस विषयमें चाहे कोई कितना ही प्रचंड प्रयास करे, कितना भी तटस्थ होकर समीक्षण करे और भारतीय तत्त्वज्ञानके विकासक्रमके संबंधमें चाहे जैसे उद्बोधक सिद्धांत प्रस्थापित करनेमें प्रयत्नवान हो, पर यह विषय ही ऐसा है कि इसमें भूलका होना अपरिहार्य है। इसलिये गीताके विषयमें अपने करनेकी जो बात है जिससे कुछ लाभ हो सकता है वह यही है कि हम गीतामें शास्त्रीय परिभाषाके फेरमें न पड़कर इसमें जो प्रकृत जीते-जागते तथ्य हैं उन्हें ढूंढें, हम गीतासे वह चीज लें जो हमें या संसारको सहायता पहुँचा सकती है और उसे, जहांतक हो सके, ऐसी स्वाभाविक और जीती-जागती भाव-भाषामें प्रकट करें जो वर्तमान मानव-जातिकी मनोवृत्तिके अनुकूल हो और जिससे उसकी पारमार्थिक आवश्यकताओंकी पूर्तिमें मदद मिले। इस प्रयासमें हो सकता है कि हम बहुत-सी ऐसी भूलोंको मिला दें जो

अपने व्यक्तिगत वैशिष्ट्य और इस समयके अपने विशिष्ट संस्कारोंसे उत्पन्न हुई हों, जिससे अपनेसे बहुत बड़े अपने पूर्वाचार्य भी नहीं बच पाये हैं; परंतु यदि हम इस महत् सद्ग्रंथके भावमें अपने-आपको निमज्जित कर दें, और, सबसे बड़ी बात यह है कि यदि हम उस भावको अपने जीवनमें चरितार्थ करनेका प्रयत्न किये हुए हों तो, इसमें संदेह नहीं कि हम इस सद्ग्रंथमेंसे उतनी सद्वस्तु तो ग्रहण कर ही सकेंगे जितनेके हम पात्र या अधिकारी हैं और साथ ही हमें इससे वह पारमार्थिक प्रभाव और प्रकृत साहाय्य भी प्राप्त हो सकेगा जो व्यष्टिगत रूपसे हम इससे प्राप्त करना चाहते थे। और इसीको देनेके लिये सद्ग्रंथोंकी रचना हुई थी; बाकी जो कुछ है वह वाग्विलास या वाचारंभणमात्र है। केवल ऐसे ही सद्ग्रंथ, धर्मशास्त्र और दर्शन मनुष्य-जातिके कामके बने रहते हैं, जिनका इस प्रकारसे सतत नव-नव संस्करण होता चलता हो, जो पुनः-पुनः जीवनमें चरितार्थ किये जाते हों, जिनका आधारभूत शाश्वत तत्त्व निरंतर नवरूपांतरित और विकसनशील मनुष्य-जातिकी अंतर्विचारधारा और आध्यात्मिक अनुभूतिसे विकसित होता रहता हो। इसके सिवाय और जो कुछ है वह भूतकालका भव्य स्मारक तो है, पर उसमें भविष्यके लिये कोई यथार्थ शक्ति या सजीव प्रेरणा नहीं है।

गीतामें ऐसा विषय कि जो केवल उसी देश और कालसे संबंध रखता हो बहुत ही कम है और इसका आशय इतना उदार, गंभीर और व्यापक है कि इसमें जो कुछ देशविशेष और कालविशेषसे संबंध रखनेवाली बात भी है इसे भी, बिना किसी विशेष आयासके और बिना किसी प्रकार इसकी शिक्षाका किंचित् भी अपलाप या अतिक्रम किये, व्यापक रूप दिया जा सकता है; यही नहीं, बल्कि ऐसा व्यापक

रूप देनेसे उसका गांभीर्य; सत्तत्त्व और शक्तिमत्त्व ही संवर्द्धित होता है। स्वयं गीतामें ही बारंबार उस व्यापक रूपका संकेत किया गया है जो इस प्रकार देशकालमर्यादित भावना या संस्कार-विशेषको दिया जा सकता है। उदाहरणार्थ, "यज्ञ" संबंधी प्राचीन भारतीय विधि और भावनाको गीताने देवताओं और मनुष्योंका परस्पर आदान-प्रदान कहा है। यज्ञकी यह विधि और भावना स्वयं भारतवर्षमें ही बहुत कालसे लुप्तप्राय हो गयी है और सर्वसाधारण मानव-मनको इसमें कुछ भी तथ्य नहीं प्रतीत होता। परंतु गीतामें यह यज्ञ शब्द इतना आलंकारिक, सांकेतिक और सूक्ष्म तत्त्वका परिचायक है तथा देवताविषयक भावना देशकालमर्यादा और किंवदंतीसे इतनी विनिर्मुक्त और समष्टिमें इतनी व्यापक और दार्शनिक है कि हम इन यज्ञ और देवता दोनोंको, मनोविज्ञान और प्रकृतिके साधारण विधानके व्यावहारिक तथ्यके रूपमें सहज ही ग्रहण कर सकते हैं और इन्हें, मनुष्यपशुपक्षीतिर्यगादि प्राणियोंमें परस्पर होनेवाले आदान-प्रदान, एक-दूसरेके हितार्थ होनेवाले बलिदान और आत्मदानके विषयमें जो आधुनिक विचार हैं उनपर, ऐसे घटा सकते हैं कि इनके अर्थ और भी उदार और गंभीर हों, ये अधिक सच्चे आध्यात्मिक स्वरूप और गंभीरतर अत्यधिक विस्तीर्ण सत्यके प्रकाशसे प्रकाशित हों। इसी प्रकार शास्त्रविधानोक्त कर्म, चातुर्वर्ण्य, विभिन्न वर्णोंकी स्थितिमें तारतम्य, या अध्यात्म-विषयमें शूद्रों और स्त्रियोंके अनधिकार, ये सब बातें पहली नजरमें तो देशविशेष या कालविशेषसे ही संबंध रखनेवाली प्रतीत होती हैं और इनका यदि एकमात्र शाब्दिक अर्थ ही लिया जाय तो गीताकी शिक्षा उतने अंशमें अनुदार ही हो जाती है और उससे गीताके उपदेशका व्यापकत्व और आध्यात्मिक गांभीर्य नष्ट होता और फिर समस्त मनुष्य-जातिके लिये

उसका उपयोग उतना नहीं रह जाता। परंतु यदि हम इसके आभ्यंतर भाव और अर्थको देखें, केवल देशविशिष्ट नाम और कालविशिष्ट रूप नहीं, तो यह देख पड़ेगा कि यहाँ भी अर्थ गूढ़, गंभीर और तथ्यपूर्ण है और इसका आंतरिक भाव दार्शनिक, आध्यात्मिक और विश्वव्यापक है। शास्त्र शब्दसे गीतामें वह विधान अभिप्रेत मालूम होता है जिसको मनुष्य-जातिने असंस्कृत प्राकृत मनुष्यके केवल अहंभावप्रेरित कर्मके स्थानमें अपने ऊपर आरोपित किया है, इस विधानका हेतु अहंकारको हटाना है, और, मनुष्यकी जो यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपनी वासनाओंकी तृप्तिको ही अपने जीवनका मान और उद्देश्य बना लेना चाहता है, ऐसी उस प्रवृत्तिका नियमन करता है। ऐसे ही चातुर्वर्ण्य भी एक आध्यात्मिक तथ्यका ही केवल एक स्थूल रूप है, जो स्वयं उस स्थूल रूपसे स्वतंत्र है। उसका अभिप्राय यह है कि सब कर्म उसको करनेवाले व्यक्तिगत प्राणीके स्वभावके अनुसार सम्यक् रूपसे सुसंपादित हों और प्रकृति जिस तिसके सहज गुण और स्वात्म-व्यंजनात्मक व्यापारके अनुसार उसके जीवनकी धारा और क्षेत्रको निर्द्धारित करती रहे। इसलिये जब गीतामें आये हुए देशकालविशिष्ट उदाहरण इसी गभीर और उदार भावसे प्रयुक्त हुए हैं तब हमारा भी बराबर इसी सिद्धांतका अनुसरण करना और इस गभीरतर सार्वत्रिक सत्यको, जो आपाततः देशकालविशिष्ट-सी प्रतीत होनेवाली प्रत्येक बातमें अवश्यमेव छिपा हुआ है, ढूंढ़ना समुचित ही होगा। कारण यह बात पद-पदपर प्रत्यक्ष होगी कि यह गभीरतर तथ्य और तत्त्व गीताकी विवेचन-पद्धतिमें बीज रूपसे वहाँ भी गर्भित है जहाँ वह स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त नहीं किया गया है।

गीतामें तत्कालीन दार्शनिक परिभाषाओं और धार्मिक संकेतोंके प्रयुक्त होनेसे जो दार्शनिक सिद्धांत या धार्मिक मत आ गये हैं या

किसी प्रकार संग हो लिये हैं उनका विवेचन भी हम उपर्युक्त भावसे ही करेंगे। गीतामें जहां सांख्य और योगकी वात आती है वहां हम गीताके एक पुरुषका प्रतिपादन करनेवाले वेदांतके सांचेमें ढले हुए सांख्यका एका प्रकृति और अनेक पुरुषोंका प्रतिपादन करनेवाले अनीश्वरवादी सांख्यके साथ उतना ही तुलनात्मक विवेचन करेंगे और इसी प्रकार गीताके बहुविध, सुसमृद्ध, सूक्ष्म और सरल स्वाभाविक योगके साथ पातंजल योगके शास्त्रीय सूत्रवद्ध और क्रमवद्ध मार्गका उतना ही तुलनात्मक विवेचन करेंगे जितना कि हमारी व्याख्याके लिये आवश्यक होगा, उससे अधिक नहीं। गीतामें सांख्य और योग एक ही वेदांत-प्रतिपाद्य परम तात्पर्यकी ओर ले जानेवाले दो मार्ग हैं, वल्कि यह कहिये कि वेदांतिक सत्यकी सिद्धिकी ओर ले जानेवाले दो परस्पर सहकारी साधन हैं, एक दार्शनिक, बौद्धिक और वैश्लेषणिक है और दूसरा अंतःस्फूरित, भक्तिभावमय, व्यावहारिक, नैतिक और समन्वयात्मक है, जो अनुभूतिद्वारा ज्ञानतक पहुँचाता है। गीताकी दृष्टिमें इन दोनों शिक्षाओंमें कोई वास्तविक भेद नहीं। बहुतसे लोग जो यह मानते हैं कि गीता किसी धार्मिक संप्रदाय या परंपरा-विशेषका फल है उसके भी साधक-वाधक प्रमाणोंका विचार करनेकी हमें यहां कोई आवश्यकता नहीं है। गीताका उपदेश सबके लिये है, उसका मूल भले ही कुछ भी रहा हो।

गीताकी दार्शनिक पद्धति, इसमें जो सत्य है उसका व्यवस्थापन-क्रम इसके उपदेशका वह भाग नहीं है जो अत्यंत मुख्य और चिरस्थायी कहा जाय, किंतु इसकी रचनाका अधिकांश विषय, इसके उद्बोधक और मर्मस्पर्शी प्रधान-प्रधान विचार जो इस ग्रंथके जटिल सामंजस्यमें पिरोये गये हैं उनका महत्त्व चिरंतन है, उनका मूल्य सदा बना रहेगा। कारण

ये केवल दार्शनिक बुद्धिकी कल्पनाकी चमक या चकित करनेवाली युक्ति नहीं हैं, बल्कि आध्यात्मिक अनुभवके चिरस्थायी सत्य हैं, ये हमारी उच्चतम आध्यात्मिक संभावनाओंके प्रमाणपूर्ण तथ्य हैं, और जो कोई इस जगत्के रहस्यकी तहतक पहुँचना चाहता है वह उनकी कदापि उपेक्षा नहीं कर सकता। विवेचनकी इसकी पद्धति कुछ भी हो, इसका हेतु किसी खास दार्शनिक मतका समर्थन करना या किसी विशिष्ट योगकी पुष्टि करना नहीं है, जैसा कि भाष्यकारगण प्रमाणित करनेकी चेष्टा करते हैं। गीताकी भाषा, इसके विचारोंकी रचना, विविध भावनाओंका इसमें संयोग और उनका संतुलन ये सब बातें इसमें ऐसी हैं जो किसी सांप्रदायिक आचार्यके मिजाजमें नहीं हुआ करतीं न एक-एक पदको कसौटीपर कसकर देखनेवाली नैयायिककी बुद्धिमें ही आया करती हैं क्योंकि उसे तो सत्यके किसी एक पहलूको ग्रहण कर बाकी सबको छांटकर अलग कर देनेकी ही पड़ी रहती है। परंतु गीताकी जो विचारधारा है वह व्यापक है, उसकी गति तरंगोंकी तरह चढ़ाव-उतारवाली और नानाविध भावोंका आलिंगन करनेवाली है जो किसी विशाल समन्वयात्मक बुद्धि और सुसंपन्न समन्वयात्मक अनुभूतिका प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह उन महान् समन्वयोंमेंसे एक है जिनकी सृष्टि करनेमें भारतकी आध्यात्मिकता उतनी ही समृद्ध है जितनी कि वह ज्ञानकी अत्यंत प्रगाढ़ और अनन्यसाधारण क्रियाओंकी तथा धार्मिक साक्षात्कारोंकी सृष्टि करनेमें है, जो किसी एक ही साधनसूत्रपर केंद्रित होते हैं और एक ही मार्गकी पराकाष्ठातक पहुँचते हैं। यह एक दूसरे-को एक दूसरेसे अलग करनेवाला नहीं, बल्कि मिलानेवाला और एक करनेवाला है।

गीताका सिद्धांत केवल अद्वैत नहीं है यद्यपि इसके मतसे एक

ही अव्यय, विशुद्ध, सनातन आत्मतत्त्व ही अखिल ब्रह्मांडकी स्थितिका आश्रय है; गीताका सिद्धांत मायावाद भी नहीं है यद्यपि इसके मतसे सृष्ट जगत्‌में त्रिगुणात्मिका प्रकृतिकी माया सर्वत्र फैली हुई है; गीताका सिद्धांत विशिष्टाद्वैत भी नहीं है यद्यपि इसके मतसे उसी एकमेवाद्वितीय परब्रह्ममें उसकी जीवभूता सनातनी पराप्रकृति भी मौजूद है और वह इस बातपर जोर देता है कि उस परब्रह्ममें लय नहीं बल्कि निवास ही आध्यात्मिक चेतनाकी परास्थिति है; गीताका सिद्धांत सांख्य भी नहीं है यद्यपि इसके मतसे यह सृष्ट जगत् प्रकृति-पुरुषके संयोगसे ही है; गीताका सिद्धांत वैष्णवोंका ईश्वरवाद भी नहीं है यद्यपि पुराणोंके प्रतिपाद्य श्रीविष्णुके अवतार श्रीकृष्ण ही इसके परमाराध्य देवाधिदेव हैं और इनमें और अनिर्देश्य निर्विशेष ब्रह्ममें कोई तात्त्विक भेद नहीं न ब्रह्मका दर्जा किसी प्रकारसे भी इन "प्राणिनां ईश्वरः" से ऊँचा ही है। गीताके पूर्व उपनिषदोंमें जैसा समन्वय हुआ है वैसा ही यह गीताका भी समन्वय है जो आध्यात्मिक होनेके साथ-साथ बौद्धिक भी है और इसलिये इसमें कोई भी ऐसा अनुदार सिद्धांत नहीं आने पाता जो इसकी सार्वलौकिक व्यापकतामें बाधक हो। वेदांतके प्रस्थानत्रयमेंसे ही यह भी एक सर्वोपरि सर्वमान्य प्रमाण-ग्रंथ होनेके कारण स्वमतप्रस्थापनकुशल अनेक भाष्यकारोंने इस ग्रंथका उपयोग स्वमतके मंडनमें तथा अन्य मतों और सम्प्रदायोंके खंडनमें ढाल और तलवारके तौरपर किया है; परंतु गीताका यह हेतु नहीं है, गीताका उद्देश्य ठीक इसके विपरीत है। गीता तर्ककी लड़ाईका हथियार नहीं है; यह वह महाद्वार है जिसमेंसे समस्त आध्यात्मिक सत्य और अनुभूतिके जगत्‌की झांकी होती है और इस झांकीमें उस परम दिव्य धामके सब ठाम यथास्थान देख पड़ते हैं। गीतामें इन [illegible]

विभाग या वर्गीकरण तो है, पर कहीं भी एक स्थान दूसरे स्थानसे विच्छिन्न नहीं है न किसी चहारदीवारी या बेड़ेसे ऐसे घिरा हुआ है कि हमारी दृष्टि आरपार कुछ देख न सके।

भारतीय तत्त्वज्ञानके बृहद् इतिहासमें और भी अनेक समन्वय हुए हैं। सबसे पहले वैदिक समन्वय देखिये। वेदमें मनुष्यका मन-बुद्धिमय पुरुष दिव्य ज्ञान, शक्ति, आनंद, जीवन और महिमामें ऊँची-से-ऊंची उड़ान लेता हुआ और विशालतम क्षेत्रोंमें विहार करता हुआ देवताओंकी विश्वव्यापी स्थितिके साथ समन्वित हुआ है, इन देवताओंको उसने जड़प्राकृतिक जगत्के प्रतीकोंका अनुसरण करते हुए उन श्रेष्ठतम लोकोंमें पाया है जो भौतिक इंद्रियों और स्थूल मन-बुद्धिसे छिपे हुए हैं। इस समन्वयकी चरम शोभा वैदिक ऋषियोंके उस अनुभवमें है जिसमें वे उस देवाधिदेवका, उस परात्पर पुरुषका, उस आनंदमयका साक्षात्कार करते हैं जिसकी एकतामें मनुष्यका वर्द्धमान आत्मा तथा विश्वव्यापी देवताओंकी पूर्णता, पूर्णतया मिलते और एक दूसरेको चरितार्थ करते हैं। उपनिषत् पूर्व ऋषियोंकी इस चरम अनुभूतिको ग्रहण कर इससे आध्यात्मिक ज्ञानका एक महान् और गभीर समन्वय साधनेका उपक्रम करते हैं; सनातन पुरुषके अंतर्ज्ञानी और मुक्त वेत्ताओंने एक सुदीर्घ और सफल कालके आध्यात्मिक अनुसंधानमें जो कुछ दर्शन और अनुभव किया उन सबको उपनिषदोंने एकत्र करके एक महान् समन्वयके अंदर ला रखा। इस वेदांत-समन्वयसे गीताका उपक्रम है और इसके मूलभूत सिद्धांतोंके आधारपर गीताने प्रेम, ज्ञान और कर्म, इस तीन महान् साधनों और शक्तियोंका एक और समन्वय साधित किया है। इसके द्वारा मानव जीव सीधे परम तत्त्वको प्राप्त कर तद्रूप बन सकता है। इसके बाद वह

तान्त्रिक* समन्वय है जो सूक्ष्मदर्शिता और आध्यात्मिक गभीरतामें किसी कदर कम होनेपर भी साहसिकता और बलवत्तामें गीताके समन्वयसे भी आगे बढ़ा हुआ है,—कारण आध्यात्मिक जीवनमें जो अन्तराय हैं उनको भी इसमें पकड़ लिया जाता है और इनसे और भी अधिक सुसमृद्ध आध्यात्मिक विजयके साधनका काम लिया जाता है; इससे सारा-का-सारा जीवन ही भगवान्‌की लीला रूपसे हमारे लिये दिव्य जीवनकी प्राप्ति करानेका क्षेत्र बन जाता है। कुछ बातोंमें यह समन्वय समधिक सद्यःपुष्टिकर और फलदायी है, क्योंकि यह दिव्य ज्ञान, दिव्य कर्म और दिव्य प्रेमयुक्त सुसमृद्ध सरस भक्तिके साथ-साथ हठयोग और राजयोगके गुह्य रहस्योंको भी मैदानमें चौड़े ले आता है, जो कि दिव्य जीवनको उसके सभी क्षेत्रोंमें उद्‌घाटित करानेके लिये शरीर तथा मानस तपका उपयोग है, और यह बात गीतामें केवल चलते-चलाते और किसी कदर अन्यमनस्कताके साथ ही कही गयी है। इसके अतिरिक्त इस समन्वयमें मनुष्यके भागवत पूर्णताको प्राप्त कर सकनेकी उस भावनाको अपनानेकी चेष्टा है जिसपर वैदिक ऋषि तो स्वत्व रखते थे पर पीछे बीचके कालमें जिसकी उपेक्षा ही होती गयी। अब उत्तर कालमें मानव विचार, अनुभव और अभीप्साका जो कोई समन्वय होगा उसमें निश्चय ही इस भावनाका बहुत बड़ा और महत्त्वपूर्ण स्थान है।

उत्तर कालके हम लोग उस विकासोन्नतिके नवीन युगके पुरोभागमें उपस्थित हैं जिसकी परिणति इस प्रकारके नूतन और महत्तर समन्वयमें होनेवाली है। हम लोगोंका यह काम नहीं है कि वेदांतके तीन प्रधान संप्रदायोंमेंसे किसी एक संप्रदायके या किसी एक तान्त्रिक

---

* यह बात स्मरण रहे कि समस्त पौराणिक ऐतिह्यमें जो विशिष्ट श्रीशोभासंपन्नता है वह तन्त्रोंसे ही आयी हुई है।

मतके कट्टर अनुयायी बनें या किसी प्राक्कालीन सेश्वर धर्मसंप्रदायकी लकीरके फकीर बनें अथवा गीताकी ही शिक्षाकी चहारदीवारीके अंदर अपने-आपको बंद कर लें। ऐसा करना अपने-आपको एक सीमामें बांध लेना होगा; अपनी आत्मसत्ता और आत्मसंभावनाके बदले दूसरोंकी, प्राक्कालीन लोगोंकी सत्ता, ज्ञान और स्वभावमेंसे अपना आध्यात्मिक जीवन निर्माण करनेका प्रयास करना होगा। हम अतीत उषःकालके नहीं हैं बल्कि हम भविष्यके मध्याह्न कालके हैं। नवीन साधन-सामग्रीका एक समूह-का-समूह हम लोगोंके अंदर प्रवाहित होता हुआ चला आ रहा है, हमें केवल भारतवर्षके और समस्त संसारके जो महान् आस्तिक संप्रदाय हैं उनके जो प्रभाव हम लोगोंपर पड़ रहे हैं उन्हें तथा बौद्धमतका जो खोया हुआ वास्तविक अभिप्राय फिर अपने असली रूपमें प्रकट हो रहा है उसे ही आत्मसात करना होगा यह नहीं, बल्कि आधुनिक ज्ञान और अनुसंधानके फल-स्वरूप आज जो कुछ, मर्यादित रूपमें ही क्यों न हो पर विशेष क्षमता लिये हुए, प्रत्यक्ष हुआ है उसका भी पूर्ण समीक्षण करना होगा; और, इसके अतिरिक्त सुदूर और तिथिमितिरहित भूतकाल, जो मृत जैसा दिखायी देता था अब हमारे समीप आ रहा है और उसके साथमें उन ज्योतिर्मय गुह्योंका तीव्र प्रकाश है जो मनुष्यकी चेतनासे एक जमाना हुआ लुप्त हो गया था किंतु अब जो परदेको चीरकर फिर बाहर निकल रहा है।

इन सब बातोंका पर्यालोचन करनेसे भविष्यमें होनेवाला एक नवीन, सुसमृद्ध और अति महत् समन्वय परिलक्षित होता है; भविष्य-की यह बौद्धिक और आध्यात्मिक आवश्यकता है कि अपने इन सब प्राप्त अर्थोंका फिरसे एक नवीन और अति उदार परस्पर समालिंगन-स्वरूप सामंजस्य सिद्ध हो। पर जिस प्रकार पूर्वके समन्वयोंका उपक्रम

पूर्वतर समन्वयोंसे ही हुआ, उसी प्रकार भावी समन्वयको भी, वैसा ही स्थिर और सुप्रतिष्ठ होनेके लिये, वहींसे आरंभ करना चाहिये जहां हमको पूर्वके संसिद्ध आध्यात्मिक तत्त्वविचार और अनुभवोंके बृहत् संस्थानोंने लाकर छोड़ा है। ऐसे संस्थानोंमें गीताका स्थान बहुमानास्पद है।

अस्तु! गीताके इस अध्ययनमें हमारा हेतु इसके विचारोंका पांडित्यपूर्ण या परिकल्पनात्मक पर्यालोचन करना अथवा इसके दार्शनिक सिद्धांतको आध्यात्मिक अनुसंधानके इतिहासके अंदर ले आना न होगा, न हम इसके प्रतिपाद्य विषयको तर्ककी कसौटीपर रखकर नैयायिकोंके ढंगसे ही निरूपित करेंगे। हम इसके पास आते हैं साहाय्य और प्रकाश पानेके लिये और इसलिये इसमें हमारा हेतु यही होना चाहिये कि हमें इसमेंसे इसका वास्तविक अभिप्राय और जीता-जागता संदेश मिले, वह असली चीज़ मिले जिसका ग्रहण मनुष्य-जातिके पूर्णत्व और परम आध्यात्मिक कल्याणका कारण होगा।

---

# भगवान् गुरु

संसारके अन्य सब महान् धर्मग्रंथोंकी अपेक्षा गीताकी यह विलक्षणता है कि यह स्वतः कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है; इसका निर्माण बुद्ध, ईसा या महम्मद जैसे किसी महापुरुषके आत्मिक जीवनके फल-स्वरूप नहीं हुआ है न यह वेदों और उपनिषदोंके समान किसी विशुद्ध आध्यात्मिक अनुसंधानके युगका की फल है, बल्कि यह जगत्के राष्ट्रों और उनके संग्रामों तथा मनुष्यों और उनके पराक्रमोंके ऐतिहासिक महाकाव्यके अंदर एक उपाख्यान है जिसका प्रसंग इसके एक प्रमुख पात्रके जीवनमें उपस्थित एक विकट संकट-कालसे उद्भूत हुआ है। प्रसंग यह है कि सामने वह कर्म उपस्थित है जिससे अबतकके सब कर्मोंकी सांगता और परिपूर्णता होनेवाली है; पर यह कर्म भयंकर है, अति उग्र है और खून-खराबीसे भरा हुआ है और संधिकी वह घड़ी उपस्थित हो गयी है जब उसे या तो इस कर्मसे बिलकुल हट जाना होगा या उसको उसके अवश्यंभावी कठोर अंततक पहुंचाना होगा। कई आधुनिक समालोचकोंकी यह धारणा है कि गीता महाभारतका अंग ही नहीं है, इसकी रचना पीछे हुई है और इसके रचयिताने इसको महा-भारतमें इसलिये मिला दिया कि इसको भी इस महान् राष्ट्रीय

महाकाव्यकी प्रामाण्यता और लोकप्रियता मिल जाय, किंतु यह बात ठीक है या नहीं, इससे कुछ नहीं आता-जाता। मेरे विचारमें तो यह धारणा गलत है, क्योंकि इसके विपक्षमें बड़े प्रवल प्रमाण हैं और पक्षमें भीतरी-बाहरी जो कुछ प्रमाण है वह बहुत पोचा और स्वल्प है। परंतु यदि पुष्ट और यथेष्ट प्रमाण भी हो तो भी यह तो स्पष्ट ही है कि ग्रंथकारने अपने इस ग्रंथको महाभारतकी बुनावटमें बुनकर इस तरह मिला दिया है कि इसके ताने-बाने महाभारतसे अलग नहीं किये जा सकते, यही नहीं बल्कि गीतामें ग्रंथकारने बार-बार उस प्रसंगकी याद दिलायी है जिस प्रसंगसे यह गीतोपदेश किया गया, केवल उपक्रमोपसंहारमें ही नहीं बल्कि अत्यंत गंभीर तत्त्वनिरूपणके मध्यमें भी उसीका स्मरण कराया है। ग्रंथकारका यह आग्रह ग्रहण करना ही होगा और इस गुरु-शिष्य-संवादमें गुरु और शिष्य दोनोंका ही जिस प्रसंगकी ओर बारंबार ध्यान खिंचता है उसे उसका पूर्ण महत्त्व प्रदान करना ही होगा। इसलिये गीताको सर्वसाधारण अध्यात्मशास्त्र या नीतिशास्त्रका एक ग्रंथ मान लेनेसे ही काम न चलेगा बल्कि नीतिशास्त्र और अध्यात्मशास्त्रका मानव-जीवनमें प्रत्यक्ष प्रयोग करते हुए ही व्यवहारमें जो संकट उपस्थित होता है उसे दृष्टिके सामने रखकर इस ग्रंथका विचार करना होगा। वह संकट क्या है, कुरुक्षेत्रके युद्धका आशय क्या है और अर्जुनकी अंतःसत्तापर उसका क्या असर होता है, इन बातोंको हमें पहले निश्चित कर लेना होगा, तब कहीं हम गीताके मतों और उपदेशोंमें अनुस्यूत जो केंद्रस्थ विचारधारा है उसे पकड़ सकेंगे।

यह बात तो बिलकुल स्पष्ट ही है कि कोई भी गूढ़ातिगूढ़ उपदेश किसी ऐसे सामान्य-से प्रसंगपर नहीं उक्त हुआ करता जिसके बाह्य

रूपके पीछे कोई वैसी ही गहरी भावना और भयंकर धर्मसंकट न हो और जिसका समाधान नित्यके सामान्य आचार-विचारके मानसे किया जा सकता हो। गीतामें सचमुच ही तीन बातें ऐसी हैं जो आध्यात्मिक दृष्टिसे बड़े महत्त्वकी हैं, प्रायः प्रतीकात्मक हैं और उनसे आध्यात्मिक और मानव-जीवनके मूलगत जो प्रगाढ़तम संबंध और समस्याएं हैं वे प्रत्यक्ष होती हैं। वे तीन बातें हैं—श्रीगुरुका भागवत व्यक्तित्व, उनका अपने शिष्यके साथ विशिष्ट प्रकारका संबंध और उनके उपदेश करनेका प्रसंग। श्रीगुरु स्वयं भगवान् हैं जो मानव-जातिमें अवतरित हुए हैं; शिष्य अपने कालका श्रेष्ठ व्यक्ति है, जिसे हम आधुनिक भाषामें मनुष्य-जातिका प्रतिनिधि कह सकते हैं, और जो इस अवतारका अंतरंग सखा और चुना हुआ यंत्र है, एक विशाल कार्य और संग्राममें प्रमुख पात्र है जिसका रहस्यमय उद्देश्य उस रंगभूमिके पात्रोंको ज्ञात नहीं, ज्ञात है केवल उन मनुष्यशरीरधारी भगवान्को जो अपने ज्ञानमय अथाह मानसके पीछे छिपे हुए यह सारा कार्य चला रहे हैं; और प्रसंग है इस कार्य और संग्राममें उपस्थित अति विकट भीषण परिस्थिति-की वह घड़ी जिसमें इसकी बाह्य गतिका आतंक और धर्म-संकट तथा अंध-प्रचंडता इस आदर्शभूत व्यक्तिके मानसपर प्रत्यक्ष होकर उसको सिरसे पैरतक हिला देती है और वह सोचने लगता है कि आखिर इसका अभिप्राय क्या है, क्या आशय है जगदीश्वरका इस जगत्से, इसका क्या लक्ष्य है, यह किधर जा रहा है और मानव जीवन और कर्मका ही क्या मतलब है।

भारतवर्षमें प्राचीन कालसे ही बड़े दृढ़ विश्वासके साथ यह मान्यता चली आयी है कि भगवान् वास्तवमें अवतार लिया करते हैं, अरूपसे रूपमें अवतरित हुआ करते हैं, मनुष्य-रूपमें मनुष्योंके सामने

प्रकट हुआ करते हैं। पश्चिमी देशोंमें यह विश्वास लोगोंके मनपर कभी यथार्थ रूपसे जमा ही नहीं, क्योंकि लौकिक ईसाई धर्ममें इस भावका एक ऐसे धार्मिक मत-विशेषके रूपमें ही प्रतिपादन किया गया है जिसका युक्ति, सर्वसाधारण चेतना और जीवन-व्यवहारसे मानो कोई मूलगत संबंध ही न हो। परन्तु भारतवर्षमें वेदांत-की शिक्षा होनेसे यह विश्वास बराबर बढ़ता और जमता ही गया है और इस देशके लोगोंकी चेतनामें ही बद्धमूल हो गया है। यह सारा चराचर जगत् भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति है, कारण भगवान् ही एकमात्र हैं जो हैं और बाकी सब कुछ उन्हीं एकमात्र सत्‌का या तो सत् और नहीं तो असत् रूप है। इसलिये प्रत्येक जीव और कुछ नहीं है बल्कि यह किसी-न-किसी अंशमें या किसी-न-किसी विधिसे उन्हीं एक अनंतका नामरूपात्मक बाह्य सांतमें अवतरण मात्र है। परंतु यह योगमायासमावृत प्राकट्य है; और भगवान्‌का जो पर भाव है तथा सांत रूपमें जीवकी यह जो पूर्णतः अथवा अंशतः अविद्या-च्छन्न चेतना है, इन दोनोंके बीचमें चेतनाका चढ़ता-उतरता हुआ क्रम लगा है। देहमें रहनेवाला चिन्मय आत्मा जिसे देही कहते हैं, भग-वदग्निका स्फुलिंग है और मनुष्यके अंदर रहनेवाला यह आत्मा जैसे-जैसे आत्मविषयक अपने अज्ञानसे बाहर निकलकर अपनी आत्म-सत्तामें विकसित होता जाता है वैसे-वैसे वह स्वात्म-ज्ञानमें बढ़ने लगता है। भगवान् भी इस विश्व-जीवनके नानाविध रूपोंमें अपने-आपको ढालते हुए, सामान्यतः, इसकी शक्तियोंके उत्कर्षमें, इसके ज्ञान, प्रेम, आनंद और विभूतिकी तेजस्विता और विपुलतामें, अपनी दिव्यताकी कलाओं और रूपोंमें आविर्भूत हुआ करते हैं। परंतु जब भागवत चेतना और शक्ति मनुष्यके रूपको तथा कर्मकी मानव-प्रणालीको अपने-आपपर ले

लेती है, और इसपर वह अपना स्वत्व केवल शक्तिमत्ता और विपुलता-द्वारा अथवा अपनी कलाओं और बाह्य रूपोंद्वारा ही नहीं रखती, बल्कि अपने शाश्वत ज्ञानके साथ रखती है, जब वे अजन्मा अपने-आपको जानते हुए मानव मन-प्राण-शरीर धारणकर, मानव-जन्मका जामा पहनकर कर्म करते हैं तब वह देशकालके अंदर भगवान्‌के प्रकट होने-की पराकाष्ठा है; वही भगवान्‌का पूर्ण और चिन्मय अवतरण है, उसीको अवतार कहते हैं।

वेदांतके वैष्णव संप्रदायमें इस सिद्धांतकी बड़ी मान्यता है और वहां मनुष्यमें रहनेवाले भगवान् और भगवान्‌में रहनेवाले मनुष्यका जो परस्पर संबंध है वह नर-नारायणके द्विविध रूपसे परिदर्शित किया गया है; इतिहासकी दृष्टिसे नर-नारायण एक ऐसे धर्म-संप्रदायके प्रवर्तक माने जाते हैं जिसके सिद्धांत और उपदेश गीताके सिद्धांतों और उपदेशोंसे बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। नर मानव-आत्मा है, भगवान्‌का चिरंतन सखा है जो अपने स्वरूपको तभी प्राप्त होता है जब वह इस सखा-भावमें जागृत होता है, तब यह जैसा कि गीतामें कहा है, उन भगवान्‌में निवास करने लगता है। नारायण मानव-जातिमें सदा वर्तमान भागवत आत्मा हैं, वे सर्वांतर्यामी हैं, मानव-जीवके सखा और सहायक हैं, ये वे हैं जिनको गीताने कहा है "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति"। हृद्देशके इस गूढ़ाशयके ऊपरसे जब आवरण हटा लिया जाता है और ईश्वरका साक्षात् दर्शन कर यह उनसे प्रत्यक्ष संभाषण करता है, उनके दिव्य शब्द सुनता है, उनकी दिव्य ज्योति ग्रहण करता और उनकी दिव्य शक्तिसे युक्त होकर कर्म करता है तब इस देहेंद्रिय संयुक्त सचेतन मानव-जीवका परमोद्धार होकर उस अज अविनाशी शाश्वत स्वरूपको प्राप्त होना संभव होता है। तब वह भगवान्‌में निवास और सर्वभाव-

से भगवान्में आत्मसमर्पण करने योग्य होता है जिसे गीताने "उत्तमं रहस्यं" माना है। जब यह शाश्वत दिव्य चेतना जो मानव-प्राणिमात्रमें सदा विद्यमान है अर्थात् नरमें विराजनेवाले ये नारायण भगवान् जब इस मानव-चैतन्यको अंशतः* या पूर्णतः अधिकृत कर लेते और दृश्यमान मानव-रूपमें जगद्गुरु, आचार्य या जगन्नेता होकर प्रकट होते हैं तब यह उनका प्रत्यक्ष अवतार कहा जाता है। यह उन आचार्यों या नेताओं-की बात नहीं है जो सब प्रकारसे हैं तो मनुष्य ही पर कुछ ऐसा भी अनुभव करते हैं कि दिव्य प्रज्ञाकी ही शक्ति, ज्योति या भक्ति उनका पोषण कर रही है और उनके द्वारा सब कार्य करा रही है, बल्कि यह उन मानव-तनुधारीकी बात है जो साक्षात् उस दिव्य प्रज्ञासे, सीधे उस केंद्रीभूत शक्ति और पूर्णतासे पोषित और परिचालित होते हैं। मनुष्य-के अंदर जो भगवान् हैं वही नरमें नारायणका सनातन अवतार है; और नरमें जो यह अभिव्यक्ति है वही है बहिर्जगत्में उनका चिह्न और विकास।

इस प्रकार जब अवतार-तत्त्व हमारी समझमें आ जाता है तब हमें यह दिखायी देता है कि चाहे गीताकी मूलगत शिक्षा,—जिसको जानना ही हमारा प्रस्तुत विषय है,—की दृष्टिसे हो या आम तौरपर आध्यात्मिक जीवनकी दृष्टिसे हो, इस ग्रंथके बाह्य पहलूका महत्त्व गौण ही है। यूरोपमें ईसाकी ऐतिहासिकतापर जैसा वाद-विवाद चलता है वैसा वाद-विवाद, अध्यात्मचेता भारतवर्षके विचारमें, समयका प्रायः दुरुपयोग ही है; ऐसे वाद-विवादको वह ऐतिहासिक दृष्टिसे तो बड़ा

---

* नवद्वीपके अवतार श्रीचैतन्यके विषयमें यह कहा गया है कि वे अंशतः या कभी-कभी भागवत चैतन्य और चिच्छक्तिके द्वारा अधिकृत हो जाते थे।

महत्त्व देगा, पर उसकी दृष्टिमें इसका कोई धार्मिक महत्त्व नहीं है, क्योंकि ईसा नामक कोई मनुष्य युसुफ नामके किसी बढ़ईके पुत्र-रूपसे नजरथ या बेथलहममें पैदा हुए, रहे, पढ़े और राजद्रोहके किसी सच्चे या बनावटी अपराधमें मृत्युदंडसे दंडित हुए या नहीं, इन बातोंसे आखिर क्या आता-जाता है जब कि हम आध्यात्मिक अनुभवसे अपने अंतःस्थित ईसाको जान सकते हैं और ऊर्ध्व चेतनामें ऊपर उठकर उनकी शिक्षाकी ज्योतिमें निवास कर सकते हैं और भगवत्प्रीत्यर्थ अपने चित्तको उस प्रायश्चित्तके द्वारा जिसका कि क्रास बाह्य चिह्न है, शुद्ध करके दुरत्यय प्रकृति-विधानके दासत्वसे मुक्त हो सकते हैं? ईसा अर्थात् मनुष्य रूपको प्राप्त ईश्वर यदि हमारे अध्यात्मभावमें स्थित हैं तो मेरीके कोई पुत्र जूडियामें शरीरतः रहे हों, कष्ट झेले हों और अपने प्राणोंको न्योछावर किया हो या नहीं इससे प्रायः कुछ भी नहीं आता-जाता। इसी प्रकार जिन श्रीकृष्णसे अपना मतलब है वे श्रीभगवान्के शाश्वत अवतार हैं, कोई ऐतिहासिक गुरु या मनुष्योंके नेता नहीं।

इसलिये गीतोपदेशके सारतत्त्वको ग्रहण करनेके लिये हमें महाभारतके उन मानवरूप भगवान् श्रीकृष्णके केवल आध्यात्मिक मर्मके साथ ही मतलब रखना चाहिये जो इस कुरुक्षेत्रकी संग्रामभूमिमें हमारे सामने अर्जुनके गुरु-रूपमें अवस्थित हैं। ऐतिहासिक श्रीकृष्ण भी थे, इसमें कोई संदेह नहीं। छान्दोग्य उपनिषत्में, पहले-पहल, यह नाम आता है और वहां इनके बारेमें जो कुछ मालूम होता है वह इतना ही है कि आध्यात्मिक परंपरामें ब्रह्मवेत्ताके रूपमें उनका नाम सुप्रसिद्ध था, उनका व्यक्तित्व और उनका इतिवृत्त लोगोंमें इतना प्रसिद्ध था कि केवल "देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण" कहनेसे ही लोग यह जान जाते थे कि किसकी चर्चा हो रही है। इसी उपनिषत्में विचित्र-

वीर्यके पुत्र राजा धृतराष्ट्रका भी नामोल्लेख है। और चूँकि यह परंपरा इन दोनों नामोंको महाभारत-कालमें भी इतने निकट संपर्कमें चलाये चली है, कारण ये दोनों-के-दोनों ही महाभारतके प्रमुख व्यक्ति हैं, इसलिये हम इस निर्णयपर भली प्रकार पहुँच सकते हैं कि ये दोनों वास्तवमें समकालीन थे और यह कि इस महाकाव्यमें बहुत करके ऐतिहासिक व्यक्तियोंकी ही चर्चा हुई है और कुरुक्षेत्रके संबंधमें किसी ऐसी ऐतिहासिक घटनाका ही उल्लेख है जिसकी छाप इस जातिके स्मृतिपटपर अच्छी तरह पड़ी हुई थी। यह बात भी ज्ञात है कि ईसाका जन्म होनेसे पहलेकी शताब्दियोंमें श्रीकृष्ण और अर्जुन देवता-रूपसे पूजे जाते थे; और ऐसा मान लेनेका कुछ कारण है कि यह किसी धार्मिक या दार्शनिक परंपराके कारण ही होता होगा, जहांसे ही गीताने अपने बहुतसे तत्त्वोंको, यहांतक कि उसके ज्ञान, कर्म और भक्तिके समन्वयकी भित्तिको भी लिया होगा, और शायद यह भी माना जा सकता है कि ये मानव श्रीकृष्ण ही इस संप्रदायके प्रवर्तक, पुनःसंस्थापक या कम-से-कम कोई पूर्वाचार्य रहे हों। इसलिये गीताका बाह्य रूप पीछे चाहे कुछ बदला भी हो तो भी यह है भारतीय विचारधाराके रूपमें श्रीकृष्णके ही उपदेशका फल, और इस उपदेशका ऐतिहासिक श्रीकृष्णके साथ तथा अर्जुन और कुरुक्षेत्रके युद्धके साथ संबंध केवल कविकी कोई कल्पना ही नहीं है। महाभारतमें श्रीकृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और अवतार भी; इनकी उपासना और इनके अवतार होनेकी मान्यता देशमें उस समयतक प्रस्थापित हो चुकी थी जब कि (आपाततः ईसाके पूर्व पांचवीं और प्रथम शताब्दीके बीचमें) भारतवंशकी प्राचीन कहानियों, कविताओं और महाकाव्य परंपराने महाभारतका रूप धारण किया। इस काव्य-कथा या किंवदंतीमें अवतारकी बाल-वृंदावन-लीलाका भी

कथंचित् संकेत है जिसे पुराणोंने इतने प्रबल और सतेज आध्यात्मिक प्रतीकके रूपमें वर्णन किया है कि उसका भारतकी धार्मिक मन-बुद्धिपर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। हरिवंशमें श्रीकृष्णकी लीलाका वर्णन है, इसमें स्पष्ट ही प्रायः कल्पित कथाएं ही भरी हुई हैं और शायद इसीके आधारपर सब पौराणिक वर्णन हैं।

परंतु इतिहासकी दृष्टिसे इन सबका अत्यधिक महत्त्व होनेपर भी हमारे प्रस्तुत विषयके लिये इनका कुछ भी उपयोग नहीं है। हमारा तो यहां केवल भगवान् गुरुके उस रूपसे मतलब है जिसको गीताने हमारे सामने रखा है और मानव-जीवको आध्यात्मिक प्रकाश देनेवाली उस शक्तिसे मतलब है जिसको देनेके लिये ये गुरु आये हैं। मानव-रूपमें श्रीभगवान्‌के अवतार लेनेके सिद्धांतको गीता मानती है; क्योंकि भगवान् गीतामें मानवरूपमें बारंबार युग-युगमें प्रकट होनेकी बात कहते हैं*। यह प्राकट्य तब होता है जब कि वे शाश्वत अजन्मा अपनी मायाके द्वारा, अपनी अनंत चिच्छक्तिके द्वारा आपाततः सांत रूपोंका जामा पहनकर भूत प्राणीकी अवस्थाओंको—जिसको हम जन्म कहते हैं—धारण करते हैं। परंतु गीतामें भगवान्‌के इस रूपपर नहीं, बल्कि परात्पर, विराट और आंतरिक रूपपर जोर दिया गया है, वे जो समस्त वस्तुओंके उद्गम हैं, सबके स्वामी हैं और मनुष्यके हृदयमें वास करते हैं। इन्हीं अंतःस्थित भगवान्‌से ही वहां मतलब है जहां गीतामें उग्र आसुर तपके करनेवालोंके विषयमें यह कहा गया है कि ये "अन्तःशरीरस्थं मां" मुझ भगवान्‌को कष्ट देते हैं या जहां यह कहा गया है कि ये असुर "मानुषीं तनुमाश्रितं मां" मनुष्य-शरीरमें रहनेवाले मुझसे द्वेष करके पाप करते हैं अथवा जहां यह कहा गया है कि इनके अज्ञान-

* बहूनि मे व्यतीतानि...........संभवामि युगे युगे।

तमको "प्रज्वलित ज्ञानदीपके द्वारा" मैं "नष्ट कर देता हूँ" (नाशयामि ज्ञानदीपेन भास्वता)। अतएव ये सनातन अवतार, मानव-जीवमें सदा वर्तमान रहनेवाला यह चैतन्य, मनुष्यमें रहनेवाले ये भगवान् ही प्रत्यक्ष प्रकट होकर गीतामें मानव-आत्मासे बोल रहे हैं, उसको जीवनके आशयका और भागवत कर्मके गुह्यका बोध दे रहे हैं, और दे रहे हैं भागवत ज्ञान और जगदीश्वरके आश्वासक और बलदायक शब्द और कर रहे हैं उसका पथ-प्रदर्शन, और यह सब उस कालमें हुआ है जब-कि मानव-आत्मा जगत्के दुःखमय रहस्यके आमने-सामने आ पड़ा है। यही वह है जिसे भारतकी धार्मिक चेतना अपने समीप ले आनेका प्रयत्न करती है, फिर चाहे उसका रूप कुछ भी क्यों न हो, चाहे वह रूप मंदिरोंमें स्थापित प्रतीकात्मक मानव-आकारकी मूर्ति हो अथवा अवतारोंकी उपासना हो या उस एक जगद्गुरुकी वाणीको सुनानेवाले गुरुकी भक्ति हो। इन सबके द्वारा वह उस आंतरिक वाणीके प्रति जागृत होनेकी चेष्टा करती है, उस [illegible] अनावृत करती है और उस अभिव्यक्त भागवत शक्ति, प्रेम और ज्ञानके आमने-सामने आ जाती है।

दूसरी बात यह है कि इस मानव श्रीकृष्णका एक आदर्शात्मक, प्रायः प्रतीकात्मक मूल्य है, जो इस महाभारतके महान् कर्मके पीछे खड़े हैं, नायक-रूपसे नहीं, बल्कि उसके गुप्त केंद्र और अप्रकट पथ-प्रदर्शकके रूपमें। यह कर्म एक विराट् कर्म है जिसमें मनुष्यों और राष्ट्रोंका सारा-का-सारा संसार सम्मिलित है, इनमें कुछ लोग और राष्ट्र ऐसे हैं जो केवल इस कर्म और इसके परिणामोंके सहायकके रूपमें ही आते हैं, जिनका अपना कोई स्थान नहीं है, श्रीकृष्ण इनके केंद्र हैं; कुछ लोग ऐसे हैं जो इस कर्मके विरोधी हैं और उनके, श्रीकृष्णके भी विरोधी हैं, उनके कार्य-

को उलटानेवाले और उनका संहार करनेवाले हैं; और कुछ लोग तो यहां तक समझते हैं कि इस सारे अनर्थके मूल श्रीकृष्ण हैं, जो पुरानी व्यवस्था, सुपरिचित जगत् और पुण्य और धर्मकी सुरक्षित परंपराको मिटाये दे रहे हैं; इनमें फिर कुछ लोग ऐसे हैं जिनके द्वारा यह कर्म सिद्ध होनेवाला है और श्रीकृष्ण उनके उपदेष्टा, सहायक और सुहृद् हैं। जहां यह कर्म अपनी प्राकृतिक गतिसे हो रहा है और इस कर्मके करनेवालों-को उसके शत्रुओंसे पीड़ा पहुँचती और उन्हें उन अग्निपरीक्षाओंको पार करना पड़ता है जो उनको प्रभुत्व लाभ करनेके लिये तैयार करती है वहां अवतार अप्रकट हैं अथवा प्रसंग-विशेषपर उतनी ही सांत्वना और सहायता भरके लिये आन प्रकट होते हैं, किंतु प्रत्येक संकटमें उनके सहायक हाथोंका अनुभव होता है, फिर भी यह अनुभव इतना हलका है कि इस विराट कर्मके सभी कर्त्ता अपने-आपको ही कर्त्ता मानते हैं और अर्जुन भी, जो उनका अति प्रिय सखा और उनके हाथका मुख्य यंत्र या उपकरण है वह भी, यह अनुभव नहीं करता कि मैं उपकरण हूँ और उसे यह बात अंतमें स्वीकार करनी पड़ती है कि अबतक मैंने अपने सखा सुहृद् भगवान्‌को सचमुचमें जाना ही नहीं था। अर्जुनको उनके ज्ञानसे बराबर मंत्रणा मिलती रही, उनकी शक्तिसे सहायता भी मिलती रही, अर्जुन उन्हें प्यार करता रहा और उनसे प्यार पाता भी रहा, अवतारके भगवत्स्वरूपको जाने बिना अर्जुन उन्हें पूजता भी रहा; पर यह सब और सब लोगोंकी तरह अर्जुनके अहंकारमेंसे ही होकर होता रहा और अर्जुनको जो मंत्रणा, सहायता और आदेश दिया गया वह अज्ञानकी ही भाषामें दिया गया और अर्जुनने उसे अज्ञानके विचारोंके द्वारा ही ग्रहण किया। और यह सब उस समयतक चलता रहा जबतक कि सब कुछ कुरुक्षेत्रके मैदानमें इस संघर्षकी भीषण

अवस्थाको प्राप्त नहीं हुआ, और तब अवतार सामने आये, अभी भी योद्धा बनकर नहीं, बल्कि युद्धकी भवितव्यताको वहन करनेवाले रथके ऊपर विराजमान सारथी बनकर ; तबतक उन्होंने अपने स्वरूपको अपने चुने हुए उपकरणोंके आगे भी प्रकट नहीं किया।

इस प्रकार श्रीकृष्ण यहां मनुष्योंके साथ भगवान्‌के व्यवहारोंके ही प्रतीक होकर उपस्थित हैं। इस जगत्‌में हम लोगोंके द्वारा जो संपूर्ण कर्म कराया जाता है वह हम लोगोंके अहंकार और अज्ञानके रास्तेसे ही कराया जाता है और हम लोग यह समझते हैं कि हम ही अपने सब कर्मोंके कर्त्ता हैं, और इनका जो कुछ फल होता है उसके हम ही असली कारण हैं ऐसा समझकर हम अपने लिये गर्व करते रहते हैं, पर यथार्थमें जो चीज हमसे यह सब कराती है वह कुछ और ही है और उसे हम लोग यदा-कदा प्रसंगवशात् ही ज्ञान, अभीप्सा और शक्तिके किसी अस्पष्ट स्रोतके रूपमें या फिर किसी मानव और पार्थिव स्रोतके रूपमें भी देख पाते हैं या किसी सिद्धांत या प्रकाश या सामर्थ्यके रूपमें भी जानते और मानते हैं और उसके वास्तविक रूपको जाने बिना ही उसे पूजते भी हैं; वह चीज वास्तवमें क्या है यह हमें तबतक नहीं मालूम होता जबतक वह प्रसंग नहीं उपस्थित होता जो हमें बलात् इस रहस्यके सामने लाकर खड़ा कर दे। भगवान् श्रीकृष्ण मानव-जीवनके समस्त विशाल कर्मके अंदर क्रियाशील हैं, केवल उसके आभ्यंतर जीवनमें ही नहीं बल्कि जगत्‌के इस सारे अज्ञान अंधकारमय क्रमके अंदर भी, जिसका निर्णय हम अपनी बुद्धिके उतनेसे टिमटिमाते हुए प्रकाशमें ही करते हैं जितना कि हमारी अनिश्चित अग्रगतिके आगे यह एक छोटेसे दायरेको अस्पष्ट रूपसे खोलकर दिखा देती है। गीताकी यही विशेषता है कि यह ऐसे ही एक कर्मका पर्यवसान है, उसीसे

गीतोक्त उपदेशका प्रादुर्भाव हुआ है और उसीसे गीतोक्त कर्म-सिद्धांत-को इतना महत्त्व प्राप्त हुआ और उसका इतना सुस्पष्ट और जोरदार प्रतिपादन हुआ है कि वैसा अन्य किसी भी भारतीय धर्मग्रंथमें नहीं देख पड़ता। केवल गीतामें ही नहीं, महाभारतके अन्य स्थानोंमें भी श्रीकृष्णने कर्मकी आवश्यकताकी बड़े जोरके साथ घोषणा की है; पर उसका रहस्य और हमारे कर्मोंके पीछे छिपी हुई दिव्य सत्ता तो गीतामें ही प्रकट की गयी है।

अर्जुन और श्रीकृष्णके अर्थात् मानव-आत्मा और भागवत-आत्माके सख्यका रूपक अन्य भारतीय ग्रंथोंमें भी वर्णित है, जैसे एक स्थानमें यह वर्णन है कि इंद्र और कुत्स एक ही रथपर बैठे हुए स्वर्गकी ओर यात्रा कर रहे हैं, जैसे उपनिषदोंमें दो पक्षी एक ही वृक्षपर बैठे हुए मिलते हैं, अथवा जैसे यह वर्णन आता है कि नर-नारायण ऋषि ज्ञानार्थ एक साथ तपस्या कर रहे हैं। पर इन तीनों ही उदाहरणोंमें वह ज्ञान ही लक्ष्य है जिसमें, जैसा कि गीताने कहा है, "सारा कर्म परिसमाप्त होता है"; परंतु यहां गीतामें वह कर्म लक्ष्य है जो उस ज्ञानको प्राप्त कराता है और जिसमें ज्ञाता भगवान् ही कर्मके कर्त्ता बनकर सामने आते हैं। यहां अर्जुन और श्रीकृष्ण, अर्थात् मनुष्य और भगवान् ऋषि-मुनियोंके समान किसी तापस आश्रममें ध्यान करने नहीं बैठे हैं, बल्कि रणभेरियोंके तुमुल निनादसे आकुल समरभूमिमें शस्त्रोंकी खनखनाहटके बीच युद्धके रथपर रथी और सारथीके रूपमें विद्यमान हैं। अतएव गीताके उपदेष्टा गुरु केवल मनुष्यके वे अंतर्यामी ईश्वर ही नहीं हैं जो केवल ज्ञानके वक्ताके रूपमें ही प्रकट होते हों बल्कि मनुष्यके वे अंतर्यामी ईश्वर हैं जो सारे कर्म-जगत्के संचालक हैं, जिनसे और जिनके लिये समस्त मानव-जातिकी स्थिति है, जिनसे और

भगवान् गुरु

जिनके लिये ही वह संघर्ष और श्रम कर रही है और जिनकी ओर ही समस्त मानव-जीवन यात्रा कर रहा है। वे सब कर्मों और यज्ञोंके छिपे हुए स्वामी हैं और सबके सुहृद् हैं।

---

है, इसलिये इसकी स्पष्ट भाषा और सुस्पष्ट विचारोंको एक ओर धरकर अपने मनके अनुसार तोड़-मरोड़कर उनका अर्थ लगाना ठीक नहीं। परंतु इस विचारमें इतना-सा सत्य तो है ही कि गीताकी शिक्षाको जितने सुंदर ढंगसे यहां बैठाया गया है वह यदि प्रतीकात्मक न भी हो तो भी उसको एक विशिष्ट प्रकारका नमूना अवश्य ही कहा जा सकता है, और वास्तवमें गीता जैसे ग्रंथकी शिक्षाको इसी प्रकार बैठाना ही चाहिये नहीं तो यह जो कुछ रचना कर रही है उसके साथ इसका कोई संबंध ही न रह जाय। यहां अर्जुन एक महान् जगत्व्यापी संघर्षमें राष्ट्रों और मनुष्योंके भगवत्परिचालित कर्मको करनेवाला एक प्रतिनिधि-पुरुष है; गीतामें यह उस कर्मनिष्ठ मानव-जीवका नमूना है जो अपने कर्मके द्वारा कर्मके उस उत्कट और अति भीषण संकटके समय इस समस्याके सामने आ पड़ा है कि मनुष्यके जीवनमें और आत्मस्थितिमें, यहांतक कि पूर्णतासंबंधी शुद्ध नैतिक आदर्शमें भी आपाततः जो यह असंगति दिखायी देती है वह आखिर क्या बात है।

अर्जुन इस युद्धमें रथी है और भगवान् श्रीकृष्ण उसके सारथी। वेदमें भी एक जगह यह वर्णन आता है कि मानव-आत्मा और देव एक रथपर बैठे लड़ाई लड़ते हुए किसी महान् गंतव्य स्थानकी ओर जा रहे हैं। पर वहां वह वर्णन केवल आलंकारिक है, रूपक है। देव वहां इंद्र हैं जो ज्योतिर्लोक और अमृतके स्वामी हैं, दिव्य ज्ञानकी शक्ति हैं और वे असत्य, तमस, परिछिन्नता और मृत्युके संतानों-के साथ युद्ध करनेवाले सत्यान्वेषी मनुष्योंकी सहायताके लिये नीचे अवतरित होते हैं; युद्ध आत्माके शत्रुओंके साथ है जो हमारी सत्ताके उच्चतर लोकका रास्ता रोके हुए हैं; और गंतव्य स्थान है वह बृहत् लोक जो परम सत्यके आलोकसे आलोकित है और जो सिद्ध आत्माके चिन्मय

अमृतत्वका धाम है, जहांके इंद्र स्वामी हैं। मानव-आत्मा कुत्स है, वह अपने कुत्स नामके अनुरूप सतत साक्षी चैतन्यके ज्ञानका साधक है; वह अर्जुन या अर्जुनीका पुत्र है, शुक्र है, शुक्र माता श्वित्राका शिशु है, अर्थात् ऐसा सात्विक विशुद्ध और प्रकाशमय अन्तःकरणवाला जीव है कि जो दिव्य ज्ञानकी अटूट गरिमा-महिमाकी ओर सदा उन्मुख है। और जब रथ अपने गंतव्य स्थानको पहुँचता है अर्थात् इंद्रके अपने लोकमें, तब मानव कुत्स उन्नत होते-होते अपने देव सखाके साथ इतना सादृश्य लाभ करता है कि कौन इंद्र है और कौन कुत्स, इसकी पहचान इंद्रकी अर्द्धांगिनी शचीके कारण ही हो पाती है, क्योंकि शची "ऋत-प्रज्ञा" है। यह रूपक स्पष्ट ही मनुष्यके आंतरिक जीवनका है; ज्ञानका प्रकाश जैसे-जैसे बढ़ता है वैसे-वैसे मनुष्य सनातन भगवान्का सादृश्य लाभ करता है, यही बात इस रूपकके द्वारा दिखायी गयी है। परंतु गीताका उपक्रम कर्मसे होता है और अर्जुन कर्मी है, ज्ञानी नहीं, योद्धा है, ऋषि-मुनि या तत्त्व-जिज्ञासु नहीं।

गीतामें आरंभसे ही शिष्यकी यह विशिष्ट मनोभूमि स्पष्ट करके बतला दी गयी है और अथसे अंततक इसका पूर्ण निर्वाह हुआ है। सबसे पहले उसकी यह विशिष्ट मनोभूमि प्रकट होती है उसको अपने कार्यके संबंधमें, अर्थात् जिस महान् संहार-कार्यका वह प्रधान यंत्र बनने जा रहा है उसके संबंधमें जिस ढंगसे जोश आया है उसमें, इस जोशके आते ही जो विचार उसके जीमें उठते हैं उनमें और जिनके कारण उसमें इस महाभयानक विपत्तिसे पश्चात्पद होनेकी इच्छा होती है वैसे उसके दृष्टिकोण और प्रेरक-भावमें। ये विचार, यह दृष्टिकोण और ये प्रेरक-भाव किसी दार्शनिक या किसी गंभीर विचारशील व्यक्तिके अथवा इस प्रसंगमें या वैसे ही किसी अन्य प्रसंगके सम्मुख आ पड़े हुए किसी

आध्यात्मिक वृत्तिवाले पुरुषके नहीं हो सकते। इनको हम व्यावहारिक या मतविशेषमें विश्वास रखनेवाले मनुष्यकी उपज कह सकते हैं, वैसे मनुष्यकी जो भावुक है, रागद्वेषयुत है, नैतिक है और चतुर है, जिसे किसी गंभीर और मौलिक भावको पकड़ने अथवा किसी गहराईकी थाह लेनेका अभ्यास नहीं, अभ्यास है ऊंचे पर बंधे-बंधाये विचारोंको सोचने और वैसे ही कर्मको करनेका तथा संकटों और कठिनाइयोंको विश्वास-पूर्वक पार करनेका, किंतु अब वह यह पाता है कि उसके सारे-के-सारे पैमाने उसके काम नहीं आ रहे हैं तथा उसको अपनेमें और अपने जीवनमें जो विश्वास था वह लहरके एक ही झोंकेमें बहा जा रहा है। अर्जुनके सामने जो संकट-काल उपस्थित है वह ऐसा है।

गीताकी भाषामें अर्जुन त्रिगुणके अधीन है और त्रिगुणके इसी क्षेत्रमें अबतक वह निश्चिंत होकर चला है जैसे कि सब लोग होते और चलते हैं। उसका नाम अर्जुन इतने ही अंशमें चरितार्थ है कि वह यहांतक शुचि और सात्विक है कि उसका जीवन ऊंचे और स्पष्ट सिद्धांतों और आवेगोंसे परिचालित होता है और वह स्वभावतः अपनी निम्न प्रकृतिको उस महत्तम धर्मके अधीन रखता है जिसको वह जानता है। वह उद्दंड आसुरी प्रवृत्तिवाला पुरुष नहीं है, अपने मनोविकारोंका दास नहीं है, प्रत्युत शांत, दांत, कर्तव्यनिष्ठ है, देशकालमान्य उत्कृष्ट मर्यादाओंका, जिनमें उसका जीवन बीता है, तथा जिस धर्म और सदाचारके अंदर वह पला है उनका पालन करनेवाला है। पर अन्य मनुष्योंके समान उसमें भी अहंकार है, उसका अहंकार अवश्य ही शुद्ध-तर और सात्विक अहंकार है जो मुख्यतः अपने ही स्वार्थों, वासनाओं और मनोविकारोंके दासत्वमें धंसा न रहकर धर्म, समाज और दूसरोंके हितका भी विचार रखता है। शास्त्रोंके अनुसार ही वह रहा और

चला है। उसके चित्तमें जो सबसे प्रधान भाव या विचार है, मनुष्यके जिस मानदंडके अनुसार वह चलता है वह है धर्म, अर्थात् सामूहिक भारतीय धारणाके अनुसार मानव-जातिका परिचालन करनेवाला धार्मिक सामाजिक और नैतिक नियम, विशेपकर स्वजातिधर्म अर्थात् क्षात्रधर्म, क्योंकि वह क्षत्रिय है, धीर वीर उदार राजपुत्र है, योद्धा है, आर्योंका नेता है। इसी क्षात्रधर्मके अनुसार सदा पुण्यमार्गपर चलता हुआ वह यहांतक आया है और अब यहां आकर अकस्मात् वह यह देखता है कि इसने उसको एक अति भीपण, अभूतपूर्व संहार-कर्मके सामने, उस कार्यके प्रमुख पात्र रूपसे ला पटका है, ऐसे भयानक गृहयुद्धके सामने ला पटका है जिसमें सभी सुसंस्कृत आर्यराष्ट्र सम्मिलित हैं और उसमें उनके समस्त मानवमुकुटमणि नष्ट हो जायंगे और भय है कि उनकी व्यवस्थित सभ्यतामें विशृंखला छा जायगी और वह विनाशको प्राप्त हो जायगी।

फिर अर्जुनका कर्मी होना इस बातसे भी सिद्ध होता है कि वह अपने संवेदनोंके द्वारा ही अपने कर्मके आशयके प्रति सचेत होता है। अर्जुनने अपने सखा और सारथीसे कहा, मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीच ले चलिये, किसी गंभीर भावनासे नहीं बल्कि दर्पके साथ उन करोड़ों मनुष्योंका मुंह एक निगाह देख लेनेके लिये जो अधर्मका पक्ष लेकर यहां आये थे और जिनका अर्जुनको इस रणरंगमें सामना करना है, जिन्हें जीतना और मारना है इसलिये कि धर्मकी विजय हो। परंतु इस दृश्यको देखनेके साथ ही उसकी आंख खुलती है और इस गृहकलह और पारस्परिक युद्धका अर्थ उसकी समझमें आता है—यह वह युद्ध है जिसमें एक ही जाति, एक ही राष्ट्र, एक ही वंश नहीं, बल्कि एक ही कुल और एक ही घरके लोग एक-दूसरेके शत्रु बने आमने-सामने

खड़े हैं। जिन लोगोंको यह सामाजिक मनुष्य परम प्रिय और
मानता है उन्हीं सब लोगोंका उसे शत्रुके नाते सामना करना और
करना होगा, पूज्यपाद गुरु और आचार्य, पुराने संगी, साथी,
सहयोद्धा, दादा, चाचा, और वे लोग जो रिश्ते में पिताके स
पुत्रके समान, पौत्रके समान हैं, वे लोग जिनके साथ रक्तका सं
या जो साले-संबंधी हैं,—ये सब संबंध यहां तलवारके घाट उतार
हैं। इन बातोंको अर्जुन पहले न जानता हो सो नहीं, पर इनका उ
अनुभव नहीं हुआ था, क्योंकि उसको तो अपने दावोंकी, उनप
अत्याचार हुए थे उनकी, उसके जीवनके जो सिद्धांत थे उनकी
न्यायके लिये लड़ना होगा, न्याय और धर्मकी रक्षा करनी होगी
अधर्म और अत्याचारसे युद्ध करके उनको मार भगाना होगा इन
बातोंकी धुन सवार थी और इसलिये उसने इस युद्धके इस पहलू
तो कभी गहराईके साथ सोचा न अपने हृदयके अंतस्तलमें अनुभव
किया। यह बात अब उसकी अंतःदृष्टिके सामने भगवान्-सारथ
आते हैं, उसकी आंखोंके आगे सनसनीखेज तरीकेसे उपस्थित कर
और इससे उसकी संवेदनात्मक, प्राणमय और भावमय सत्ताके
स्थानोंमें एक गहरा धक्कासा लगता है।

इसका पहला परिणाम यह होता है कि उसकी इंद्रियां
उसका शरीर भयानक संकटमें पड़ जाते हैं, जिससे उपस्थित कर्म
उसके वैषयिक फलसे और फिर जीवनसे ही उसका चित्त उचाट
जाता है। अहंभावयुक्त मानवजातिके प्राण जिस सुख और भो
पीछे पड़े रहते हैं उनसे अर्जुन अपना मुंह फेर लेता है और क्षत्रि
प्राणोंमें विजय, राज्य, अधिकार और मनुष्योंपर शासन करनेकी
प्रधान लालसा रहती है, अर्जुन यहां उसका भी त्याग कर देता

यह धर्मयुद्ध आखिर है किसलिये, इस बातको इसके व्यावहारिक अर्थोंमें यदि विचारा जाय तो सिवाय इसके इसका और हेतु ही क्या है कि हम, हमारे भाई और हमारे दलवालोंकी बन आवे, हम लोग अधिकारारूढ़ हों, नाना प्रकारके भोग भोगें और संसारमें राज करें? पर इन चीजोंके लिये यदि इतनी बड़ी क़ीमत देनी पड़ती हो तो ये व्यर्थ हैं। इन चीज़ोंका स्वयं अपना मूल्य कुछ भी नहीं है, ये तो सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनको सुसंपन्न बनाये रखनेके साधनमात्र हैं और मैं जो अपने परिवार और जातिके लोगोंका संहार करने जा रहा हूँ इस बात-से तो ये उद्देश्य ही नष्ट होते हैं। तब माया-ममता पुकार उठती है, अरे, जिन्हें तुम शत्रु मानकर मारना चाहते हो वे तो अपने ही लोग हैं जिनके लिये ही तो जीवनकी और सुखकी कामना की जाती है। सारी पृथिवीका राज लेकर, या तीनों लोकोंका राज लेकर भी भला इन्हें कौन मारना चाहेगा? इन्हें मारकर फिर वह जीवन ही क्या होगा? उसमें सुख ही क्या होगा? संतोष भी किस बातसे कर सकेंगे? ओफ! यह सब तो एक महापापमय कांड है! अब यह नैतिक बोध जाग उठता है संवेदनों और माया-ममताओंके विद्रोहका समर्थन करनेके लिये, यह पाप है, आपसके लोगोंकी मार-काटमें न कहीं न्याय है न धर्म; विशेषतः तब जब कि जिन्हें मारना है वे तो वे लोग हैं जो स्वभावतः ही पूज्य और प्रेमभाजन हैं, जिनके बिना जीना भार होता है, और इन पवित्र भावनाओंकी हत्या करना कभी पुण्य नहीं हो सकता, यही नहीं यह पाप है, दारुण पाप है। माना कि अपराध उनका है, आक्रमणका आरंभ उनकी ओरसे हुआ, पाप उनसे शुरू हुआ, लोभ और स्वार्थपरताके पातकी वे हैं जिनके कारण यह दशा उत्पन्न हुई; फिर भी ऐसी परिस्थितिमें उसमें अन्यायका जवाब [illegible] देना खुद ही एक

पाप होगा और यह पाप उनके पापसे भी बढ़कर होगा, क्योंकि वे तो लोभसे अंधे हो रहे हैं और अपने पापका उन्हें ज्ञान नहीं, पर हम लोग तो जानते हैं कि यह लड़ाई लड़ना पाप है। लड़ाई भी किसलिये? कुलधर्मकी रक्षाके लिये, जातिधर्मकी रक्षाके लिये, राष्ट्रधर्मकी रक्षाके लिये? पर इन्हीं धर्मोंका ही तो इस गृहयुद्धसे नाश होगा; कुल नष्टप्राय होगा, जातिका चरित्र कलुषित होगा और उसकी शुद्धता नष्ट होगी, सनातन जातिधर्म और कुलधर्म नष्ट होंगे। जाति ध्वंस होगी, परंपरा टूट जायगी, लोग आचार-भ्रष्ट होंगे और इस अपराधके अपराधियोंको नरक मिलेगा; इस भयंकर गृहयुद्धके प्रत्यक्ष परिणाम ये ही तो होंगे। "इसलिये" अर्जुन गाण्डीव धनुष और कभी खाली न होनेवाला तरकस, जिनको देवताओंने उसको इस विषम घड़ीके लिये दिया था, नीचे रखकर पुकार उठता है, "मेरा कल्याण तो इसीमें है कि धृतराष्ट्रके पुत्र मुझ शस्त्रहीन और अप्रतीकारको मार डालें! मैं तो युद्ध नहीं करूंगा।"

अतएव अर्जुनके ऊपर जो यह आंतरिक संकट आया उसका कारण किसी तत्त्वजिज्ञासुके अंदर उठनेवाला कोई प्रश्न नहीं है, न यह इस कारणसे ही पैदा हुआ है कि अर्जुन जीवनके दृश्योंसे घबराकर अपनी दृष्टिको वस्तुओंके सत्यकी खोजमें, स्थितिके यथार्थ आशयकी खोजमें और इस जगत्‌की अंधेरी पहेलीको सुलझाने या उससे बचनेके लिये अंतर्मुखी करना चाहता हो। यह तो उस मनुष्यके इंद्रिय, मन, प्राण, हृदय और धर्मबुद्धिका विद्रोह है जो अबतक निश्चित भावसे कर्म ही करता और उसके प्रचलित मानदंडको मानता चला आया है। पर इस मानदंड और इन कर्मोंने उसे एक ऐसे भीषण विप्लवमें लाकर झोंक दिया है कि यहां वे कर्म और उनके वे मानदंड एक-

दूसरेके और स्वयं अपने भी भयंकर विरोधी हो गये हैं और आचारका कोई आधार नहीं रह गया है जिसपर वह खड़ा हो सके, जिसके सहारे वह चल सके, अर्थात् कोई धर्म ही नहीं रह गया*। मनोमय कर्मी पुरुषके ऊपर आनेवाली सबसे बड़ी आपत्ति यही है, यही उसकी सबसे बड़ी च्युति और अवनति है। इस विद्रोहका स्वरूप सहज और स्वाभाविक है; इंद्रियों और मनका विद्रोह यों कि इंद्रिय और मन भय, अनुकंपा और जुगुप्सासे विवश हो गये हैं; प्राणोंका विद्रोह यों कि कर्मके इष्ट और सुपरिचित उद्देश्योंमें और जीवनके ध्येयोंमें कोई आकर्षण, कोई श्रद्धा नहीं रह गयी; हृदयका विद्रोह यों कि समाजके अंगभूत मनुष्यमात्रके हृदयमें स्नेह, श्रद्धा, सबके लिये समान सुख और संतोषकी इच्छा आदि जो भाव होते हैं वे ही उस कठोर कर्तव्य-के विरुद्ध आकर खड़े हो गये, क्योंकि उस कर्तव्यसे ये भाव कुचले जाने लगे; धर्मबुद्धिका विद्रोह यों कि पाप और नरककी मौलिक भावनाएँ उठ खड़ी हुई और "रुधिरप्रदिग्ध भोग" कहकर युद्धसे हटनेका तकाजा करने लगीं; प्रकृत व्यवहारकी दृष्टिसे विद्रोह यों कि धर्माधर्म-विचारके इस मानदंडको माननेका यह फल देख पड़ा कि धर्म-कर्मका जो प्रकृत उद्देश्य है वही इससे नष्ट हुआ जाता है। पर सबका तात्पर्य यह रहा कि अर्जुनके सर्वान्तःकरणका दिवाला निकल गया और "कार्पण्य-दोषोपहतस्वभावः" कहकर अर्जुन अपनी इसी अवस्थाको प्रकट करता है, न केवल उसका विचार बल्कि उसका हृदय, उसकी प्राणगत वासनाएँ, उसकी संपूर्ण चेतना ही "उपहत" हो गयी और वह "धर्मसंमूढ़-

---

* धर्म शब्दका धात्वर्थ धारण करना है—अर्थात् धर्म माने वह विधि, मान, नियम, कर्म और जीवन जिसका धारण किया जाता है और जो सब पदार्थोंको एक साथ धारण करता है।

चेता:" हो गया—धर्मका उसे कहीं पता नहीं चला, क्या करें और क्या न करें इसको स्थिर करनेका कोई पैमाना नहीं मिला। बस, इसीलिए वह शिष्य होकर श्रीकृष्णकी शरणमें आता है और वह यथार्थमें प्रार्थना करता है कि मुझे वह वस्तु दीजिये जिसको मैंने खो दिया है, एक सच्चा धर्म दीजिये, कर्मका एक स्पष्ट विधान बता दीजिये, एक मार्ग दिखा दीजिये जिसके सहारे मैं फिर दुबारा निश्चयके साथ चल सकूँ। वह इस जीवन या संसारके रहस्य और इन सबके उद्देश्य और हेतुको नहीं जानना चाहता, जानना चाहता है केवल धर्म।

तथापि वही रहस्य, जिसे जाननेकी कोई इच्छा अर्जुनने नहीं की, भगवान् उसे बतलाना चाहते हैं, कम-से-कम उसको उतना ज्ञान तो करा ही देना चाहते हैं जो उसे किसी उच्चतर जीवनकी ओर ले जानेके लिये आवश्यक है; क्योंकि भगवान् यह चाहते हैं कि अर्जुन सब धर्मोंका त्याग कर दे तथा उसका एक ही बृहत् और विशाल धर्म हो और वह हो भगवान्‌में सचेतन होकर निवास करना तथा उसी चेतनासे युक्त होकर कर्म करना। इसलिये आचारके जो सामान्य मान हैं उनके प्रति अर्जुनके अन्तःकरणका जब विद्रोह हुआ तब उस विद्रोहको हर तरहसे जांचकर भगवान् उसे वह बात बतलाना आरंभ करते हैं जिसका संबंध आत्मिक अवस्थासे है, कर्मके किसी बाह्य विधानसे बिलकुल नहीं। अर्जुनको उपदेश किया जाता है कि तुम आत्माकी समतामें निवास करो, कर्मके फलोंकी इच्छा त्याग दो, पाप-पुण्य-संबंधी जो बौद्धिक विचार हैं उनके ऊपर उठो, मनको समाहित करके योगस्थ होकर अर्थात् भगवान्‌में ही सर्वथा स्थित होकर रहो और कर्म करो। अर्जुनको संतोष नहीं होता, वह यह जानना चाहता है कि यह स्थिति प्राप्त होनेसे इसका मनुष्यके बाह्य कर्ममें क्या असर होगा, उसके भाषण-

पर, उसकी गतिविधिपर, उसकी अवस्थापर इसका क्या परिणाम होगा, इसके कारण इस कर्मनिष्ठ, सजीव मानवप्राणिमें क्या अंतर होगा। श्रीकृष्ण, फिर भी, उन्हीं ज्ञानकी वातोंको ही विशद करते हैं जो वे यहांतक बता चुके, कर्मके पीछे रहनेवाले आत्माकी अपनी स्थितिका ही निर्देश करते हैं, स्वयं कर्मकी कोई बात नहीं कहते और यह बतलाते हैं कि अपनी बुद्धिको वासनारहित समत्वकी अवस्थामें स्थिर निबद्ध करो, बस, यही एक करनेकी बात है। अर्जुन अधीर हो उठता है, क्योंकि जो आचार वह जानना चाहता था उसका तो यहां कोई पता नहीं चलता, बल्कि यहां तो संपूर्ण कर्मका अभाव ही देख पड़ता है। अर्जुन बड़ी व्यग्रतासे पूछता है, "यदि बुद्धिको आप कर्मसे श्रेष्ठ बतलाते हैं तो मुझे इस घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं? आपकी दुतरफा मिली हुई बातसे मेरी बुद्धि घबरा जाती है, एक बात निश्चित रूपसे बताइये जिससे मैं श्रेयकी प्राप्ति कर सकूं।" सदा ही कर्मी मनुष्यके आगे आध्यात्मिक विचार तथा आंतरिक जीवनका कोई मूल्य नहीं होता यदि इनसे उसको उस धर्मकी प्राप्ति न होती हो जिसे कि वह खोजता होता है और उसकी खोज यही होती है कि वह सांसारिक जीवनको सुव्यवस्थित करनेके लिये कोई विधान पा जाय, फिर यदि आवश्यक हो तो भले ही यह विधान उसे संसारको छोड़ देनेके लिये कहे; कारण यह भी एक निश्चयात्मक बात होगी जिसको वह समझ सकेगा। परंतु संसारमें रहकर कर्म करना और फिर उससे परे रहना, यह एक ऐसी "व्यामिश्र" (मिली हुई) और चक्करमें डालनेवाली बात है जिसे ग्रहण करनेके लिये उसमें धैर्य नहीं।

अर्जुनके मनमें जितने भी प्रश्न हैं, उसकी आकांक्षा जो कुछ भी करती है वह उसके इसी कर्मी स्वभाव और चारित्र्यसे उत्पन्न हुआ है।

जब उससे यह कहा जाता है कि आत्मस्थिति जब प्राप्त हो गयी तब यह कोई जरूरी बात नहीं कि कर्मका बाह्य रूप भी बदल जाय, कर्म सदा स्वभावके अनुसार ही करना होगा, चाहे वह कर्म दूसरेके कर्मकी तुलनामें सदोष और त्रुटिपूर्ण ही क्यों न प्रतीत हो, तब इस बातसे उसका चित्त घबरा उठता है। स्वभावके अनुसार कर्म करना होगा! किंतु अर्जुनका जो यहां मुख्य विषय है अर्थात् इस कर्मको करनेसे पापकी जो आशंका होती है उसका क्या हुआ? क्या यह स्वभावके कारण ही नहीं होता कि मनुष्य मानो विवश होकर और अपनी मर्जीके खिलाफ भी पाप और अपराध करते हैं? इसी प्रकार जब श्रीकृष्ण आगे चलकर यह कथन करते हैं कि मैंने ही पुराकालमें यह योग विवस्वानको बतलाया था, जो काल पाकर नष्ट हुआ और वही मैं आज तुम्हें बता रहा हूँ, तब भी अर्जुनकी कर्मीस्वभावबुद्धि चकरा गयी और उसने जब इसका खुलासा मतलब तलब किया तब श्रीकृष्णने अवतार-तत्त्व और उसके सांसारिक प्रयोजनके संबंधमें वे प्रसिद्ध वचन कहे जिनका जहां-तहां पुनः-पुनः स्मरण किया जाता है। अर्जुन फिर श्रीकृष्णके शब्दोंसे वहां घबरा जाता है जहां श्रीकृष्ण कर्म और कर्म-संन्यास दोनोंका समन्वय करते हैं और वह वही बात फिर कहता है कि एक ही बात निश्चित रूपसे बताइये, यह 'व्यामिश्र' वाक्य नहीं। जिस योगको अपनानेके लिये अर्जुनसे कहा जा रहा है उस योगका स्वरूप जब पूरे तौरपर वह समझ लेता है तब उसका कर्मी स्वभाव जो अपने मनके संकल्प, मनकी पसंद और मनकी इच्छा-से ही कर्ममें प्रवृत्त होना जानता है, इस योगको बहुत कठिन जानकर उससे शंकित होता है और इसीसे अर्जुन यह पूछता है कि उस पुरुषकी क्या गति होती है जो इस योगका साधन करता है पर योगसिद्धिको

नहीं प्राप्त होता, क्या वह मानव कर्म, विचार और भाववाले इस जीवन--को जिसे उसने योगके लिये पीछे छोड़ दिया तथा उस ब्राह्मी स्थितिको जिसे पानेके लिये वह आगे बढ़ा, इन दोनोंको ही तो नहीं खो बैठता और इस प्रकार उभय-विभ्रष्ट होकर छिन्न-भिन्न बादलकी तरह नष्ट तो नहीं हो जाता ?

जब उसकी सब शंकाओंका समाधान हुआ और सब उलझनें सुलझ गयीं और उसने जाना कि भगवान्‌को ही उसे अपना धर्म-कर्म मानना होगा, तब भी वह बार-बार और हर बार उसी सुस्पष्ट और सुनिश्चित ज्ञानकी ओर इशारा करता है, जो उसे इस मूलतक, इस भावी कर्म-विधानतक हाथ पकड़कर पहुँचा दे। सत्ताकी विविध अवस्थाओंमें जिनमें हम सामान्यतया रहते हैं, उनमें भगवान्‌को कैसे परखें ? संसारमें उनकी आत्मशक्तिकी वे कौनसी प्रधान अभिव्यक्तियां हैं जिनको वह ध्यानद्वारा पहचान सके और अनुभव कर सके ? क्या अर्जुन इस क्षणमें भी उनके भागवत विश्वरूपको नहीं देख सकता जो मानव मन-बुद्धि और शरीरकी आड़में छिपा रहकर उससे वास्तवमें बात कर रहा है ? अर्जुनके अंतिम प्रश्न कर्म-संन्यास और वह सूक्ष्मतर संन्यास (त्याग) जो करनेको अर्जुनसे कहा जा रहा है, इन दोनोंके स्पष्ट भेद; पुरुष और प्रकृति, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके बीच वास्तविक भेद जाननेके लिये हैं जिनका जानना भागवत संकल्पसे प्रेरित होकर निष्काम कर्म करनेके अभ्यासके लिये अत्यंत आवश्यक है; और फिर अंतमें अर्जुन प्रकृतिके तीन गुणोंके कर्म और उनके परिणाम सुस्पष्ट रूपसे समझ लेना चाहता है क्योंकि इन तीनों गुणोंको पार करनेके लिये उससे कहा गया है।

गीतामें भगवान् गुरु अपने ऐसे शिष्यको अपनी [illegible] शिक्षा

प्रदान कर रहे हैं। अहंभावके साथ कर्म करते-करते शिष्य अपने अंतर विकासकी उस अवस्थाको प्राप्त हुआ है जिसमें उसके अहंता-ममतायुक्त जीवन और सामाजिक आचार-विचारका कोई मानसिक, नैतिक और भाविक मूल नहीं रह गया, हठात् उनका दिवाला निकल गया, ठीक इसी संधिक्षणमें गुरु अपने शिष्यको पकड़ते हैं और वे उसे इस निम्न जीवनसे उठाकर पर-चैतन्यमें ले जाना चाहते हैं, कर्मकी इस अज्ञानमयी आसक्तिसे छुड़ाकर उस सत्ताको प्राप्त कराना चाहते हैं, जो कर्मके परे है, पर है कर्मका उत्पादन और व्यवस्थापन करनेवाली, अहंकारसे निकालकर आत्मामें ले जाना चाहते हैं, मन-बुद्धि, प्राण और शरीरके जीवनसे निकालकर मन-बुद्धिके परेकी उस परा प्रकृतिमें ले जाना चाहते हैं जो भागवत स्थिति है। इसके साथ ही भगवान्‌को उसे वह चीज़ भी देनी है जो वह चाहता है और जिसे चाहने और ढूंढ़नेकी स्फूर्ति उसे उसकी अंतःस्थित सत्ताके निर्देशके द्वारा ही हो रही है अर्थात् इस जीवन और कर्मके लिये एक नवीन धर्म जो इस अपर्याप्त सामान्य मनुष्य-जीवनके परस्पर विग्रह, विरोध, उलझन और भ्रामक निश्चयोंसे परिपूर्ण विधानसे कोई बहुत ऊपरकी चीज़ है, वह परम धर्म देना है जिससे जीव कर्मबंधसे मुक्त होता और फिर भी अपने भागवत स्वरूपकी बृहन्मुक्तस्थितिमें कर्म करने और विजय संपादन करनेकी शक्तिसे युक्त होता है। कारण कर्म तो करना ही होगा, जगत्‌को अपने कालचक्र पूरे करने ही होंगे और मानवशरीरी आत्माका यह काम नहीं कि वह जिस कर्मको करनेके लिये यहां आया है उस अपने नियत कर्मकी ओर अज्ञानवश अपनी पीठ फेर दे। गीताकी शिक्षाका संपूर्ण क्रम, उसकी व्यापक-से-व्यापक परिक्रमामें भी, इन्हीं तीन उद्देश्योंके लक्ष्यसे ही बंधा और इसी लक्ष्यकी ओर ले जानेवाला है।

# उपदेशका सारमर्म

गीतामें गुरु श्रीभगवान् हैं यह हमने जाना, और शिष्य मानव है यह देखा; अब यह बाकी है कि हमें गीताकी शिक्षाकी स्पष्ट धारणा हो जाय। यह स्पष्ट धारणा ऐसी होनी चाहिये कि गीताकी मुख्य शिक्षा, उसका सारमर्म हमारी समझमें आ जाय, क्योंकि गीतामें बहुमूल्य और बहुमुखी विचार होनेके कारण तथा इसमें आध्यात्मिक जीवनके नानाविध पहलुओंका समालिंगन होनेके कारण और इसका प्रतिपादन वेगयुत चक्राकार गतिसे होनेके कारण सहज ही ऐसा हो जाता है कि लोग इसकी शिक्षाका, अन्य सद्ग्रंथोंकी अपेक्षा भी अधिक मात्रामें, पक्षपातयुत बुद्धिसे पैदा हुए एकपक्षीय भ्रांत दर्शन करने लग जाते हैं। किसी तथ्य, शब्द या भावनाको ग्रंथके अभिप्रेत तात्पर्यसे, जाने-बे-जाने अलग करके उससे अपने किसी पूर्वगृहीत विचार या शिक्षा अथवा अपनी पसंदका कोई सिद्धांत स्थापित करना भारतीय नैयायिकोंकी दृष्टिमें हेत्वाभासका एक बड़ा ही सुगम प्रकार है; और शायद यह प्रकार ऐसा है कि अत्यंत सावधान रहनेवाले दार्शनिकके लिये भी इससे बचना बड़ा ही कठिन होता है। कारण इस विषयमें मनुष्यकी बुद्धि बराबर दोष आप ही ढूंढ निकालनेकी

सावधानी सदा रख सकनेमें असमर्थ होती है; उसका स्वभाव ही किसी एकतरफा सिद्धांत, विचार या तत्त्वको ग्रहणकर उसीका मंडन करने और उसीको संपूर्ण सत्यके पानेकी कुंजी बना लेनेका होता है और इस स्वभावमें अपने-आपको ही बढ़ानेकी वह वृत्ति होती है जिसका कोई अंत नहीं है अर्थात् मनुष्य-बुद्धिमें यह जो इसका स्वरूपगत और पाला-पोसा हुआ दोष है इस दोषको अपने कार्यमें ढूंढ निकालनेसे इसकी दृष्टि फिरी रहती है। गीताके संबंधमें इस प्रकारकी गलती सहज ही बनती है, क्योंकि इसके किसी भी एक पहलूको लेकर उसीपर खास जोर देकर अथवा इसके किसी खास जोरदार श्लोकको ही लेकर उसीको आगे बढ़ाकर और बाकी अठारहों अध्यायोंको पीछे करके या उन्हें गौण और अर्थवादात्मक करार देकर गीताको अपने ही मत या सिद्धांतका पोषक बना लेना अनायास ही साध्य है।

इस प्रकारसे कुछ लोगोंका यह कहना है कि गीतामें कर्मयोगका प्रतिपादन ही नहीं है बल्कि वे इसकी शिक्षाको संसार और सब कर्मोंके संन्यासके लिये तैयार करनेवाली एक साधना मानते हैं; नियत कर्मोंको अथवा जो कोई कर्म सामने आ पड़े उसको उदासीन होकर करना ही वह साधन या साधना है; संसार और सब कर्मोंका अंतमें संन्यास ही है एकमात्र साध्य। गीतासे ही जहां-तहांके श्लोक लेकर और गीताकी विचार-पद्धतिमें जहां-तहां थोड़ी खींचतान करके इस बातको प्रमाणित करना सहज ही बन आता है और जब गीतामें 'संन्यास' शब्दके प्रयोग-के विशिष्ट प्रकारकी ओर से हम अपनी आंखें फेर लेते हैं तब तो यह काम और भी आसान हो जाता है। परंतु इस मतका आग्रह तब नहीं ठहर सकता जब कोई पक्षपातरहित होकर यह देखता है कि ग्रंथमें अंततक बार-बार यही बात कही जा रही है कि अकर्मकी अपेक्षा कर्म

ही श्रेष्ठ है और कर्मकी यह श्रेष्ठता इस बातमें है कि इसमें वास्तविक रूपसे समत्वके द्वारा इच्छाका सच्चा आंतरिक त्याग करके कर्म परम पुरुषको अर्पण करना होता है।

फिर कुछ लोग यह कहते हैं कि गीताका संपूर्ण अभिप्राय भक्ति-तत्त्वके प्रतिपादनमें है। ये लोग गीताके अद्वैत तत्त्वोंकी और इसमें सबके एक आत्मा ब्रह्ममें शांत भावसे निवास करनेकी स्थितिको जो ऊंचा स्थान दिया गया है उसकी, अवहेलना करते हैं। और इसमें संदेह नहीं कि गीतामें भक्तिपर बड़ा जोर दिया गया है, फिर बारंबार इस बातको दुहराया गया है कि भगवान् ही ईश्वर और पुरुष हैं, और फिर गीताने पुरुषोत्तम-सिद्धांत प्रस्थापित कर यह स्पष्ट कर दिया है कि भगवान् पुरुषोत्तम हैं, उत्तम पुरुष हैं अर्थात् क्षर पुरुषके परे और अक्षर पुरुषसे भी श्रेष्ठ हैं और वे ही हैं वे जिन्हें जगत्‌के संबंधसे हम ईश्वर कहते हैं, गीताकी ये सब बातें बड़े मार्केकी हैं, मानो उसकी जान हैं। तथापि ये ईश्वर वह आत्मा हैं, जिनमें संपूर्ण ज्ञान परिसमाप्त होता है, ये ही यज्ञके प्रभु हैं जिनके समीप सब कर्म इनको ले जाते हैं और ये ही प्रेममय स्वामी हैं जिनमें भक्त-हृदय प्रवेश करता है। गीता इन तीनोंको ही बराबर रखती है। कहीं ज्ञानपर जोर देती है तो कहीं कर्मपर और कहीं भक्तिपर, परंतु यह जोर देना उसके तात्कालिक विचार प्रसंगसे है, इस मतलबसे नहीं कि इनमेंसे कोई भी किसीसे सर्वथा श्रेष्ठ या कनिष्ठ है। जिन भगवान्‌में ये तीनों ही मिलकर एक हो जाते हैं वे ही परम पुरुष हैं, पुरुषोत्तम हैं।

परंतु आजकल, अर्थात् जबसे आधुनिकोंने गीताको मानना और उसपर कुछ भी विचार करना आरंभ किया है तबसे, गीताके ज्ञानतत्त्व और भक्तितत्त्वको गौण मानकर, उसके कर्मविषयक उपादार

आग्रहका लाभ लेकर उसे एक कर्मयोग-शास्त्र, कर्म-मार्गमें ले जानेवाला एक प्रकाश, कर्मविषयक एक सिद्धांत ही माननेकी ओर लोगोंका झुकाव देखनेमें आता है। इसमें संदेह नहीं कि गीता कर्मयोग-शास्त्र है, पर उन कर्मोंका जो ज्ञानमें अर्थात् आध्यात्मिक सिद्धिमें और शांतिमें परिसमाप्त होते हैं, उन कर्मोंका जो भक्तिप्रणोदित हैं, अर्थात् यह वह ज्ञानयुक्त सचेतन शरणागति है जिसमें भक्त कर्मी अपने-आपको पहले भगवान्के हाथोंमें सौंप देता और पीछे भगवान्की सत्तामें प्रवेश करता है, यह उन कर्मोंका शास्त्र जरा भी नहीं है जिसे आधुनिक मन-बुद्धि कर्म मान बैठी है, उन कर्मोंका बिलकुल नहीं जो अहंकार और परोपकारके भावसे किये जाते हैं या जो वैयक्तिक, सामाजिक और भूतदयाप्रयुक्त विचारों, सिद्धांतों और आदर्शोंसे प्रेरित होते हैं। फिर भी गीताके आधुनिक टीकाकार यही दिखाना चाहते हैं कि गीतामें कर्मका आधुनिक आदर्श ग्रहण किया गया है। कितने ही अधिकारी पुरुषोंद्वारा लगातार यह कहा जाता है कि भारतीय विचार और आध्यात्मिकताकी जो सामान्य प्रवृत्ति है कि मनुष्यको वैरागी और शांतिकामी निवृत्तमार्गी बना देना, उसका गीता विरोध करती है, यह स्पष्ट शब्दोंमें कर्मके मानव-सिद्धांतका, अर्थात् सामाजिक कर्त्तव्योंको निःस्वार्थ भावसे करनेके आदर्शका, इतना ही नहीं बल्कि समाजसेवाके सर्वथा आधुनिक आदर्शका भी, प्रतिपादन करती है। उन सब बातोंका उत्तर मेरे पास इतना ही है कि गीतामें, स्पष्ट ही, और केवल इसका ऊपरी अर्थ ग्रहण करते हुए भी, इस तरहकी कोई भी बात नहीं है, यह केवल आधुनिकोंकी समझका फेर है, कुछका कुछ और ही समझ लेना है, एक प्राचीन ग्रंथको अर्वाचीन बुद्धिसे समझनेका यह फल है, सर्वथा पुरातन, प्राच्य और भारतीय शिक्षाको वर्तमान यूरोपीय

या यूरोपीकृत बुद्धिसे जाननेकी व्यर्थ चेष्टा है। गीता जिस कर्मका प्रतिपादन करती है वह मानव-कर्म नहीं बल्कि दिव्य कर्म है, सामाजिक कर्तव्योंका पालन नहीं बल्कि कर्त्तव्य और आचरणके अन्य सब पैमानोंका त्यागकर अपने स्वभावके द्वारा कर्म करनेवाले भागवत संकल्पका निरहंकार निर्मम आचरण है, समाजसेवा नहीं बल्कि श्रेष्ठ, भगवत्-अधिकृत महापुरुषोंका वह कर्म है जो नाहंकृतभावसे संसारके लिये उन भगवान्की प्रीतिपूजाके तौरपर यज्ञ-रूपसे किया जाता है जो मनुष्य और प्रकृतिके पीछे सदा विद्यमान हैं।

तात्पर्य, गीता नीतिशास्त्र या आचार-शास्त्रका ग्रंथ नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक जीवनका ग्रंथ है। आधुनिकोंकी बुद्धि वर्तमान समयमें यूरोपीय बुद्धि है जो अपने मूल सूत्र-स्वरूप यूनानी-रूमी संस्कृतिकी परमोच्च अवस्थाके दार्शनिक आदर्शवादका ही नहीं बल्कि मध्यकालीन युगके ईसाई भक्तिवादका भी परित्याग कर अब ऐसी बन गयी है; इन दार्शनिक आदर्शवाद और भक्तिवादके स्थानमें इसने व्यावहारिक आदर्शवाद और समाजसेवा, देशसेवा और मानवसेवाका भाव लाकर बैठाया है। ईश्वरसे इसने छुटकारा पा लिया है अथवा यह कहिये कि ईश्वरको केवल रविवारकी छुट्टीके लिये रख छोड़ा है और ईश्वरके स्थानमें प्रतिष्ठित किया है देवरूपसे मनुष्यको और प्रत्यक्ष पूज्य प्रतिमा-रूपसे समाजको। इसकी सर्वोत्तम अवस्थामें यह व्यवहार्य है, नैतिक और सामाजिक है, इसमें धर्मनिष्ठा है, परोपकार और मनुष्यजातिको सुखी करनेकी अभिलाषा है। ये सब बातें बहुत अच्छी हैं, आजकल इनकी खास आवश्यकता भी है, और ये भगवत्संकल्पका ही अंग हैं, क्योंकि यदि ये भगवत्संकल्पके अंग न होतीं तो मनुष्य-जातिमें इन्हें इतनी प्रधानता प्राप्त होती ही नहीं। और फिर यह

भी कोई बात नहीं है कि जिस मनुष्यने भागवत स्वरूपको प्राप्त कर लिया हो, जो ब्राह्मी स्थितिकी चिन्मय अवस्थामें तथा भागवत सत्तामें रहता हो, उसके कर्ममें ये सब बातें न हों; बल्कि ये सब बातें उसके कर्ममें अवश्य रहेंगी यदि ये ही युगधर्म हैं, उस कालकी सबसे उत्कृष्ट ध्येय वस्तुएं हैं, और इनसे भी बड़ी और कोई चीज उस समय यदि होने योग्य नहीं है, कोई महत् आमूल परिवर्तन यदि उस समय होना नहीं है। कारण, जैसा कि भगवान् अपने शिष्यसे कहते हैं, वह पुरुष-श्रेष्ठ है और उसे ऐसा आचरण करके दिखाना है जो दूसरोंके लिये प्रमाणस्वरूप हो; और सचमुच ही अर्जुनसे जो बात कही जा रही है वह यही है कि वह अपने समयके सर्वोत्कृष्ट आदर्श और तत्कालीन संस्कृतिके अनुसार आचरण करे, पर ज्ञानयुक्त होकर करे, उस वस्तुको जानकर करे जो इन सबके पीछे है, सामान्य मनुष्योंकी तरह नहीं जो केवल बाह्य धर्म और विधिका ही अनुसरण करते हैं।

परंतु विचारणीय बात यहां यह है कि आधुनिकोंकी बुद्धिने अपनी व्यावहारिक प्रेरक-शक्तिमेंसे जिन दो असली चीजोंको अर्थात् ईश्वर या सनातन ब्रह्मको और आध्यात्मिकता या परमात्म-स्थितिको निकाल बाहर कर दिया है वे ही गीताकी सर्वोत्कृष्ट भावनाएं है। आधुनिकोंकी बुद्धि मानवताके दायरेके अंदर ही रहती है और गीता कहती है कि भगवान्में रहो—यद्यपि जगत्का कल्याण करना होगा, पर भगवान्में रहकर; इसका जीना केवल इसके प्राण, हृदय और बुद्धिमें है और गीता कहती है कि आत्मामें जीओ; इसकी शिक्षा है क्षर पुरुष-में, 'सर्वाणि भूतानि' में रहनेकी और गीताकी दीक्षा है अक्षर और परम पुरुषमें भी रहनेकी; इसका कहना है सदा बदलनेवाले कालप्रवाहके साथ बह चलो और गीताका आदेश है सनातनमें निवास करो।

अथवा, गीताकी इन उच्चतर बातोंकी ओर यदि आजकल कुछ-कुछ ख्याल दौड़ने भी लगा है तो वह केवल इसलिये कि मनुष्य और मनुष्य-समाजकी इनसे कुछ सेवा करायी जाय। परंतु भगवान् और आध्यात्मिक जीवन ऐसी चीजें हैं जो अपनी सत्तासे हैं, किसीके पुछल्ले नहीं। और व्यवहारमें हमारे अंदर जो कुछ निम्न है उसको उच्चके लिये जीना सीखना होगा जिससे कि हममें जो कुछ उच्च है वह भी निम्नके लिये सचेतन रूपसे विद्यमान रहे ताकि वह उसको अपनी उच्च भूमिकाके अधिकाधिक समीप ले आवे।

इसलिये आजकलकी मनोवृत्तिके विचारसे गीताका अर्थ करना और गीतामें जबर्दस्ती यह शिक्षा दिलाना कि निःस्वार्थ होकर कर्त्तव्य-का पालन करना ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वसंपूर्ण धर्म है, बिलकुल गलत रास्ता है। जिस प्रसंगसे गीतोपदेश हुआ है उसका किंचित् मात्र विचार करनेसे ही यह स्पष्ट हो जायगा कि गीताका ऐसा अभिप्राय हो ही नहीं सकता। कारण, जिस प्रसंगसे गीताका आविर्भाव हुआ और जिस कारणसे शिष्यको गुरुकी शरण लेनी पड़ी उसका सारा मर्म जो कर्त्तव्यकी ही परस्पर संबद्ध विविध भावनाओंका बेतरह उलझा हुआ वह संघर्ष है जो मानवबुद्धि द्वारा खड़ी की गयी सारी उपयोगी, बौद्धिक और नैतिक इमारतको ढाह देता है। मनुष्य-जीवनमें किसी-न-किसी प्रकारका संघर्ष तो प्रायः उत्पन्न हुआ ही करता है, जैसे कभी गार्हस्थ्य-धर्मके साथ देशधर्म या देशकी पुकारका, कभी देशके दावेके साथ मानव-जातिकी भलाईका या किसी उदात्तर धार्मिक या नैतिक सिद्धान्तका। एक आंतरिक परिस्थिति भी खड़ी हो सकती है, जैसी कि गौतम बुद्धके सामने हुई; इस परिस्थितिमें आ पड़नेपर अन्तःस्थित भगवान्के आदेशका पालन करनेके लिये सभी कर्त्तव्योंको त्याग देना,

कुचल डालना और एक ओर फेंक देना पड़ता है। मैं नहीं समझता कि इस प्रकारकी आंतरिक परिस्थितिका समाधान, गीता कभी यों कर सकती है कि वह बुद्धको फिरसे उनकी पत्नी और पिताके पास भेज दे और उन्हें साक्य राज्यकी बागडोर हाथमें ले लेनेके लिये कहे। अथवा न यह परमहंस रामकृष्णसे ही यह कह सकती है कि तुम किसी पाठ-शालामें जाकर पंडित होकर रहो और छोटे-छोटे बच्चोंको निष्काम होकर पाठ पढ़ाया करो, न विवेकानंदको ही मजबूर कर सकती है कि तुम जाकर अपने परिवारका भरण-पोषण करो और इसके लिये वीतराग होकर वकालत या डाक्टरी या अखबार-नवीसीका धंधा करो। गीता निःस्वार्थ कर्त्तव्य-पालनकी शिक्षा नहीं देती बल्कि दिव्य जीवन बितानेकी शिक्षा देती है, सब धर्मोंका परित्याग सिखाती है (सर्वधर्मान् परित्यज्य), एक परमात्माका ही आश्रय ग्रहण करनेको कहती है; और बुद्ध, रामकृष्ण या विवेकानंदका भागवत् कर्म गीताकी इस शिक्षाके सर्वथा अनुकूल था। इतना ही नहीं, गीता कर्मको अकर्मसे श्रेष्ट बतलाती हुई भी कर्मसंन्यासका निषेध नहीं करती, बल्कि इसे भी भगवत्प्राप्तिके साधनोंमेंसे एक साधन ही स्वीकार करती है। यदि कर्म और जीवन और सब कर्त्तव्योंका त्याग करनेसे ही उसकी प्राप्ति होती हो और इस त्यागके लिये प्रबल आंतरिक पुकार हो तो सब कर्मोंको स्वाहा करना ही होगा, इसमें किसीका कोई बस नहीं चल सकता। भगवान्‌की पुकार अलंघ्य है, दूसरे कोई भी विचार उसके सामने नहीं ठहर सकते।

परंतु यहां एक और कठिनाई यह है कि जो कर्म अर्जुनको करना है वह ऐसा कर्म है जिससे उसकी नैतिक बुद्धि पीछे हटती है। आप कहते हैं कि युद्ध करना उसका धर्म है, पर वह धर्म ही तो इस समय

उसकी बुद्धिमें भयंकर पाप हो गया है। तुम्हें निःस्वार्थ भावसे और विकाररहित होकर अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिये, ऐसा कहनेसे उसकी क्या सहायता होती है या उसकी कठिनाईका क्या हल होता है? वह यह जानना चाहेगा कि उसका कर्त्तव्य क्या है अथवा यह कि अपने गोतियों, जातिभाइयों और देशवासियोंका आम तौरपर रक्त बहाना भला उसका कर्त्तव्य कैसे हो सकता है? उससे यह कहा जा रहा है कि न्याय, धर्म, सत्य तुम्हारे पक्षमें हैं, पर इससे उसको संतोष नहीं होता, संतोष हो ही नहीं सकता, कारण उसका तो कहना ही यही है कि हमारा पक्ष न्यायका है सही, पर उसके लिये राष्ट्रका भविष्य बिगाड़नेवाला निर्दय रक्तपात करना न्याय्य नहीं है। तो क्या अर्जुनसे यह कहना होगा कि तुम्हें इन सब बातोंसे क्या मतलब, तुम सैनिक हो—सैनिकका काम करो, लड़ो-कटो, मरो-मारो, चाहे पाप हो या पुण्य, चाहे इसका जो भी फल हो, उसका कुछ भी विचार न करके निर्विकार भावसे अपना कर्म करो। परंतु यह सीख किसी राज्यकी ओरसे हो सकती है, राजनीतिज्ञ, वकील, नैतिक धर्माधर्मविचारक ऐसा कह सकते हैं, पर कोई महान् धार्मिक और दार्शनिक ग्रंथ, जिसका कि उद्देश्य ही जीवन और कर्मके प्रश्नको जड़मूलसे हल करना होता है ऐसी शिक्षा नहीं दे सकता। और यदि नैतिक और अध्यात्मविषयक ऐसे मार्मिक प्रश्नके विषयमें गीताको यही बात कहनी हो तो इसे संसारके महान् धर्मग्रंथोंकी सूचीसे अलग ही करना होगा और फिर यदि इसे कहीं रखना ही हो तो राजनीतिशास्त्र और आचारशास्त्रकी किसी लाइब्रेरीमें रख सकते हैं।

निश्चय ही गीतामें, उपनिषदोंके समान ही उस समताका उपदेश है जो पुण्य और पापके ऊपर, अच्छे और बुरेके परे है, पर यह समता

कुचल डालना और एक ओर फेंक देना पड़ता है। मैं नहीं समझता कि इस प्रकारकी आंतरिक परिस्थितिका समाधान, गीता कभी यों कर सकती है कि वह बुद्धको फिरसे उनकी पत्नी और पिताके पास भेज दे और उन्हें साक्य राज्यकी बागडोर हाथमें ले लेनेके लिये कहे। अथवा न यह परमहंस रामकृष्णसे ही यह कह सकती है कि तुम किसी पाठ-शालामें जाकर पंडित होकर रहो और छोटे-छोटे बच्चोंको निष्काम होकर पाठ पढ़ाया करो, न विवेकानंदको ही मजबूर कर सकती है कि तुम जाकर अपने परिवारका भरण-पोषण करो और इसके लिये वीतराग होकर वकालत या डाक्टरी या अखबार-नवीसीका धंधा करो। गीता निःस्वार्थ कर्त्तव्य-पालनकी शिक्षा नहीं देती बल्कि दिव्य जीवन बितानेकी शिक्षा देती है, सब धर्मोंका परित्याग सिखाती है (सर्वधर्मान् परित्यज्य), एक परमात्माका ही आश्रय ग्रहण करनेको कहती है; और बुद्ध, रामकृष्ण या विवेकानंदका भागवत् कर्म गीताकी इस शिक्षाके सर्वथा अनुकूल था। इतना ही नहीं, गीता कर्मको अकर्मसे श्रेष्ठ बतलाती हुई भी कर्मसंन्यासका निषेध नहीं करती, बल्कि इसे भी भगवत्प्राप्तिके साधनोंमेंसे एक साधन ही स्वीकार करती है। यदि कर्म और जीवन और सब कर्त्तव्योंका त्याग करनेसे ही उसकी प्राप्ति होती हो और इस त्यागके लिये प्रबल आंतरिक पुकार हो तो सब कर्मोंको स्वाहा करना ही होगा, इसमें किसीका कोई बस नहीं चल सकता। भगवान्की पुकार अलंघ्य है, दूसरे कोई भी विचार उसके सामने नहीं ठहर सकते।

परंतु यहां एक और कठिनाई यह है कि जो कर्म अर्जुनको करना है वह ऐसा कर्म है जिससे उसकी नैतिक बुद्धि पीछे हटती है। आप कहते हैं कि युद्ध करना उसका धर्म है, पर वह धर्म ही तो इस समय

उसकी बुद्धिमें भयंकर पाप हो गया है। तुम्हें निःस्वार्थ भावसे और विकाररहित होकर अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिये, ऐसा कहनेसे उसकी क्या सहायता होती है या उसकी कठिनाईका क्या हल होता है? वह यह जानना चाहेगा कि उसका कर्त्तव्य क्या है अथवा यह कि अपने गोतियों, जातिभाइयों और देशवासियोंका आम तौरपर रक्त बहाना भला उसका कर्त्तव्य कैसे हो सकता है? उससे यह कहा जा रहा है कि न्याय, धर्म, सत्य तुम्हारे पक्षमें हैं, पर इससे उसको संतोष नहीं होता, संतोष हो ही नहीं सकता, कारण उसका तो कहना ही यही है कि हमारा पक्ष न्यायका है सही, पर उसके लिये राष्ट्रका भविष्य बिगाड़नेवाला निर्दय रक्तपात करना न्याय्य नहीं है। तो क्या अर्जुनसे यह कहना होगा कि तुम्हें इन सब बातोंसे क्या मतलब, तुम सैनिक हो—सैनिकका काम करो, लड़ो-कटो, मरो-मारो, चाहे पाप हो या पुण्य, चाहे इसका जो भी फल हो, उसका कुछ भी विचार न करके निर्विकार भावसे अपना कर्म करो। परंतु यह सीख किसी राज्यकी ओरसे हो सकती है, राजनीतिज्ञ, वकील, नैतिक धर्माधर्मविचारक ऐसा कह सकते हैं, पर कोई महान् धार्मिक और दार्शनिक ग्रंथ, जिसका कि उद्देश्य ही जीवन और कर्मके प्रश्नको जड़मूलसे हल करना होता है ऐसी शिक्षा नहीं दे सकता। और यदि नैतिक और अध्यात्मविषयक ऐसे मार्मिक प्रश्नके विषयमें गीताको यही बात कहनी हो तो इसे संसारके महान् धर्मग्रंथोंकी सूचीसे अलग ही करना होगा और फिर यदि इसे कहीं रखना ही हो तो राजनीतिशास्त्र और आचारशास्त्रकी किसी लाइब्रेरीमें रख सकते हैं।

निश्चय ही गीतामें, उपनिषदोंके समान ही उस समताका उपदेश है जो पुण्य और पापके ऊपर, अच्छे और बुरेके परे है, पर वह समता

केवल ब्राह्मी चेतनाका एक अंग है और उसका उपदेश उसीके लिये है जो उस मार्गपर हो और उस परम धर्मको चरितार्थ करनेके लिये काफी आगे बढ़ चुका हो। यह मनुष्यके सामान्य जीवनके लिये अच्छे और बुरेसे उदासीन होनेका उपदेश नहीं करती, जहां इस प्रकारकी शिक्षाका बहुत ही हानिकारक परिणाम हो सकता है। वैसे जीवनके लिये तो गीताका यह निर्देश है कि बुरे कर्म करनेवाले कभी ईश्वरको नहीं पा सकते। इसलिये यदि अर्जुन केवल मनुष्य-जीवनके सामान्य धर्मको ही सर्वोत्तम प्रकारसे चरितार्थ करना चाहता हो तो जिस चीजको वह पाप समझता है, नरककी वस्तु समझता है उसीको निःस्वार्थ होकर करनेसे उसका कुछ भी भला न होगा, चाहे एक सैनिक-के नाते वह पाप उसका कर्त्तव्य ही क्यों न हो। उसकी विवेक-बुद्धि जिस कामसे घृणा कर रही है उससे उसे हटना ही होगा, चाहे इससे उसके हजार कर्त्तव्य-कर्म धूलमें मिल जायं।

हमें यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि कर्त्तव्य (Duty) वह भावना है जो व्यवहारमें सामाजिक धारणाओंपर निर्भर करती है। इस सामान्य अर्थसे हम इस शब्दको और अधिक व्यापक करके यह कह सकते हैं कि अमुक कर्म हमारा अपने प्रति कर्त्तव्य है अथवा इस व्याप्तिके भी आगे बढ़कर यह कह सकते हैं कि सर्वस्वका त्याग करना बुद्धका कर्त्तव्य था या यह भी कह सकते हैं कि गुहामें स्थिर होकर बैठना यतीका कर्त्तव्य है! पर यह सब, स्पष्ट ही, शब्दोंके साथ खेलना है। कर्त्तव्य आपेक्षिक शब्द है और दूसरोंके साथ अपने संबंध-पर इसका अर्थ निर्भर करता है। पिताके नाते पिताका यह कर्त्तव्य है कि वह अपने बच्चोंका लालन-पालन करे और उन्हें सुशिक्षित करे; वकीलका यह कर्त्तव्य है कि वह अपने मुवक्किलकी पैरवी करनेमें पूरी

कोशिश करे चाहे उसे यह ज्ञात भी हो कि मुवक्किल कसूरवार है और उसने जो जवाब लगाया है वह झूठा है; सिपाहीका यह कर्त्तव्य है कि वह लड़े, हुकुम पाते ही गोली मार दे चाहे उसका सामना कारनेवाला उसका नाती-गोती या देशभाई ही क्यों न हो; जजका यह कर्त्तव्य है कि वह अपराधीको जेल भेजे और खूनीको सूलीपर चढ़वा दे। जबतक मनुष्य इन पदोंपर रहना स्वीकार करता है तबतक उसका कर्त्तव्य स्पष्ट है, और जब इस कर्त्तव्यमें उसकी मर्यादा और ममताका सवाल न उठता हो तब भी उसके लिये अपने कर्त्तव्यका पालन करना एक व्यावहारिक बात हो जाती है और उसको अपने इस कर्त्तव्यका पालन करते हुए निरपेक्ष धार्मिक और नैतिक विधानका उल्लंघन करना पड़ता है। परंतु यदि आंतरिक दृष्टि ही बदल जाय, यदि वकीलकी आंख खुल जाय और वह यह देखने लगे कि झूठ सदा पाप ही है, यदि जजका यह विश्वास हो जाय कि किसी मनुष्यको फांसीकी सजा देना मानवताकी दृष्टिसे पाप करना है, समरभूमिमें सिपाहीका ही चित्त यदि आधुनिक समरांतवादियोंका-सा हो जाय या टालस्टायके समान उसके चित्तमें यह आ जाय कि किसी भी मनुष्यकी जान किसी भी हालतमें लेना वैसा ही घृणित काम है जैसा कि मनुष्यका मांस भक्षण करना, तब क्या होगा? ऐसे प्रसंगमें अपने अंतःकरणका धर्म ही, जो सब आपेक्षित धर्मोंके ऊपर है, माना जायगा, यह बात बिलकुल साफ है; और यह धर्म कर्त्तव्य-विषयक सामाजिक संबंध या भावनापर निर्भर नहीं करता, बल्कि मनुष्यकी, नैतिक मनुष्यकी जागी हुई अंतःप्रतीतिपर निर्भर करता है।

संसारमें वस्तुतः दो प्रकारके आचार-धर्म हैं, दोनों ही अपने-अपने स्थानमें आवश्यक और समुचित हैं, एक वह आचार-धर्म है जो मुख्यतः बाह्य अवस्थापर निर्भर करता है और एक वह है जो बाह्य पदमर्यादासे

सर्वथा स्वतंत्र और अपने ही सदसद्विवेक और विचारपर निर्भर करता है। गीताकी शिक्षा यह नहीं है कि श्रेष्ठ भूमिकाके आचार-धर्मको कनिष्ठ भूमिकाके आचार-धर्मके अधीन कर दो, गीता यह नहीं कहती कि अपनी जागृत नैतिक चेतनाको मारकर उसे सामाजिक पदमर्यादापर निर्भर करनेवाले धर्मकी वेदीपर बलि चढ़ा दो। गीता हमें ऊपर उठनेके लिये कहती है, नीचे गिरनेके लिये नहीं; दो क्षेत्रोंके संघर्षसे, गीता हमें ऊपर चढ़नेका, उस परा स्थितिको प्राप्त करनेका आदेश देती है जो केवल व्यावहारिक, केवल नैतिक चैतन्यके ऊपर है, जो ब्राह्मी स्थिति है। समाजधर्मके स्थानमें गीता यहां भगवान्के प्रति अपने कर्त्तव्यकी भावनाको प्रतिष्ठित करती है। वाह्य कर्मके अधीन होकर रहनेकी अवस्था यहां दूर हो जाती है और इसके स्थानपर कर्मकी गहना गतिसे मुक्त, पुरुषका अपने कर्मको स्वतः निर्धारित करनेका सिद्धांत स्थापित हो जाता है। और जैसा कि आगे चलकर हम लोग देखेंगे, यही ब्राह्मी चेतना, कर्मसे पुरुषकी मुक्ति और अंतःस्थित तथा ऊर्ध्वस्थित परमेश्वरके द्वारा स्वभावमें कर्मकी नियति—यही कर्मके विषयमें गीताकी शिक्षाका मर्म है।

गीताको समझना, और गीता जैसे किसी भी महान् ग्रंथको समझना तभी वनता है जब उसका आदिसे अंततक और एक विकासात्मक शास्त्रके हिसावसे अध्ययन किया जाय। परंतु आधुनिक टीकाकारोंने, वंकिमचंद्र चटर्जी जैसे उच्च कोटिके लेखकसे आरंभ कर जिन्होंने पहले-पहल गीताको, आधुनिक अर्थमें कर्त्तव्यका प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र वताया, गीताके पहले तीन-चार अध्यायोंपर ही प्रायः सारा जोर दिया है, और उनमें भी समत्वकी भावना और 'कर्त्तव्यं कर्म' पर, और 'कर्त्तव्य' से इनका अभिप्राय वही है जो आधुनिक

दृष्टिमें गृहीत है, 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन (कर्ममें ही तेरा अधिकार है, कर्मफलमें कभी भी नहीं)'—इसी वचनको ये लोग गीताका महावाक्य कहकर खास तौरपर उद्धृत करते हैं। और बाकीके अध्याय और उनमें भरा हुआ वह तत्त्वज्ञान इनकी दृष्टिमें गौण है; हां, ग्यारहवें अध्यायके विश्वरूपदर्शनकी मान्यता इनके यहां अवश्य है। आधुनिक मन-बुद्धिके लिये यह बिलकुल स्वाभाविक है क्योंकि तात्त्विक गूढ़ बातों और अतिदूरवर्ती आध्यात्मिक अनुसंधानकी चेष्टाओंसे यह बुद्धि घबरायी हुई है या अभी कलतक घबरायी हुई रही है और अर्जुनके समान ही यह कर्मका ही कोई काममें लाने योग्य विधान, कोई धर्म, ढूंढ़ रही है। पर गीता जैसे ग्रंथके निरूपणका यह गलत रास्ता है।

गीता जिस समताका उपदेश देती है वह उदासीनता नहीं है—गीतोपदेशकी आधारशिला जब रखी जा चुकी और उसपर गीतोपदेशका प्रधान मंदिर जब निर्मित हो चुका तब जो महान् आदेश अर्जुनको दिया गया कि, "उठ, शत्रुओंका संहार कर और समृद्ध राज्यका भोग कर।" इसमें कोरे परोपकारवादकी या किसी विशुद्ध विकाररहित सर्वत्यागके भावकी कोई ध्वनितक नहीं है; गीताकी समता एक आंतरिक संतुलन और विशालताकी स्थिति है, जो आध्यात्मिक मुक्तिकी आधार-शिला है। इस संतुलनके साथ और इस प्रकारकी मुक्तिकी अवस्थामें हमें उस कर्मका सम्यक् आचरण करनेका आदेश मिलता है जो 'कार्यं कर्म' है—'कार्यं कर्म समाचर'। गीताकी कर्म-योजना अत्यंत व्यापक है, इसमें 'सर्वकर्माणि' सब कर्मोंका समावेश है, यद्यपि सामाजिक कर्त्तव्य या नैतिक कर्त्तव्य भी इसमें आ जाते हैं, पर इतनेसे ही इसकी इति नहीं होती, 'कार्यं कर्म' इन सबका समावेश करता हुआ भी इन सबका अतिक्रम कर बहुत दूर निकल जाता है।

वह कार्य कर्म क्या है सो किसी व्यक्तिकी अपनी पसंदसे निश्चित नहीं होता; और न कर्ममें ही अधिकार और कर्मफलका त्याग ही गीताका महावाक्य है, बल्कि यह एक प्राथमिक उपदेश है जो योगपर्वतपर चढ़ना आरंभ करनेवाले शिष्यकी प्राथमिक अवस्थापर लागू होता है। आगे चलकर इससे बड़ा उपदेश प्राप्त होता है। क्योंकि बादमें गीता बड़े जोरके साथ यह बतलाती है कि मनुष्य कर्मका कर्त्ता नहीं है; कर्त्री प्रकृति है, त्रिगुणमयी शक्ति ही उसके द्वारा कर्म करती है और शिष्यको यह साफ-साफ देख लेना सीखना होगा कि कर्मका कर्त्ता वह नहीं है। इसलिये "कर्मण्येवाधिकारः" की भावना तभीतकके लिये है जबतक हम इस भ्रममें हैं कि हम कर्त्ता हैं; ज्योंही हमें अपनी चेतनाके अंदर यह अनुभव होता है कि हम अपने कर्मोंके कर्त्ता नहीं हैं, त्योंही कर्मफलाधिकारके समान ही कर्माधिकार भी मन-बुद्धिसे तिरोहित हो जाता है। तब कर्मविषयक सारे अहंकार, फलाधिकारके संबंधमें कहिये या कर्माधिकारके संबंधमें, समाप्त हो जाते हैं।

परंतु प्रकृतिका नियंतृत्व भी गीताका अंतिम वचन नहीं है। बुद्धिकी समता और फलका त्याग, ये केवल साधन हैं मन, हृदय और बुद्धिके साथ भगवत्-चैतन्यमें प्रवेश करने और उसमें रहनेके, और गीताने इस बातको स्पष्ट रूपसे कहा है कि इनसे तबतक साधनका काम लेना होगा जबतक साधक इस योग्य नहीं हो जाता कि वह इस भगवत्-चैतन्यमें रह सके या कम-से-कम अभ्यासके द्वारा इस उच्चतर अवस्थाका वह अपनेमें क्रमविकास न कर ले। अच्छा, तो अब ये भगवान् कौन हैं जिन्हें श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'हम' ही हैं? ये पुरुषोत्तम हैं, जो अकर्त्ता पुरुषके परे हैं, जो कर्त्री प्रकृतिके परे हैं, एकके ये आधार हैं और दूसरीके स्वामी हैं, ये वे प्रभु हैं जिनका ही यह सारा प्राकट्य है,

## उपदेशका सारमर्म

जो हमारी इस वर्त्तमान मायावशताकी अवस्थामें भी अपने जीवोंके हृदयमें विराज रहे हैं और जो प्रकृतिके कर्मोंके नियामक हैं, ये वे हैं जिनके द्वारा कुरुक्षेत्रकी समरभूमिकी सेनाएं जीवित होती हुई भी मारी जा चुकी हैं और जो अर्जुनको इस भीषण संहारकर्मका केवल यंत्र या निमित्तमात्र बनाये हुए हैं। प्रकृति उनकी केवल कार्यकारिणी शक्ति है। साधकको इस प्रकृतिशक्ति और उसके त्रिविध गुणोंके ऊपर उठना होगा, उसको त्रिगुणातीत होना होगा। उसे अपने कर्म प्रकृतिको नहीं समर्पित करने होंगे, जिनपर अब उसका कुछ भी दावा या 'अधिकार' नहीं है, बल्कि उसे अपने कर्म समर्पित करने होंगे उन परम पुरुषकी सत्तामें। अपना मन, अपनी बुद्धि, अपना हृदय, अपना संकल्प उन्हींमें रखकर आत्म-ज्ञानके साथ, भगवत्-ज्ञानके साथ, जगत्संबंधी ज्ञानके साथ, पूर्ण समता, अनन्य भक्ति और पूर्ण आत्म-दानके साथ उसे अपने कर्म करने होंगे उन प्रभुके भेंट-स्वरूप जो सारे आत्म-तप और समस्त यज्ञोंके स्वामी हैं। उनके संकल्पके साथ अपने संकल्पको तादात्म्य कर लेना होगा, उनकी चेतनासे सचेतन होना होगा और उन्हींको हमारे कर्मका निर्णय और आरंभ करने देना होगा। भगवान् गुरु अपने शिष्यकी शंकाओंका जो समाधान करते हैं वह यही है।

गीताका परम वचन, गीताका महावाक्य क्या है सो ढूंढ़कर नहीं निकालना है; गीता स्वयं ही अपने अंतिम श्लोकोंमें उस महान् संगीत-का परम स्वर घोषित करती है:—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।...
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।...

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

"अपने हृद्देशस्थित भगवान्‌की, सर्वभावसे, शरण ले; उन्हींके प्रसादसे तू पराशांति और शाश्वत पदको लाभ करेगा। जो ज्ञान गुह्य है उससे भी गुह्यतर यह मैंने तुझे बताया है। आगे उस गुह्यतम ज्ञानको सुन उस परम वचनको जो मैं अब तुझे बतलाता हूँ। मेरे मन-वाला हो जा, मेरा भक्त बन, मेरे लिये यज्ञ कर और मेरा ही नमन-पूजन कर; तू निश्चय ही मेरे पास आवेगा, क्योंकि तू मेरा प्रिय है। सब धर्मोंका परित्याग करके मुझ एककी शरण ले। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा; शोक मत कर।"

गीताका प्रतिपादन अपने-आपको तीन सोपानोंमें बांट लेता है, जिनपर चढ़कर कर्म मानव-स्तरसे ऊपर उठकर दिव्य स्तरमें पहुंच जाता है और वह उच्चतर धर्मकी मुक्तावस्थाके लिये नीचेके धर्म-बंधनोंको नीचे ही छोड़ जाता है। पहले सोपानमें कामनाका त्यागकर और पूर्ण समताके साथ मनुष्य कर्म करेगा, अपनेको कर्त्ता समझता हुआ यज्ञ रूपसे, यह यज्ञ वह उन भगवान्‌के लिये करेगा जो परम हैं और एक-मात्र आत्मा हैं, यद्यपि अभीतक उसने इनको स्वयं अपनी सत्तामें अनु-भव नहीं किया है। यह आरंभिक सोपान है। दूसरा सोपान है केवल फलेच्छाका त्याग नहीं बल्कि कर्त्तृत्वाभिमानकी परिसमाप्ति इस उपलब्धिमें कि आत्मा सम, अकर्त्ता, अक्षर तत्त्व है और सब कर्म विश्व-शक्तिके, प्रकृतिके हैं जो विषम, कर्त्री और क्षर शक्ति है। अंतिम सोपान है परम आत्माको वह परमपुरुष जान लेना जो प्रकृतिके नियामक

हैं और प्रकृतिगत जो यह जीव है वह उन्हींकी आंशिक अभिव्यक्ति है, वे ही अपनी पूर्ण परात्पर स्थितिमें रहते हुए भी प्रकृतिके द्वारा सारे कर्म कराते हैं। प्रेम, भजन, पूजन और कर्मोंका यजन सब उन्हींको अर्पित करना होगा; अपनी सारी सत्ता उन्हींको समर्पित करनी होगी और अपनी सारी चेतनाको ऊपर उठाकर इस भागवत चैतन्यमें सन्निविष्ट करना होगा जिसमें मानव-जीव भगवान्की, प्रकृति और कर्मोंसे परे जो दिव्य परात्परता है उसमें भागी हो सके और पूर्ण आध्यात्मिक मुक्तिकी अवस्थामें रहते हुए कर्म कर सके।

प्रथम सोपान है कर्मयोग, भगवत्प्रीत्यर्थ निष्काम कर्मोंका यज्ञ; और यहां गीताका जोर कर्मपर है। द्वितीय सोपान है ज्ञानयोग, आत्म-उपलब्धि, आत्मा और जगत्के सत्स्वरूपका ज्ञान; यहां उसका ज्ञानपर जोर है, पर साथ-साथ निष्काम कर्म भी चलता रहता है, यहां कर्ममार्ग ज्ञानमार्गके साथ एक तो हो जाता है पर उसमें घुलमिलकर अपना अस्तित्व नहीं खोता। तृतीय सोपान है भक्तियोग, परमात्माकी भगवान्के रूपमें उपासना और खोज; यहां भक्तिपर जोर है, पर ज्ञानका गौणत्व नहीं, यहां केवल ज्ञान उन्नत होता है, उसमें एक जान आ जाती है और वह कृतार्थ हो जाता है, और फिर भी कर्मोंका यज्ञ जारी रहता है; द्विविध मार्ग यहां ज्ञान, कर्म और भक्तिका त्रिविध मार्ग हो जाता है। और यज्ञका फल, एकमात्र फल जो साधकके सामने ध्येय रूपसे अभीतक रखा हुआ है, प्राप्त हो जाता है, अर्थात् भगवान्के साथ योग और परा भागवती प्रकृतिके साथ एकता।

---

# कुरुक्षेत्र

अब गीताके उपदेशक गुरुके इस विशाल सोपान-क्रमके पीछे-पीछे चलते हुए हम लोग आगे बढ़ें और मनुष्यके इस त्रिविध मार्गका उन्होंने जिस प्रकार अंकन किया है उसका निरीक्षण करें। यह मार्ग वही मार्ग है जिसपर चलनेवाले मनुष्यके मन, हृदय और बुद्धि उन्नत होकर उन परमको प्राप्त होते और उनकी सत्तामें सन्निविष्ट होते हैं जो समस्त कर्म, भक्ति और ज्ञानके परम ध्येय हैं। परंतु इसके पूर्व फिर एक बार उस परिस्थितिका विचार करना होगा जिसके कारण गीताका प्रादुर्भाव हुआ है और इस बार इसे इसके अत्यंत व्यापक रूपमें अर्थात् इसे मनुष्य-जीवनका और समस्त संसारका भी प्रतीक मानकर देखना होगा। कारण यद्यपि अर्जुनको केवल अपनी ही परिस्थितिसे, अपने ही आंतरिक संघर्ष और कर्म-विधानसे मतलब है, तथापि जैसा कि हम लोग देख चुके हैं, जो खास प्रश्न अर्जुनने उठाया है और जिस ढंग-से उठाया है उससे वास्तवमें मनुष्य-जीवन और कर्मका ही सारा सवाल उपस्थित होता है। यह संसार क्या है और क्यों है और यह जैसा कुछ है इसमें कैसे यहांके इस सांसारिक जीवनका आत्मजीवनके साथ मेल बैठे ? और इस गहरे और कठिन विषयको श्रीगुरु हल करके दिखाया

चाहते हैं, क्योंकि उसीकी बुनियादपर वे उस कर्मको करनेका आदेश देते हैं जिसे सत्ताकी एक नवीन समतुल्य अवस्थासे और मोक्षप्रद ज्ञानके प्रकाशमें करना होगा।

तब फिर वह कौनसी चीज है जो उस मनुष्यके लिये कठिनाई उत्पन्न करती है जिसे इस संसारको, जैसा कि यह है, स्वीकार करना है और इसमें कर्म करना है और फिर भी रहना है अपने अंदरकी सत्तामें, आध्यात्मिक जीवनमें? संसारका वह कौनसा पहलू है जो उसके जागृत मनको व्याकुल कर देता और उसकी ऐसी अवस्था हो जाती है जिसके कारण गीताके प्रथम अध्यायका नाम बड़े ही अर्थगंभीर शब्दोंमें "अर्जुन-विषाद-योग" पड़ा—वह विषाद और निरुत्साह जो मानव-जीवको तब अनुभूत होता है जब यह संसार जैसा है ठीक वैसा ही अपने असली रूपमें उसके सामने आता है और उसे उसका सामना करना पड़ता है, जब न्यायनीति और नेकीके भ्रमका परदा उसकी आंखोंके सामनेसे, उसका और किसी बड़ी चीजके साथ मेल होनेसे पहले ही, फट जाता है? यह वही पहलू है जिसने बाह्यतः कुरुक्षेत्रके नरसंहार और रक्तपातके रूपमें आकार ग्रहण किया है और अध्यात्मतः समस्त वस्तुओंके स्वामीके कालरूप-दर्शनमें जो अपने सृष्ट प्राणियोंको निगलने, चबा जाने और नष्ट करनेके लिये प्रकट हुए हैं। यह दर्शन अखिल विश्वके उन प्रभुका दर्शन है जो विश्वके स्रष्टा हैं पर साथ ही विश्वके संहारकर्त्ता भी, जिनका वर्णन प्राचीन शास्त्रकारोंने बड़ी ही निर्दय प्रतिमाके रूपमें यों किया है कि "ऋषिमुनि और रथी-महारथी इनके भोज्य हैं और मृत्यु इनके जेवनारके लिये दी जानेवाली बघार है।" एक ही सत्यके ये दोनों रूप हैं, वही सत्य पहले जीवनके तथ्योंमें अप्रत्यक्ष और अस्पष्ट रूपसे देखा गया, फिर वही सत्य अंतरात्माकी दृष्टिसे

प्रत्यक्ष और स्पष्ट रूपमें उस तत्त्वके रूपमें देखा गया जो तत्त्व अपने-आपको जीवनमें व्यक्त किया करता है। इसका बाह्य पहलू जगत्-जीवन और मानव-जीवन है जो लड़ते-भिड़ते और मारते-काटते हुए आगे बढ़ते हैं; अंतरंग पहलू है विराट् पुरुष जो विराट् सर्जन और विराट् संहारके द्वारा अपने-आपको पूर्ण करते हैं। जीवन एक युद्ध है, संहार-क्षेत्र है, यही कुरुक्षेत्र है; ये भगवान् महारुद्र हैं, यही दर्शन अर्जुनको उस समरभूमिमें हुआ था।

हेराक्लिटसका कहना है कि, युद्ध सब वस्तुओंका जनक है, युद्ध सबका राजा है। इस ग्रीक तत्त्ववेत्ताके अन्य सूत्र-वचनोंके समान यह सूत्र-वचन भी एक बड़े गंभीर सत्यका सूचक है। जड़प्राकृतिक या अन्य शक्तियोंके संघर्षके द्वारा ही इस जगत्की प्रत्येक वस्तु जनमती हुई मालूम पड़ती है; शक्तियों, प्रवृत्तियों, सिद्धांतों और प्राणियोंके परस्पर-संघर्षसे यह जगत् आगे बढ़ता दीखता है,सदा नये पदार्थ उत्पन्न करते हुए और पुराने नष्ट करते हुए यह आगे बढ़ा चला जा रहा है—किधर जा रहा है, किसीको ठीक पता नहीं; कोई कहते हैं यह अपना संपूर्ण नाश करनेकी ओर जा रहा है; और कोई कहते हैं, यह व्यर्थके चक्कर काट रहा है और इन चक्करोंका कोई अंत नहीं; आशावादिताका सबसे बड़ा सिद्धांत यह है कि ये चक्कर प्रगतिशील हैं और हर चक्करके साथ जगत् अधिकाधिक उन्नतिको प्राप्त होता है, रास्तेमें चाहे जो कष्ट और गड़बड़सा देख पड़े, पर यह जगत् जा रहा है बराबर किसी दिव्य अभीष्ट-सिद्धिके अधिकाधिक समीप ही। यह जो कुछ हो, इसमें संदेह नहीं कि यहां संहारके विना कोई निर्माण-कार्य नहीं होता, अनेकविध यथार्थ और संभावित बेसुरेपनको जीतकर परस्पर-विरोधी शक्तियोंका संतुलन किये विना कोई सामंजस्य नहीं होता; केवल इतना

ही नहीं, बल्कि जबतक हम निरंतर अपने-आपको ही न खाते रहें और दूसरोंके जीवनको न निगलते रहें तबतक इस जीवनका निरवच्छिन्न अस्तित्व भी नहीं रहता। हमारा शारीरिक जीवन भी ऐसा ही है जिसमें हमें बराबर मरना और मरकर जीना पड़ता है, हमारा स्वयं शरीर भी फौजोंसे घिरा हुआ एक नगर जैसा है, आक्रमणकारी फौजें इसपर आक्रमण करती हैं और संरक्षणकारी फौजें इसका संरक्षण करती हैं और इन फौजोंका काम एक-दूसरीको खा जाना है—और यह तो हमारे सारे जीवनका केवल एक नमूना ही है। सृष्टिके आरंभसे ही मानो यह आदेश चला है कि, "तू तबतक विजयी नहीं हो सकता जबतक अपने साथियोंसे और अपनी परिस्थितिसे युद्ध न करेगा; बिना युद्ध किये, बिना संघर्ष किये और बिना दूसरोंको अपने अंदर हजम किये तू जी भी नहीं सकता। इस जगत्का पहला नियम जो मैंने बनाया वह संहारके द्वारा ही सर्जन और संरक्षणका नियम है।"

प्राचीन शास्त्रकारोंने जगत्का सूक्ष्म निरीक्षण करके जो कुछ देखा उसके फलस्वरूप उन्होंने इस आरंभिक विचारको स्वीकार किया। अति प्राचीन उपनिषदोंने इस बातको बहुत ही स्पष्ट रूपसे देखा और इसका एकदम साफ और निर्भूल शब्दोंमें वर्णन किया। ये उपनिषद् सत्यके संबंधमें किसी चिकनी-चुपड़ी बातको या किसी आशावादी मतमतांतरको सुनना भी नहीं पसंद करते। भूख जो मृत्यु है, ये उपनिषद् कहते हैं कि वही इस जगत्का स्रष्टा और स्वामी है, और उन्होंने प्राणमय जीवनको यज्ञके अश्वका रूपक दिया है। जड़तत्त्वको उन्होंने अन्न कहा है, उनका कहना है कि हम इसे अन्न इसलिये कहते हैं कि यह खाया जाता है और प्राणियोंको यह खा जाता है। भक्षक भक्षण कर भक्ष्य होता है, यही इस जड़प्राकृतिक जगत्का मूल सूत्र है, और

इसी बातका डारविन मतवादियोंने फिरसे आविष्कार किया है जब कि उन्होंने यह कहा कि जीवन-संग्राम विकसनशील सृष्टिका विधान है। आधुनिक सायंसने उन्हीं सत्योंको केवल नवीन शब्दोंमें ढालकर प्रकट किया है जो सत्य उपनिषदोंके वर्णित रूपकोंमें या हेराक्लिटसके वचनोंमें बहुत अधिक जोरदार, व्यापक और ठीक-ठीक अर्थ देनेवाले सूत्रोंमें बहुत पहले ही उक्त हो चुके थे।

नीतशेका यह आग्रहपूर्वक कहना है कि युद्ध जीवनका एक पहलू है और आदर्श मनुष्य वही है जो योद्धा है—आरंभमें वह ऊँट-प्रकृतिवाला हो सकता है और उसके बाद शिशु-प्रकृतिवाला, पर मध्यमें उसे सिंह-प्रकृतिवाला मनुष्य होना पड़ेगा यदि उसे पूर्णत्व प्राप्त करना है। नीतशेने अपने इन मतोंसे लोकाचार और व्यवहारके लिये जो सिद्धांत निकाले उनसे हमारा चाहे जितना मतभेद क्यों न हो, पर उसके इन लोकनिंदित मतोंमें कोई ऐसा तथ्य भी है जो अस्वीकार नहीं किया जा सकता, बल्कि उससे एक ऐसे सत्यका स्मरण होता है जिसे हम लोग सामान्यतः अपनी दृष्टिकी ओट रखना पसंद करते हैं। यह अच्छा है कि हम लोगोंको उस सत्यकी याद दिलायी जाय; क्योंकि एक तो, प्रत्येक बलवान् आत्मापर इसको देख लेनेका बड़ा ही बलवर्द्धक परिणाम होता है और खूब मीठी-मीठी दार्शनिक, धार्मिक या नैतिक भावुकताओंके कारण जो सुस्ती छा जाती है उससे हम बच जाते हैं; इस प्रकारकी भावुकताका यह परिणाम होता है कि लोग प्रकृतिको प्रेम, सौंदर्य और कल्याणस्वरुप ही देखना पसंद करते हैं और उसके कराल कालरुपसे भागते हैं, ईश्वरको शिवरूपसे तो पूजते हैं, पर उसके रुद्र रूपकी पूजा करनेसे इनकार करते हैं; दूसरे यह कि जीवन जैसा कुछ है उसको वैसा ही यथावत् देखनेकी सचाई और साहस यदि हममें न

होगा तो इसमें जो विविध द्वंद्व और परस्पर-विरोध हैं उनका समाधान करनेवाला कोई अमोघ उपाय हमें कभी प्राप्त नहीं हो सकता। पहले हमें यह देखना होगा कि यह जीवन क्या है और यह जगत् क्या है; तब इस बातको ढूँढ़ने चलना अधिक अच्छा होगा कि इस जीवन और जगत्को, जैसे ये होने चाहियें उस रूपमें रूपांतरित करनेका ठीक रास्ता कौनसा है। यदि संसारके इस अप्रिय लगनेवाले पहलूमें कोई ऐसा रहस्य हो जो इसके अंतिम सामंजस्यको ले आनेवाला हो, तो इसकी उपेक्षा या अवहेलना करनेसे हम उस रहस्यको नहीं पा सकेंगे और इस प्रश्नको हल करनेके हमारे सारे प्रयास, प्रश्नके वास्तविक तत्त्वों-की मनमानी उपेक्षा करनेके दोषके कारण, विफल हो जायंगे। दूसरी ओर, यदि वह शत्रु ही हो और उसे मारने,कुचल डालने, जड़से उखाड़ फेंकने या नष्ट करनेका ही काम हो तो भी जीवनपर उसका जो प्रभाव या दखल जमा हुआ है उसे एक मामूलीसी बात समझना अथवा पुर-असर भूतकालमें तथा जीवनके जो यथार्थतः कार्यकारी सिद्धांत हैं उनमें इसकी जड़ कितनी मजबूतीके साथ जमी हुई है इस बातको देखनेसे इनकार करना, इससे अपना कुछ भी लाभ नहीं है।

युद्ध और संहारका विश्वव्यापी सिद्धांत हमारे इस ऐहिक जीवन-के निरे स्थूल पहलूसे संपर्क रखता हो यही नहीं, बल्कि यह हमारे मानसिक और नैतिक जीवनसे भी संपर्क रखता है। यह तो स्वतःसिद्ध ही है कि मनुष्यका जो वास्तविक जीवन है, फिर चाहे वह बौद्धिक हो या सामाजिक, राजनीतिक हो या नैतिक, उसमें हम विना संघर्षके— अर्थात् जो कुछ है और जो कुछ होना चाहता है इन दोनोंके बीचमें तथा इन दोनोंके पीछे जो कुछ है उसमें जबतक परस्पर युद्ध न हो ले तबतक हम एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते। मनुष्य और संसारकी

अवस्था इस समय जैसी है, कम-से-कम तबतकके लिये तो आगे बढ़ना, उन्नत होना और पूर्णावस्थाको प्राप्त करना तथा फिर भी, हमारे सामने अहिंसाके जिस सिद्धांतको मनुष्यका उच्चतम और सर्वोत्तम धर्म कहकर उपस्थित किया जाता है, उसका यथार्थतः और नितांततः पालन करना असंभव ही है। केवल आत्मबलका प्रयोग करेंगे ? युद्ध करके या भौतिक बलप्रयोगसे अपनी रक्षाका उपाय करके हम किसीका नाश नहीं करेंगे ? अच्छी बात है, और जबतक आत्मबल अमोघ न हो उठे तबतक चाहे मनुष्यों और राष्ट्रोंमें जो आसुरी बल है वह हमें रौंदता रहे, हमारे टुकड़े-टुकड़े करता रहे, हमारा जबह करता रहे, हमें जलाता रहे, भ्रष्ट करता रहे, जैसा करते हुए आज हम उसको देख रहे हैं, और तब यही होगा कि इस कामको वह अपनी मौजसे और बिना किसी बाधा-विघ्नके करेगा और आपने अपने अप्रतीकारके द्वारा उतनी ही जानें गंवाई होंगी जितनी कि दूसरे हिंसाका सहारा लेकर गंवाते हैं; फिर भी आपने एक ऐसा आदर्श तो रखा ही जो कभी अच्छी दशा लावे या कम-से-कम जिसको अच्छी दशा लानी चाहिये। परंतु आत्मबल भी, जब वह अमोघ हो उठता है तब, नाश करता है। वे ही लोग इस बातको जानते हैं जिन्होंने आंखें खोलकर इसका प्रयोग किया है कि, तलवार और तोप-बंदूकसे भी आत्मबल कितना अधिक भयंकर और नाशकारी होता है; और जो लोग अपनी दृष्टिको विशिष्ट कर्म और उसके सद्यःफलमें ही आबद्ध नहीं रखते वे ही यह भी देख सकते हैं कि आत्मबलके प्रयोगके बाद उसके जो परिणाम होते हैं वे कितने प्रचंड होते हैं, उनसे कितना नाश होता है और उतने नाशसे ही वह जीवन कितना बरबाद होता है जो कि उसीपर निर्भर करता और उसीसे पलता था। बुराई अकेली नहीं मारी जाती, उसके

साथ वे सब चीजें भी विनाशको प्राप्त होती हैं जो उससे पलती हैं; हम स्वयं हिंसाके सनसनाहट पैदा करनेवाले कर्मकी पीड़ासे भले ही बचें, पर इससे नाशका परिणाम कुछ कम नहीं होता।

फिर यह भी बात है कि जब-जब हम आत्मबलका प्रयोग करते हैं तब-तब हम अपने शत्रुके विरुद्ध एक बहुत ही प्रचंड कर्म-शक्ति खड़ी कर देते हैं, किंतु बादमें इस शक्तिकी क्रियाओंको अपने बसमें रखना हमारे सामर्थ्यके बाहर होता है। विश्वामित्रके क्षात्र बलके मुकाबले वसिष्ठ आत्मबलका प्रयोग करते हैं और परिणाम यह होता है कि हूण, शक और पल्लव सेनाएँ विश्वामित्रपर घहराकर टूट पड़ती हैं। आक्रमण और हिंसाकी अवस्थामें आध्यात्मिक पुरुषका शांत और निष्क्रिय रहना, संसारकी प्रचंड शक्तियोंको बदला लेनेके लिये जगा देता है; और इसलिये जो दुष्ट हैं उनको यों ही जगत्‌को पददलित करनेके लिये छोड़ न देकर, बलप्रयोग करके भी, उन्हें रोकना उनकी हानि करनेकी अपेक्षा उनपर दया करना ही है,—क्योंकि छोड़ देनेसे उनके ऊपर एक ऐसा कहर गुजरेगा जिसकी हम कभी इच्छा भी नहीं कर सकते। हमारे अपने हाथ पाक और साफ रहें, हमारे आत्मामें कोई दाग न लगे, इतनेसे ही संघर्ष और विनाशका जो विधान है वह संसारसे मिट नहीं जाता; इसकी जो जड़ है वही मानव-जातिमेंसे पहले उखड़ जानी चाहिये। केवल हाथपर हाथ धरके बैठ रहनेसे या जडत्ववश बुराईका कोई प्रतीकार करनेकी अनिच्छा या अक्षमतासे यह विधान नष्ट नहीं होगा; वास्तवमें संघर्ष करनेकी राजसिक वृत्तिसे उतनी हानि नहीं होती जितनी कि जड़ता और तमस्‌से होती है, कारण राजसिक संघर्ष जितना नाश नहीं करता उससे अधिक सर्जन करता है। इसलिये वैयक्तिक कर्मकी मीमांसाका जहांतक संबंध है वहांतक यह बात है कि संघर्ष-

संग्रामसे तथा उसके फलस्वरूप होनेवाले नाशसे स्थूल और भौतिक रूपमें बचनेसे उसके अपने नैतिक भावकी सहायता हो सकती है, पर इस कामसे प्राणियोंका संहारकर्त्ता तो ज्यों-का-त्यों बना रहता है।

इस विषयपर और अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं। यह संहार-तत्त्व जगत्के अंदर जिस निर्मम प्राणशक्तिके साथ लगातार अस्तित्व रखता आया है, इस बातका साक्षी सारा-का-सारा मानव-जाति-का इतिहास है। हम इसकी उग्रताको ढांकने और दूसरे-दूसरे पहलुओंपर अधिक जोर देनेका प्रयास करते हैं, यह हम लोगोंके लिये स्वाभाविक ही है। युद्ध और विनाश ही सब कुछ नहीं हैं; यहां जैसी कि विच्छेद और परस्पर-संघर्षकी संहारक शक्ति है वैसी ही परस्पर-संघ और साहाय्यकी संरक्षक शक्ति भी है; अपनी ही धाक जमानेवाली अहंकारसे भरी हुई जैसी एक शक्ति है वैसी ही प्रेमकी भी एक शक्ति है; अपने लिये दूसरोंको बलि चढ़ानेका जैसा एक आवेग होता है वैसा ही दूसरोंके लिये अपना बलिदान करनेका भी एक आवेग होता है। पर जब यह देखेंगे कि इन सभोंके द्वारा कैसे क्या काम संसारमें हुआ है तब इनके जो परस्पर-विरोधी तत्त्व हैं उनकी ताकतपर मुलम्मा चढ़ाने या उनकी उपेक्षा करनेका लोभ हमें न होगा। संघशक्तिका उपयोग केवल पारस्परिक सहायताके लिये ही नहीं हुआ है बल्कि उसके साथ-साथ स्वसंरक्षण और पराक्रमणके लिये भी, इस जीवनसंग्राममें जो कोई हमारे ऊपर आक्रमण करता या हमारा प्रतिरोध करता है उसके विरुद्ध अपने-आपको बलवान् बनानेमें भी इसका उपयोग हुआ है। संघशक्ति-से काम लिया गया है युद्धके सहायक सेवकका, अहंकारके दासका और एक प्राणीका दूसरे प्राणीपर स्वत्त्व स्थापित करनेवाले चाकरका। प्रेम स्वयं भी बारंबार मृत्युकी एक शक्ति बनकर काम करता रहा है।

विशेषतः शुभके प्रेमको और भगवान्‌के प्रेमको मानव-अहंकारने जिस रूपमें गले लगाया उसके कारण बहुतसी लड़ाई-भिड़ाई, मार-काट और तबाही-बरबादी हुई है। आत्मबलिदान बहुत बड़ी चीज है, पर बड़े-से-बड़े आत्मबलिदानका भी यही अर्थ होता है कि हम मृत्युके द्वारा जीवनके सिद्धांतको ही सकारते हैं और इस भेंटको हम उस शक्तिकी वेदीपर बलि चढ़ाते हैं जो बलि चाहती है इसलिये कि इष्ट कार्य सिद्ध हो। चिड़िया अपने बच्चोंकी रक्षाके लिये घातक पशुका सामना करती है, देशभक्त अपने देशकी स्वतंत्रताके लिये अपने शरीरकी आहुति देता है, धर्मात्मा धर्मपर न्योछावर होता है और भावुक अपनी भावनापर, ये सब प्राणी-जीवनकी कनिष्ठसे लेकर श्रेष्ठ कोटियोंतकमें, आत्मबलिदानके सर्वोत्कृष्ट दृष्टांत हैं, और यह स्पष्ट है कि ये किस बातकी गवाही देते हैं।

परंतु यदि हम इन सबके पश्चात्-कालीन परिणामोंपर ध्यान दें तो सुलभसी हमारी आशावादिता और भी अधिक दुर्लभ हो जाती है। देखिये, एक देशभक्त है, उसने अपने प्राण त्याग दिये इसलिये कि उसका देश स्वतंत्र हो; वह देश स्वतंत्र हुआ, इसके लिये उस देशभक्तने जो रक्तदान किया और जो दुःख उठाया उसकी कीमत कर्मके ईश्वरने उसे चुका दी; अब इसके ४०-५० वर्ष बाद उस देशको निहारिये, अब आप क्या देखते हैं—अब उसी देशकी बारी आयी है और वह अत्याचारी, लुटेरा और उपनिवेशों और मातहत देशोंका विजेता बन बैठा है और दूसरोंको इसलिये खाये जा रहा है कि वह जीता रहे और जीवनमें पराक्रमणके द्वारा आगे बढ़ता रहे। ईसाई शहीद साम्राज्य-शक्तिके मुकाबले आत्मशक्तिको लगाकर हजारोंकी संख्यामें मर मिटे, इसलिये कि ईसाकी जय हो, ईसाई-धर्मकी धाक जमे। आत्मबल विजयी हुआ, ईसाई-धर्मकी धाक जमी, पर ईसाकी

नहीं; विजयी धर्म लड़ाकू और हुकूमत करनेवाला संप्रदाय बन गया, जिस मत और साम्राज्यको हटाकर इसने अपना प्रभुत्व जमाया, उससे भी अधिक आततायी और अत्याचारी यह बन बैठा। धर्म भी पारस्परिक संघर्ष-शक्तियोंमें संगठित हो जाते हैं और संसारमें रहने, बढ़ने और उसपर अपनी धाक जमानेके लिये परस्पर भीषण संग्राम करते हैं।

इन सब बातोंसे यही प्रकट होता है कि इस जगत्के जीवनमें कोई ऐसा तत्त्व है, कदाचित् वह आदि तत्त्व ही हो, जिसपर कैसे विजय प्राप्त होती है यह हम नहीं जानते और इसका कारण या तो यह है कि यह जीता ही नहीं जा सकता अथवा यह कि हमने इसको ऐसी बलवान् और पक्षपातरहित दृष्टिसे देखा ही नहीं कि हम इसको स्थिरता और निष्पक्षताके साथ पहचान सकें और यह जान लें कि यह क्या चीज है। यह जीवन जैसा है इसका हमें मुकाबला करना होगा यदि हमारा उद्देश्य प्रश्नका वास्तविक समाधान कराना है, फिर वह समाधान चाहे कुछ भी हो। और जीवनका मुकाबला करनेका अर्थ है ईश्वरके हर पहलूको देख सकना; कारण ईश्वर और जीवन एक दूसरेसे पृथक् नहीं किये जा सकते और न जगत्-जीवनसंबंधी विधानोंका उत्तरदायित्व उन भगवान्से हटाया जा सकता है जिन्होंने कि इन्हें बनाया या उससे अलग किया जा सकता है जो इसमें व्याप्त है। इस संबंधमें भी हम लोग वास्तविकताको मृदु, मधुर और भ्रामक रूप देकर दिखाना पसंद करते हैं। हम लोग एक ऐसे ईश्वरको गढ़ लेते हैं जो प्रेमस्वरूप हैं, दयामय हैं, एक ऐसे ईश्वरको जो न्याय, सद्गुण और सदाचार-संबंधी हमारी नैतिक धारणाओंके अनुसार न्यायकर्त्ता, सद्गुणी और सदाचारी हैं और बाकी जो कुछ है उसके संबंधमें हम यह कहते हैं कि वह ईश्वर नहीं है न ईश्वरका उससे कुछ वास्ता है, वह

किसी शैतानकी सृष्टि है जिसे किसी कारणवश ईश्वरने उसकी दुष्ट इच्छा पूरी करने दी अथवा वह अंधकारके स्वामी अहिर्मनकी सृष्टि है जो शिवस्वरूप अहुर्मज्दकी मंगलमय कृतिको धूलमें मिलाना चाहता है, अथवा यह स्वार्थी और पापी मनुष्यका ही काम है जो उसने ईश्वरकी मूल निर्दोष सृष्टिको बिगाड़ डाला। मानो प्राणीजगत्‌में मृत्यु और ग्रसनका जो विधान है और यहां जो भीषण प्रक्रिया कार्य कर रही है जिसके द्वारा प्रकृति ही वास्तवमें सृष्टि करती है, उसकी स्थिति भी रखती है, पर उन्हीं हाथों और अपने उसी गहन कर्मसे संहार भी करती है,— यह सब मनुष्यका ही रचा हुआ है। संसारमें कुछ ही धर्म ऐसे हैं जिन्होंने भारतके इस आर्यधर्मके समान निःसंकोच यह कहनेका साहस किया हो कि यह जो रहस्यमय विश्वशक्ति है वह एक ही भगवत्तत्व है, एक ही त्रिमूर्ति है; यही धर्म यह कह सका है कि जो शक्ति इस जगत्-कर्ममें व्याप्त है वह केवल दुर्गतिहारिणी सर्वोपकारिणी दुर्गा ही नहीं बल्कि रणरंगिनी संहार-नृत्यनर्त्तकी करालवदना काली भी हैं और "यह भी माता हैं;" इन्हें भी परमेश्वरी जानो और साहस हो तो इनका भी पूजन करो। यह बात बड़े मार्केकी है कि जिस धर्ममें ऐसी अचल सत्यनिष्ठा और ऐसा प्रचंड साहस रहा, उसीमें यह भी सामर्थ्य हुआ कि उसने ऐसी गंभीर और व्यापक आध्यात्मिकताका निर्माण किया कि जैसा और किसीसे भी नहीं बन पड़ा। कारण सत्य ही वास्तविक आध्यात्मिकताका आधार है और साहस उसका प्राण। "तस्यै सत्यं आयतनम्।"

इन सब बातोंका यह अभिप्राय नहीं है कि संग्राम और विनाश ही जीवनका अथ और इति है या यह कि सामंजस्य संग्रामसे बड़ी चीज नहीं है, प्रेम मृत्युकी अपेक्षा भगवान्‌का अधिक प्रकट रूप नहीं

है, या यह कि हम लोगोंको भौतिक बलका स्थान आत्मबलको, युद्धका स्थान शांतिको, फूटका स्थान एकत्वको, ग्रसनका स्थान प्रेमको, अहंभावका स्थान विश्वभावको, मृत्युका स्थान अमर जीवनको न देना चाहिये। भगवान् केवल संहारकर्त्ता ही नहीं हैं बल्कि सब प्राणियों के सुहृद् हैं; केवल विश्वके त्रिदेव ही नहीं बल्कि परात्पर पुरुष हैं; करालवदना काली स्नेहमयी सर्वमंगला माता भी हैं; कुरुक्षेत्रके स्वामी दिव्य सखा और सारथी हैं, सब प्राणियोंके मनमोहन हैं, अवतार श्रीकृष्ण हैं। वे इस संग्राम और संघात और विशृंखलामेंसे होकर हमें चाहे जिधर ले जा रहे हों, चाहे जिस लक्ष्य या देवस्वरूपकी ओर हमें खींच रहे हों इसमें संदेह नहीं कि वे हमें इन सब पहलुओंके परे ले जा रहे हैं जिनपर हम दृढ़ होकर बहुत अधिक आग्रह कर रहे थे। पर कहां, कैसे, किस प्रकारकी पारंगततासे, किन साधनोंसे—यह हमें ढूँढ़ना होगा, और इसे ढूँढ़नेके लिये पहली आवश्यक बात यह है कि हम इस जगत्को जैसा कि यह है वैसा देखें, और उनकी क्रिया आरंभमें और अब जैसे-जैसे दिखायी देती जाय वैसे-वैसे उसको देखते जायँ और उसका ठीक-ठीक मूल्य आंकते जायं, इसके बाद उनका मार्ग और लक्ष्य स्वयं प्रत्यक्ष हो जायंगे। हमें कुरुक्षेत्रको मानना होगा; मृत्युके द्वारा जीवनका जो विधान है उसे स्वीकार करना होगा, तभी हम अमर जीवनके पथका अनुसंधान कर सकते हैं; हमें अपनी आंखें खोलकर—अर्जुनकी से कम व्यथित दृष्टिसे—ईश्वरके कालरूपका दर्शन करना होगा और इस विश्वसंहारको अस्वीकार करने, उससे नफरत करने या उससे भय खाकर भागनेकी वृत्तिको छोड़ देना होगा।

---

## मनुष्य और जीवन-संग्राम

इस प्रकार गीतोपदेशको यदि हम उसके व्यापक उदार रूपमें समझना चाहते हैं तो हमें जगत्के व्यक्त रूप और क्रमके संबंधमें गीताकी ही दृष्टि अपनी बुद्धिमें ले आनी होगी और उसी निर्भीकताके साथ उसे देखना होगा। कुरुक्षेत्रके सारथी भगवान् एक ओर तो सर्वलोक-महेश्वर, सब प्राणियोंके सुहृद् और सर्वज्ञ गुरु हैं और दूसरी ओर संहारक काल हैं जो "यहां इन सब लोगोंका संहार करनेमें प्रवृत्त हुए हैं (लोकान् समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः)।" गीताने उदार हिंदूधर्मके सारभावका ही अनुसरण करके इस काल-रूपको भी भगवान् कहा है; गीता जगत्की पहेलीको टालनेके लिये जगत्मेंसे किसी बगलके दरवाजेसे निकल भागनेकी कोई चेष्टा नहीं करती। और यदि सचमुच ही संसारको हम किसी असंस्कृत विवेकशून्य जड़प्राकृतिक शक्तिकी ही कोई यांत्रिक क्रियामात्र नहीं समझते अथवा दूसरी ओर किसी अनादि शून्यसे उत्पन्न हुई भावनाओं और शक्तियोंकी वैसी ही यांत्रिक क्रीड़ामात्र नहीं मानते या यह भी नहीं मानते कि यह अक्रिय आत्मामें होनेवाला केवल एक आभास है या अलिप्त अचल अक्षर परब्रह्मके ऊपरी तलके चैतन्यमें होनेवाला यह केवल एक मिथ्या दुःस्वप्न या

स्वप्नका ही क्रम-विकास है और स्वयं परब्रह्म उससे विचलित नहीं होता न उसमें वस्तुतः उसका कोई हाथ ही है; अर्थात् यदि हम इस बातको जरा भी मानते हैं, जैसा कि गीता मानती है कि, भगवान् हैं और वे सर्वव्यापी हैं, सर्वज्ञ हैं और सर्वशक्तिमान् हैं और फिर भी सबके परे रहनेवाले परमपुरुष हैं जो जगत्को प्रकट कर स्वयं भी उसमें प्रकट होते हैं, जो अपनी माया, प्रकृति या शक्तिके दास नहीं बल्कि प्रभु हैं, जिनकी जगत्-परिकल्पना या योजनाको उनके द्वारा सृष्ट कोई भी जीव-जंतु, मानव-दानव इधर-उधर या उलट-पलट नहीं कर सकते, जो अपनी सृष्टि या अभिव्यक्तिके किसी भागके उत्तरदायित्वको अपने सृष्ट या अभिव्यक्त प्राणियोंके ऊपर लादकर स्वयं उससे बरी होनेकी कोई जरूरत नहीं रखते—यदि हम ऐसा मानते हैं—तब तो आरंभसे ही मानव-प्राणीको एक महान् और महा कठिन श्रद्धाको धारण करके ही आगे बढ़ना होगा। मानव-प्राणी एक ऐसे जगत्में आया है जहां ऊपरसे ऐसा दिखायी देता है कि लड़ाकू शक्तियोंने यहां एक भीषण विश्रृंखला कर रखी है, बड़ी-बड़ी और अंधकारकी शक्तियोंका संग्राम छिड़ा हुआ है, जहांका जीवन एक ऐसा जीवन है जो सतत परिवर्तन और मृत्युके द्वारा ही टिका हुआ है जो व्यथा, यंत्रणा, अमंगल और विनाशकी विभीषिकाद्वारा चारों ओरसे घिरा हुआ है, ऐसे इस जगत्के अंदर उसे सर्वव्यापी ईश्वरको देखना होगा और इस बातसे सचेतन होना होगा कि इस पहेलीका कोई हल अवश्य है और यह कि जिस अज्ञानमें वह इस समय वास करता है उसके परे कोई ऐसा ज्ञान है जो इन विरोधोंको मिटाता है, उसको इस श्रद्धा और विश्वासके आधारपर खड़े होना होगा कि, "तू मुझे मार भी डाले, तो भी मैं तेरा भरोसा न छोड़ूंगा।" समस्त सक्रिय या दृढ़ मानव-विचार या श्रद्धाके

अंदर सचमुचमें इस प्रकारका भाव रहता है, फिर चाहे इस विचार या श्रद्धाको रखनेवाला मनुष्य ईश्वरवादी हो, आस्तिक हो, विश्वदेववादी (Pantheistic) हो, या नास्तिक, तब हो सकता है कि किसीमें इस विचार और श्रद्धाकी अभिव्यक्ति और पूर्णता कम हो तो किसीमें अधिक। इसमें कोई स्वीकृति होती है और कोई विश्वास भी, स्वीकृति इस बातकी कि संसारमें सर्वत्र अनबन है और विश्वास इस बातका कि कोई भागवत तत्त्व भी है—विश्वपुरुष अथवा प्रकृति जो भी कहिये—जिसके बलसे हम इन परस्पर-विरोधोंको पार कर सकते हैं, जीत सकते हैं या समन्वित कर सकते हैं, कदाचित् एक साथ तीनों ही बातें कर सकते हैं, इनको जीतकर और इनको पार कर हम इन्हें समन्वित कर सकते हैं।

तब, मनुष्य-जीवन जैसा कुछ है उसके संबंधमें हमें यह मानना होगा कि इसका एक पहलू संघर्ष और युद्ध भी है जिसकी भीषणता बढ़ती-बढ़ती कुरुक्षेत्रके महासंग्राम जैसे भीषण प्रसंगोंमें पर्यवसित होती है। गीता, जैसा कि हम लोग पहले देख चुके हैं, परिवर्तन और संकटके एक ऐसे ही कालके प्रसंगसे उद्भूत होती है जो मानव-जातिके इतिहासमें पुनः-पुनः आया करता है और इस कालमें बड़ी-बड़ी शक्तियां किसी भीषण बौद्धिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, राजनीतिक ध्वंस और पुनर्निर्माणके लिये एक-दूसरीसे टकरा जाती हैं और इनका मनुष्यके विकासकी आंतरिक और सामाजिक अवस्थापर साधारणतया जो वास्तविक परिणाम होता है वह यह कि संघर्ष और क्रांतिका एक भीषण भौतिक आंदोलन खड़ा हो जाता है। गीताका प्रारंभ ही इस बातकी मान्यतासे होता है कि ऐसे भीषण क्रांतिकारक प्रसंग प्रकृतिमें प्रयोजनीय होते हैं, केवल उनका नैतिक पहलू ही नहीं अर्थात्

अधर्म और धर्ममें, शुभके स्वप्रस्थापित होते जाते हुए विधान और उसकी प्रगतिको रोकनेवाली शक्तियोंमें जो युद्ध होता है उन्हींका नहीं, बल्कि उनका भौतिक अंग भी अर्थात् शुभाशुभ शक्तियोंके प्रतिनिधि-स्वरूप जो मनुष्य हैं उनके बीच सशस्त्र संग्राम अथवा अन्य किसी प्रकारका प्रचंड शारीरिक युद्ध भी आवश्यक होता है। यहां हमें यह बात स्मरण रखनी होगी कि गीताकी रचना ऐसे समयमें हुई है जब युद्ध मानव-कर्मण्यताका अबसे भी अधिक आवश्यक अंग था और युद्धके बिना जीवनकी योजना उस समय एक असंभव योजना होती। मनुष्योंमें विश्वव्यापी शांति और सद्भावको स्थापित करनेका उपदेश—क्योंकि विश्वव्यापी शांति और पूर्ण सद्भावके बिना सच्ची और स्थायी शांति नहीं हो सकती—हमारी अभीतककी उन्नतिके इतिहासमें कभी एक क्षणके लिये भी मानव-जीवनको अधिकृत नहीं कर सका है, कारण जातिकी नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक अवस्था इसके लिये तैयार नहीं थी और विकासात्मक प्रकृतिकी अभीतक जो हालत थी उसके कारण वह इस प्रकारकी इजाजत नहीं दे सकती थी कि मानव-जाति ऐसी उच्चतर स्थितिके लिये एकाएक तैयार कर ली जाय। आज भी हम लोग सिवाय इसके जरा भी आगे नहीं बढ़े हैं कि परस्पर विरुद्ध स्वार्थोंके बीच संभवतः कोई ऐसा समझौता कर लिया करें जिससे अति भीषण और बीभत्स संघर्ष-संग्राम कुछ कम हो जायं। और इसके लिये मनुष्य-जातिको अपनी ही प्रकृतिके वश जिस उपाय और जिस ढंगका अवलंबन करना पड़ता है वह है परस्पर एक ऐसा महाभयंकर रक्तपात ही जिसका इतिहासमें कोई जोड़ नहीं! अर्थात् आधुनिक मनुष्यको जगत्व्यापी शांतिकी स्थापनाका जो सीधा और सफल मार्ग मिला है वह है कटुता और दुर्दमनीय द्वेपसे परिपूर्ण विश्व-

व्यापी महायुद्ध! ऐसी इस शांतिकी स्थापनाके मूलमें भी कोई ऐसा भाव नहीं है जो मनुष्य-स्वभावके आमूल परिवर्तनसे उत्पन्न हुआ हो, बल्कि मनुष्योंकी जैसी बौद्धिक धारणाएं हैं, आर्थिक सुविधाका जो ख्याल है, प्राणहानिके भयसे उनके प्राण और उनकी भावुकता जो कांप उठती है, युद्धसे उनको जो असुविधा और घबराहट होती है उसीसे ऐसी शांतिकी इच्छा की जाती है और राजनीतिक अधिकारादि ले-देकर ही इस शांतिकी रक्षाका प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकारसे जो शांति स्थापित की जाती है उसकी नींव दृढ़ हो और वह बहुत कालतक स्थिर रहे, ऐसा भरोसा नहीं होता। एक दिन आ सकता है, बल्कि यह कहिये कि निश्चय ही आवेगा, जब मनुष्य-जाति आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक रूपसे इस बातके लिये तैयार होगी कि सर्वत्र शांतिका राज्य हो; पर जबतक वह नहीं होता तबतक किसी व्यावहारिक तत्त्वज्ञान और धर्मशास्त्रको यह मानकर ही चलना होगा कि युद्ध जीवनका एक अंग है और लड़ना मनुष्यका एक स्वभाव और कर्म है, और यह मानकर इनकी कोई विधि भी बैठानी होगी। गीता, भविष्यमें किस प्रकारका मानव-जीवन होगा, केवल इसीका विचार न करके उसका जो वर्तमान रूप है उसे भी देखती हुई यह प्रश्न उपस्थित करती है कि मनुष्य-जीवनका जो यह अंग है और मनुष्यका जो यह स्वभाव और कर्म है, जो वास्तवमें मनुष्यकी सर्वसाधारण कर्मण्यताका ही एक अंग और स्वभाव है, अर्थात् युद्ध और युद्ध करना, इसका उसकी आत्मिक स्थितिके साथ कैसे मेल बैठाया जाय।

इसीलिये गीता एक ऐसे पुरुषसे कही गयी है जो क्षत्रिय है, योद्धा है, कर्मी है, और युद्ध करना तथा संरक्षण करना जिसके जीवनका कर्त्तव्य है—युद्ध है उसके प्रजापालनधर्मका एक अंग उन लोगोंकी रक्षाके लिये

जो युद्ध-कर्मसे बरी हैं, जो अपनी रक्षा आप करनेसे अलग कर दिये गये हैं और इसलिये बलवान् और हिंसक मनुष्योंसे अपनेको नहीं बचा सकते, और फिर युद्धका एक और नैतिक भाव है, अर्थात् दीन-दुर्बलों और पीड़ितोंकी रक्षा और जगत्में धर्म और न्यायकी स्थापना। ये सभी सामाजिक और व्यावहारिक, नैतिक और वीरोचित भावनाएं क्षत्रिय शब्दके भारतीय भावके अंतर्गत आ जाती हैं, क्षत्रिय कर्मसे योद्धा और शासक होता है और स्वभावसे शूरवीर और राजा। यद्यपि हमारे लिये गीताके सर्वसामान्य और व्यापक सिद्धांत ही सबसे अधिक महत्त्व रखते हैं तथापि ये सिद्धांत जिस विशिष्ट भारतीय संस्कृति और समाज-व्यवस्थाके समयमें प्रादुर्भूत हुए और इस कारण इन सिद्धांतोंपर उस संस्कृति और व्यवस्थाका जो रंग चढ़ा है और जिस ओर इनका रुख है उनका कोई विचार न करके योंही छोड़ देना ठीक न होगा। उस समाजव्यवस्थाकी धारणा आधुनिक समाजव्यवस्थाकी धारणासे भिन्न थी। आधुनिकोंकी बुद्धिमें एक ही मनुष्य तत्त्वजिज्ञासु, योद्धा, कृषक, व्यवसायी और सेवक सब कुछ है और आजकलकी सामाजिक व्यवस्थाका रुख इस ओर है कि इन सब कर्मोंको मिला-जुला दिया जाय और प्रत्येक व्यक्तिसे समाजके बौद्धिक, सामरिक और आर्थिक जीवन और जरूरतके लिये उसका अपना हिस्सा मांगा जाय और इस बातमें उसकी अपनी प्रकृतिकी मांगपर कोई ध्यान न दिया जाय। प्राचीन भारतीय संस्कृतिमें व्यक्तिगत सहज गुण, कर्म, स्वभावका बहुत अधिक ध्यान रखा जाता था और इसी गुण कर्म स्वभावसे व्यक्तिमात्रका विशेष धर्म, कर्म और समाजमें उसका स्थान नियत करनेका प्रयत्न किया जाता था। उस कालमें मनुष्यको मूलतः एक सामाजिक प्राणी नहीं समझा जाता था न उसकी सामाजिक स्थितिकी पूर्ण संपन्नता ही सर्वोच्च आदर्श

माना जाता था, बल्कि यह मान्यता थी कि मनुष्य एक आध्यात्मिक जीव है जो क्रमशः संगठित और विकसित हो रहा है और उसका सामाजिक जीवन, उसका विशेष धर्म, उसके स्वभावकी क्रिया और उसके कर्मका उपयोग, ये सब उसके आध्यात्मिक संस्कारके साधन और अवस्था मात्र हैं। चिंतन और ज्ञान, युद्ध और राज्य-प्रबंध, शिल्प, कृषि और वाणिज्य, मजदूरी और सेवा, ये सब समाजके विधिपूर्वक बंटे हुए कर्म थे, जो सहज भावसे जिस कर्मके योग्य हुए उन्हींको वह कर्म सौंपा जाता था और वही कर्म उनका वह उचित साधन होता था जिसके द्वारा वे व्यक्तिशः अपनी आध्यात्मिक उन्नति और आत्मसिद्धिकी ओर आगे बढ़ सकते थे।

आधुनिकोंकी जो यह भावना है कि अखिल मानव-कर्मके सभी मुख्य-मुख्य विभागोंमें सब मनुष्योंको ही समान रूपसे योगदान करना चाहिये, इस भावनाके अपने कुछ लाभ हैं; और जहां भारतीय वर्णव्यवस्थाद्वारा अंतको यह परिणाम हुआ कि व्यक्तिके अनगिनत विभाजन हो गये, उसमें विशेषीकरणकी भरमार हो गयी तथा उसका जीवन संकुचित और कृत्रिम बंधनोंसे बंध गया वहां आधुनिक व्यवस्था समाजके जीवनको अधिक संघटित, एकत्रित और पूर्ण बनानेमें तथा संपूर्ण मानव-सत्ताका सर्वांगीण विकास करनेमें सहायता देती है। परंतु आधुनिक व्यवस्थाके भी अपने दोष हैं और इसके कतिपय व्यावहारिक प्रयोगोंमें इस व्यवस्थाका बहुत अधिक कठोरतापूर्वक उपयोग किये जानेके कारण उसका परिणाम बेढंगा और अनर्थकारी हुआ है। आधुनिक युद्धका स्वरूप देखनेसे ही यह बात स्पष्ट हो जायगी। जिस समाजमें मनुष्य रहता और पलता है उसकी रक्षा करना और उसके लिये लड़ना प्रत्येक व्यक्तिका कर्त्तव्य हो और इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपना क्षात्र कर्म

करनेके लिये बंधा हो, इस आधुनिक व्यवस्थाका यह परिणाम हुआ है कि राष्ट्रका सारा-का-सारा पुरुषत्व रक्तरंजित खाइयोंमें मरने और मारनेके लिये ढकेल दिया जाता है, तत्त्वजिज्ञासु, कलाकार, दार्शनिक, पुजारी, व्यवसायी और कारीगर, सब-के-सब अपने स्वाभाविक कर्मसे अलग कर दिये जाते हैं, समाजका सारा जीवन अव्यवस्थित हो जाता है, विचार और धर्माधर्म-विवेकका भाव क्षात्र धर्मके नीचे दब जाता है, यहांतक होता है कि जिस पुरोहितको राज्यकी ओरसे शांति और प्रेमके भावका प्रचार करनेके लिये वृत्ति मिलती है या यह काम जिसका सहज कर्म होता है उसे भी अपना धर्म त्याग देना पड़ता और अपने भाइयोंका कत्ल करनेके लिये, कसाई बन जाना पड़ता है ! इस प्रकारके लड़ाकू देशके आदेशद्वारा धर्माधर्मविवेक और मनुष्यके विशिष्ट स्वभावका ही उल्लंघन होता हो सो नहीं, बल्कि राष्ट्र-संरक्षणका भाव जब बढ़ते-बढ़ते उन्मादकी हदतक पहुंच जाता है तब इसका वह राष्ट्र-संरक्षण राष्ट्रीय आत्महत्यामें बदल जाना चाहता है ।

इसके विपरीत भारतीय संस्कृतिका यह मुख्य लक्ष्य था कि युद्ध और उससे होनेवाला अनर्थ और विनाश, जहांतक हो सके कम हो । इस उद्देश्यको पूरा करनेके लिये भारतीय समाज-व्यवस्थामें क्षात्र धर्म समाजकी ऐसी एक छोटीसी कक्षाके लोगोंमें ही परिसीमित कर दिया गया था जो अपने जन्म, स्वभाव और परंपरासे इस कर्मके लिये विशेष उपयुक्त थे और इस कर्ममें उनके साहस, उनकी अनुशासित शक्ति, उनकी परोपकारपरायणता, उनकी वीरतापूर्ण महानता आदि गुणोंकी वृद्धि होकर उनका आत्म-प्रस्फुटन होता था और फलतः यह जीवन उनके आत्म-विकासका एक साधन होता था, क्योंकि किसी उच्च आदर्श-को सामने रखकर जो लोग योद्धा-जीवन बिताते हैं उनके आत्म-विका-

सके लिये यह जीवन एक क्षेत्र और अवसर बन जाता है। इस प्रकार इस कर्मके जो अधिकारी थे उन्हींके जिम्मे यह युद्ध-कर्म कर दिया गया था; अन्य लोग इससे बरी थे और मारकाट और लूटमारसे उनकी हर तरहसे रक्षा की जाती थी, उनका जीवन और जीविका जहांतक संभव होता वहांतक इससे अलग ही रखे जाते थे। मानव-स्वभावमें युद्ध और संहार करनेकी जो प्रवृत्तियां होती हैं उनका क्षेत्र मर्यादित कर दिया गया था, उनकी एक जातिविशेषके अंदर ही हद बांध दी गयी थी और इस तरह युद्धसे होनेवाली राष्ट्रके सर्वसाधारण जीवनकी हानिकी संभावना यथासंभव कम कर दी गयी थी। इसके साथ ही युद्धका जैसा उच्च नैतिक आदर्श था और धर्मयुद्धके जो मनुष्योचित वीर और उदार नियम पालन किये जाते थे उनसे युद्ध योद्धाओंको क्रूर नरपशु बनानेका कारण नहीं बल्कि उन्हें उन्नत और उदार बनानेका ही कारण होता था। यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि गीता जो युद्ध करनेको कहती है वह ऐसा ही युद्ध था और इन्हीं अवस्थाओंके अंतर्गत लड़ा जाता था, वह युद्ध जो मानव-जीवनका एक अपरिहार्य अंग माना जाता था, पर वह इतना मर्यादित और संयमित था कि अन्य कर्मोंके समान यह कर्म भी मनुष्यके नैतिक और आध्यात्मिक विकासमें सहायक ही होता था, और यह नैतिक और आत्मिक विकास ही उस कालमें जीवनका एकमात्र और वास्तविक लक्ष्य था, वह युद्ध कतिपय छोटे-से दायरेके अंदर ही व्यक्तियोंके जीवनका संहार-कार्य करता था किंतु इस प्रकारके युद्धद्वारा योद्धाके आंतरिक जीवनका संगठन होता था और जातिकी नैतिक उन्नति होती थी। पूर्वकालमें उस उच्च आदर्शको सामने रखकर जो युद्ध किये जाते थे उनसे उत्कर्ष ही साधित होता था। यह बात चाहे चरमपंथी दुराग्रही शांतिवादी न स्वीकार करें, पर शौर्य और

वीरताको युद्धने ही विकसित किया है, भारतका क्षात्र धर्म और जापान-का सामुराई धर्म युद्धके ही फल हैं। हां, अपना काम कर चुकनेके बाद भले ही युद्ध संसारसे बिदा हो जाय; कारण इसकी उपयोगिता समाप्त हो जानेपर भी यदि यह बना रहना चाहे तो यह हिंसाकी एक अप्रशमित क्रूरताके रूपमें ही प्रकट होगा जिसमें युद्धका आदर्श और संग-ठनात्मक पहलू होगा ही नहीं और इसलिये मनुष्यका प्रगतिशील मन इसको त्याग देगा; परंतु जिस समय हम अपने विकासके इतिहासको विवेकपूर्वक देखेंगे तब तो पूर्वकालमें युद्धसे मनुष्य-जातिका जो उपकार हुआ उसकी उस उपकारिताको हमें मानना ही होगा।

अस्तु, भौतिक रूपसे जो युद्ध होता है वह जीवनमें युद्धरूपी जो एक सर्वसाधारण तत्त्व है उसकी एक विशेष और बाह्य अभिव्यक्तिमात्र है और मानव-जीवनकी पूर्णताके लिये जिस एक सर्वसाधारण वैशिष्ट्य-की आवश्यकता है क्षत्रिय उसीकी केवल एक बाह्य अभिव्यक्ति और नमूना मात्र है। हम लोगोंके क्या आंतरिक और क्या बाह्य, दोनों ही प्रकारके जीवनमें, संघर्षका जो एक पहलू है वही युद्धके रूपमें एक विशिष्ट भौतिक आकार धारण करके प्रकट होता है। यह संसार क्षेत्र ही है संघर्षका, यहांका तरीका ही यह है कि विभिन्न शक्तियां एक दूसरीसे टकरायं और भिड़ें और इस तरह परस्पर-संहारके द्वारा आगे बढ़ें एक ऐसे सतत परिवर्तनशील सामंजस्यकी ओर जो स्वयं किसी प्रगतिशील सुसं-गति-साधनका द्योतक होता है तथा पूर्ण समन्वयकी आशा दिलाता है, और इसका आधार होती है एकताकी एक ऐसी संभावना जो अभीतक पकड़में नहीं आयी है। मनुष्यमें जो योद्धृ भाव है वही क्षत्रिय-रूपमें प्रकट होता है। क्षत्रिय इसे अपने जीवनका उसूल बना लेता है और योद्धाके नाते युद्धका सामना करता हुआ आत्मविजयमें यत्नवान् होता

है, मानव शरीरों और रूपोंका संहार करनेमें तो वह नहीं हिचकता पर इस संहार-कर्ममें उसका लक्ष्य होता है किसी ऐसे सत्य, न्याय, धर्मके सिद्धांतकी उपलब्धि जो उस सामंजस्यकी बुनियाद हो सके जिसकी ओर यह सारा संघर्ष प्रवाहित हो रहा है। जगत्-चालिका शक्तिके इस पहलूको तथा युद्धके भौतिक तथ्यको—जो इस पहलूका केवल मूर्त्त रूप ही होता है—गीता स्वीकार करती है और युद्धका उपदेश करती है एक क्षत्रियको, अर्थात् उस मनुष्यको जो कर्मी है, उद्योगी है और योद्धा है, उस युद्धका उपदेश करती है जो अंदर में शांतिमय और बाहरमें अहिंसामय रहनेकी अंतरात्माकी जो उच्च अभीप्सा होती है उसके एकदम विपरीत पड़ता है, कहा जाता है उस योद्धासे जिसके युद्ध और कर्मका जो अपरिहार्य विक्षोभ होगा वह अंतरात्माके शांत प्रभुता और आत्म-अधिकृति जैसे उच्च आदर्शोंके सर्वथा विपरीत मालूम होता है। ऐसी परस्पर-विरोधिनी अवस्थाओंमेंसे गीता एक रास्ता निकालने और एक ऐसे स्थलपर पहुंचानेका प्रयास करती है जहां दोनों बातें बराबर होकर मिल जायं और वह संतुलित अवस्था हो जाय जो सामंजस्य और परा गतिका मूल और पहला आधार हो।

प्रत्येक मनुष्य जीवन-संग्रामका सामना अपनी प्रकृतिके सर्वोपरि प्रधान गुणके अनुकूल ढंगसे ही किया करता है। सांख्य सिद्धांतके अनुसार जगत्प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और इसलिये मनुष्य-स्वभाव भी त्रिगुणात्मक है। गीताको भी यह स्वीकार है। सत्त्व संतुलित अवस्था, ज्ञान और संतोषका गुण है; रज प्राणावेग, कर्म और द्वंद्वमय भावावेगका; और तम अज्ञान और जड़ताका। मनुष्यमें जब तमोगुणकी प्रधानता होती है तब वह मनुष्य अपने चारों ओर चक्कर काटनेवाली और अपने ऊपर आ धमकनेवाली जगत्-शक्तियोंके वेगों और धक्कोंका उतना

सामना नहीं करता, क्योंकि उनके सामने वह हिम्मत हार देता, उनके प्रभावमें आ जाता, शोकाकुल हो जाता और उनकी अधीनता स्वीकार कर लेता है ; अथवा अधिक-से-अधिक अपने अन्य गुणोंसे मदद पाकर किसी तरह बचे रहना भर चाहता है, जबतक टिक सके तबतक टिके रहना चाहता है, किसी ऐसे आचार-विचारसे बंधे जीवनक्रमके गढ़में छिप-कर अपनी जान बचाना चाहता है जिसमें पहुंचकर वह अपने-आपको किसी अंशमें इस संग्रामसे बचा हुआ समझे और यह समझे कि उसकी उच्चतर प्रकृति उससे जो कुछ मांग रही है उसको वह नट सकेगा तथा इस संघर्षको और आगे बढ़ाने और एक वर्धमान प्रयास एवं प्रभुत्वके आदर्शको चरितार्थ करनेकी मेहनतसे वह बरी हो सकेगा। रजोगुणकी जब प्रधानता होती है तब मनुष्य अपने-आपको युद्धमें झोंक देता है और शक्तियोंके संघर्षका उपयोग अपने ही अहंकारके लाभके लिये अर्थात् विरोधीको मारने-काटने, जीतने, उसपर प्रभुता पाने और जीवनका भोग करनेके लिये करता है; अथवा अपने सत्त्वगुणसे कुछ मदद पाकर इस संघर्षको अपनी आंतरिक प्रभुता, अंतःसुख-शक्ति-संपत्ति बढ़ानेका एक साधन बना लेता है। जीवन-संग्राम उसके आनंद और नशेकी चीज बन जाता है, इसका कारण कुछ तो यह होता है कि संघर्ष करना उसका स्वभाव होता है, इस तरहकी कर्मण्यतामें उसे एक सुख मिलता है और उसको अपनी शक्तिका अनुभव होता है और कुछ यह कि यह उसकी वृद्धि और स्वाभाविक आत्म-विकासका साधन होता है। जब सत्त्वगुणकी प्रधानता होती है तब मनुष्य संघर्षके बीचमें धर्म, सत्य, संतु-लित अवस्था, समन्वय, शांति, संतोषका कोई तत्त्व ढूंढ़ा करता है। विशुद्ध सात्त्विक मनुष्य इसीका अनुसंधान अपने अंदर करता रहता है, चाहे केवल अपने लिये ही करे अथवा यह भाव चित्तमें रखे कि जब

चीज हासिल होगी तब वह दूसरोंको भी दी जायगी, किंतु यह काम साधारणतया सक्रिय जगत्-शक्तिके झगड़े और कोलाहलसे अंतःनिवृत्त होकर अथवा बाह्यतः उनका त्याग ही करके किया जाता है; पर सात्विक मनुष्य जब अंशतः राजसी वृत्ति ग्रहण भी करता है तो इसको वह संघर्ष और बाहरी गड़बड़झालेके ऊपर संतुलित अवस्था और सामंजस्यको लादनेके लिये, युद्ध, अनबन और संघर्षपर शांति, प्रेम और सामंजस्य-को विजय दिलानेके लिये करता है। जीवन-समस्याको हल करनेके लिये मनुष्यका मन जो-जो ढंग इख्तियार करता है वे सब ढंग इन्हीं गुणोंमेंसे किसी एक गुणकी प्रधानतासे या इन गुणोंके बीच समतोलता और सामंजस्य स्थापित करनेके प्रयत्नसे ही उद्भूत होते हैं।

परंतु एक ऐसी भी अवस्था आती है जब मन इस सारी समस्या-से ही फिर जाता है और प्रकृतिके त्रिविध प्रकारोंसे, त्रैगुण्यसे प्राप्त होने-वाले उपायोंसे असंतुष्ट होकर किसी ऐसे हलको ढूंढने लगता है जो त्रैगुण्यके परे या ऊपर हो। किसी ऐसी चीजमें मन भाग जाना चाहता है जो समस्त गुणोंके बाहर है या जो समस्त गुणोंसे सर्वथा रहित है और इसलिये जो कर्मरहित भी है अथवा किसी ऐसी चीजमें जो इन तीनों गुणोंसे श्रेष्ठ हैं और ये गुण जिसके वशमें हैं और इसलिये वहां पहुँचकर वह साथ-साथ कर्म भी कर सकता और अपने उस कर्मसे अलिप्त और अप्रभावित भी रह सकता है, जो या तो निर्गुण अवस्था है या त्रिगुणा-तीत अवस्था। मन अभीप्सा करता है निरपेक्ष शांति और निरुपाधि स्थितिके लिये अथवा प्रबल स्थिरता और श्रेष्ठतर स्थितिके लिये। प्रथ-मोक्त भावकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है संन्यासकी ओर और शेषोक्त भावकी प्रवृत्ति होती है निम्नगा प्रकृतिकी मांगों और उसकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओंके चक्करपर प्रभुत्व प्राप्त करनेकी ओर, और इसका

सिद्धांत होता है समताकी स्थापना तथा आवेशों और कामनाका आंतरिक त्याग। अर्जुनके चित्तमें पहले वही प्रथमोक्त आवेग हुआ था जिसके कारण कुरुक्षेत्रमें, अर्थात् युद्ध और हत्याकांडके घोर संहार-क्षेत्रमें अपने वीर कर्मसे होनेवाले दुःखद पर्यवसानसे उसका मन फिर गया, अबतक उसका जो कर्मसंबंधी सिद्धांत था वह लुप्त हो गया और उसको ऐसा बोध होने लगा कि अकर्म और जीवन तथा जीवनकी मांगोंका त्याग ही एकमात्र उपाय है। परंतु भगवान् गुरुकी वाणी उसे जो कुछ करनेको कहती है वह जीवन और कर्मका बाह्य संन्यास नहीं है; बल्कि वह है उनपर आंतरिक प्रभुताकी स्थापना।

अर्जुन क्षत्रिय है, वैसा रजोगुणी पुरुष जो अपना राजसिक कर्म एक उच्च सात्विक आदर्शसे नियत किया करता है। इस भीषण संग्राममें, कुरुक्षेत्रके इस महासमरमें वह युद्धका हौसला लेकर, रणरंगमें मस्त होकर ही आया है, उसे अपने पक्षकी न्याय्यताका पूर्ण और साभिमान विश्वास भी है, वह अपने द्रुतगामी रथपर आरूढ़ होकर शत्रुओंके हृदयोंको अपने युद्धशंखके विजय-निनादसे विदीर्ण करता हुआ आगे बढ़ता है; क्योंकि वह देखना चाहता है कि उसके विरुद्ध खड़े होकर अधर्मका बल बढ़ाने और धर्म, न्याय और सत्यको कुचलकर उनके स्थानमें स्वार्थी और उद्दण्ड अहंकारकी प्रभुता स्थापित करने कौन-कौन राजा आये हैं। पर उसका यह विश्वास चूर-चूर हो गया और वह अपने सहज भावसे तथा जीवनसंबंधी अपने मानसिक आधारपरसे एक भीषण आघात खाकर गिर पड़ा; इसका कारण यह हुआ कि राजसिक अर्जुनमें तमोगुणकी एक बाढ़ उमड़ आयी और इसने उसको आश्चर्य, शोक, भय, निरुत्साह, विषाद, मनकी व्याकुलता और उसके अपने ही तर्कोंके परस्पर-संग्रामद्वारा व्यथित कर, इस कार्यसे मुंह मोड़ने-

के लिये उकसाया और वह अज्ञान और जड़तामें डूब गया। परिणाम यह हुआ कि वह संन्यासकी ओर मुड़ा। वह सोचने लगा कि यह घोर युद्ध-कर्म अच्छा नहीं जिसका फल सबका संहार है, वह राज्य और यश और प्रताप किस कामका जो नाश और रक्तपातसे ही प्राप्त होता है, ऐसे भोगोंकी कौन इच्छा करे जो रक्तसे सने हुए हैं, न्याय और सत्यकी वह विजय क्या जो समस्त धर्मोंको ही मिटानेवाली हो और उस सामाजिक विधानकी स्थापना ही क्या जो एक ऐसे युद्धद्वारा हो जिसकी प्रक्रिया और परिणाम उन सबको नष्ट करनेवाले हों जिनसे समाज बनता है, क्षत्रियके इस धर्मसे तो भीख मांगकर जीनेवाले भिक्षुकका जीवन अच्छा।

संन्यासका अर्थ है जीवन और कर्म तथा प्रकृतिके त्रिगुणका त्याग, किंतु इस त्रिगुणमेंसे किसी एक गुणके द्वारा ही संन्यासकी ओर जाना होता है। संन्यासकी ओर जानेका यह आवेग हो सकता है कि तामसिक हो, अर्थात् क्लीवता, भय, विद्वेष, जुगुप्सा, जगत् और जीवनसे त्रास अनुभव होता हो; अथवा हो सकता है कि यह तमकी ओर झुका हुआ राजसिक गुण हो, अर्थात् संघर्षसे थकावट मालूम पड़ने लगी हो, शोक छा गया हो, निराशा उत्पन्न हुई हो और कष्ट तथा अनंत असंतोषसे भरे हुए कर्मके इस व्यर्थके हुल्लड़को स्वीकार करनेसे जी ऊब गया हो। अथवा हो सकता है कि यह सत्त्वकी ओर झुका हुआ राजसिक आवेग हो, अर्थात् यह जीवन जो कुछ दे सकता है उससे किसी श्रेष्ठ वस्तुतक पहुंचने, किसी उच्चतर अवस्थापर विजय प्राप्त करने, समस्त बंधनोंको तोड़नेवाली और समस्त सीमाओंको पार करनेवाली किसी आंतरिक शक्तिके पैरों तले स्वयं जीवनको ही कुचल डालनेका आवेग उठा हो। अथवा हो सकता है कि यह सात्त्विक हो अर्थात्

जीवनकी निस्सारताका और इस जगत्-जीवनका किसी सच्चे लक्ष्य या औचित्यके बिना ही निरंतर चक्कर काटते रहनेका एक बौद्धिक आभास हुआ हो या फिर उस सनातन, उस अनंत, उस निश्चल-नीरव, उस नामरूप रहित परात्पर शांतिका कोई आध्यात्मिक अनुभव हुआ हो और इसलिये जगत्-जीवन और कर्मसे संन्यास ले लेनेका आवेग उठा हो। अर्जुनको जो विराग हुआ है सो सत्त्वकी ओर प्रवृत्त रजोगुणी पुरुपका कर्मसे तामस विराग है। गुरु चाहें तो उसे इसी रास्तेपर स्थिर कर सकते हैं, इसी अंधेरे दरवाजेसे विरक्त जीवनकी शुद्धता और शांतिमें उसे प्रविष्ट करा सकते हैं; अथवा इस वृत्तिको तुरंत शुद्ध करके वे उसे संन्यासकी सात्विक प्रवृत्तिके अत्युच्च शिखरोंपर चढ़ा सकते हैं। पर वास्तवमें वे इन दोनोंमेंसे एक काम भी नहीं करते। गुरु उसके तामस विराग और संन्यास ग्रहण करनेकी प्रवृत्तिसे उसका चित्त फेरते हैं और कर्मको ही चालू रखनेके लिये कहते हैं और वह भी उसी भीषण और घोर कर्मको। परंतु इसके साथ ही उसे एक दूसरे और ऐसे आंतरिक वैराग्यका निर्देश करते हैं जो उसके संकटका सच्चा निराकरण है, और जो विश्वप्रकृतिपर जीवकी श्रेष्ठता स्थापित करनेका रास्ता है और यह होते हुए भी जो मनुष्यको स्थिर और आत्म-अधिकृत कर्ममें प्रवृत्त रखता है। शारीरिक नहीं, वल्कि आंतरिक तपस्या ही गीतामें अभिप्रेत है।

---

# आर्यक्षत्रियधर्म*

अर्जुनकी वेगवती आत्म-शंकाओंकी जो पहली बाढ़ आयी, उसका चित्त संहार-कर्मसे हटा, उसे उसमें दुःख और पाप ही दीखने लगा, जीवन शून्य और निस्सार प्रतीत होने लगा, पापकर्मसे भविष्यमें होने-वाले पापमय परिणाम दिखायी देने लगे, उन सब शंकाओंका जो एक ही उत्तर भगवान् श्रीगुरुने दिया वह था एक बड़ी गहरी फटकार ! उससे कहा गया कि यह सब उसके मनकी उथल-पुथल है, उसके मनका भ्रम है, उसके हृदयका दौर्बल्य है, कापुरुषता है, उसके अपने क्षात्र तेजसे, शूरवीरके पौरुषसे उसका च्युत होना है। यह महासाध्वी वीरजननी पृथाके पुत्रके योग्य नहीं। जो पार्थ एक महान् धर्मकार्यका प्रधान रक्षक है, जिसके ऊपर उस महत्कार्यके सफल होनेका सारा भरोसा है उसको ऐसा न चाहिये कि ऐन मौकेपर, ऐसे विकट संकट-कालमें वह उस कार्यको छोड़कर चला जाय या अपने हृदय और इंद्रियोंकी आकस्मिक विह्वलताके वशमें हो जाय, अपनी विवेक-बुद्धिपर परदा पड़ने दे और अपने संकल्पसे च्युत होकर देवदत्त गाण्डीव धनुष आदि शस्त्रोंको नीचे रखकर भगवान्के सौंपे हुए कर्मको करनेसे मुंह फेर ले। यह आर्योंकी

*गीता द्वितीय अध्याय १—३८

रीति नहीं है, जिसे वे पालते आये हैं, यह भाव स्वर्गीय नहीं न स्वर्गको देनेवाला है, और इस लोकमें यह उस कीर्तिका नाश करनेवाला है जो बल, वीर्य, पराक्रम और उदार कर्मसे ही प्राप्त हुआ करती है। इसलिये उसको यही उचित है कि वह अपने-आप लायी हुई इस दुर्बलता और कृपाका त्याग कर दे और अपने शत्रुओंका संहार करनेके लिये उठे।

शायद आप यह कहेंगे कि यह जवाब तो एक वीरका एक दूसरे वीरके प्रति जवाब है, यह किसी भगवत्स्वरूप सद्गुरुका उपदेश नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसे सद्गुरुसे तो यही आशा की जाती है कि वे सदा मृदुता, साधुता, आत्मत्यागके भावोंको और सांसारिक ध्येयों और दुनियादारीसे विरक्त होनेके भावको ही प्रोत्साहित करेंगे? गीता स्पष्ट ही कहती है कि अर्जुन अवीरोचित दुर्बलतामें जा पड़ा था, "उसके नेत्र आकुल और अश्रुपूर्ण हो गये थे, उसका हृदय विषादसे भर गया था," कारण वह "कृपाविष्ट" कृपासे आक्रांत हो गया था। तब क्या यह दैवी दुर्बलता नहीं थी? कृपा क्या दैवी भावावेग नहीं है, इस प्रकारकी कृपाको क्या ऐसी कड़ी फटकारके साथ निरुत्साहित करना चाहिये? अथवा हम किसी ऐसी शिक्षाके सामने तो नहीं आ पड़े हैं जो केवल युद्ध और वीर कर्मका ही उपदेश करती हो, जो नीतशेके सिद्धांत जैसी हो, जिसका ताकत और गर्वोन्मत्त बल ही एक-मात्र धर्म है, जो हिब्रुओं और पुराने ट्यूटानिकोंकी कठोरताकी तरह हो जिसमें कृपा एक दुर्बलता समझी जाती है और जो उस नारवेजियन वीरके भावमें चिंतन करती है जो ईश्वरको इसलिये धन्यवाद देता था कि उसने उसको एक कठोर हृदय दिया था? परंतु गीताका उपदेश भारतीय धर्मविश्वाससे उद्भूत होता है और भारतीयोंके लिये करुणा सदासे ही दैवी प्रकृतिका एक प्रधान अंग मानी गयी है। आगे चल-

कर स्वयं भगवान् ही एक अध्यायमें दैवी प्रकृतिकी संपदाओंको गिनाते हुए प्राणिमात्रपर दया, मृदुता, अक्रोध, अहिंसा आदि गुणोंको अभय, वीर्य और तेजके बराबर ही आवश्यक बतलाते हैं। क्रूरता, कठोरता, भयानकता और शत्रुओंके वधमें हर्ष, धनसंचय और अन्याय्य भोग आसुरी गुण हैं; इनकी उत्पत्ति उस प्रचंड आसुरी प्रकृतिसे होती है जो जगत्में और मनुष्यमें भगवान्‌की सत्ता नहीं मानती और कामनाको ही अपना आराध्य देव जानकर पूजती है। तो ऐसे किसी भी दृष्टिकोणसे अर्जुनकी दुर्बलता फटकारी जानेके लायक नहीं है।

"यह कश्मल, यह कलंक, यह अज्ञान ऐसे विकट संकटके समय तुझमें कहांसे आया ?" यह प्रश्न है श्रीकृष्णका अर्जुनसे। प्रश्नका इशारा है अर्जुनके अपने वीर स्वभावसे स्खलित होनेके वास्तविक स्वरूपकी ओर। एक दैवी दया होती है जो मनुष्यको ऊपरसे प्राप्त हुआ करती है और जिस मनुष्यकी प्रकृतिमें यह दया नहीं है, जिसका चरित्र इस दयाके सांचेमें ढला हुआ नहीं है उसका अपने-आपको श्रेष्ठ मनुष्य, सिद्ध पुरुष या अतिमानव बतलाना मूर्खता और धृष्टतामात्र है, कारण अतिमानव उसीको कहना चाहिये जिसके द्वारा मानव-जातिके अंदर भगवान्‌का उच्चतम स्वभाव व्यक्त होता है। यह दैवी दया जिस पुरुषको प्राप्त होती है वह युद्ध और संघर्ष, मनुष्यकी ताकत और दुर्बलता, उसके पुण्य और पाप, उसके सुख और दुःख, उसका ज्ञान और अज्ञान, उसकी बुद्धिमत्ता और मूर्खता, उसकी अभीप्सा और असफलता, इन सभी द्वंद्वोंको प्रेमकी, ज्ञानकी और स्थिर सामर्थ्यकी दृष्टिसे देखता है और उसकी यह दयादृष्टि इन सबमें प्रवेश कर सबकी सहायता करती और सबके क्लेश निवारण करती है। साधु पुरुषों और परोपकारियोंमें यह दया, प्रेम या दाक्षिण्यकी समृद्धिके रूपमें मूर्त्त होती है;

बुध जनों और वीरोंमें यह सहायक ज्ञान और बलकी विशालता और शक्तिका रूप धारण करती है। आर्य क्षत्रियमें होलेवाली यह दया ही उसके वीर धर्मका प्राण होती है, जो किसी मरेको नहीं मारा करती, बल्कि दुर्बल, दीन, पीड़ित, पराभूत, आहत और गिरे हुएकी सहायता और रक्षा किया करती है। परंतु वह भी दैवी दया ही है जो बलवान् पीड़क और साहसी अत्याचारीको मार गिराती है, क्रोध और घृणासे नहीं,—क्योंकि क्रोध और घृणा कोई बड़े दैवी गुण नहीं हैं, पापियोंपर ईश्वरका कोप, दुष्टोंपर ईश्वरकी घृणा इत्यादि बातें अर्द्ध-प्रबुद्ध संप्रदायोंकी वैसी ही कल्पित कहानियां हैं जैसी कि उनकी ईजादकी हुई बाह्य नरकोंकी नानाविध स्थूल यंत्रणाओंकी कहानियां,—बल्कि, जैसा कि प्राचीन आध्यात्मिकताने स्पष्ट रूपसे देखा, यह दैवी दया जब बलके मदसे मत्त पापी दैत्यकी हत्या करती है तब भी इसमें वही प्रेम और अनुकंपा होती है जो प्रेम और अनुकंपा इसकी उन दीन दुखियों और पीड़ितोंपर है जिन्हें उस दैत्यकी हिंसावृत्ति और अन्यायसे बचाना है।

परंतु जो दया अर्जुनको उसके भगवन्निर्दिष्ट कार्य और कर्मका परित्याग करनेके लिये उकसा रही है वह दैवी दया नहीं है। वह दया ही नहीं है बल्कि उसकी आत्म-कृपासे परिपूर्ण क्लीवता है, जो कर्म उसके सामने उपस्थित है उसके फलस्वरूप जो मानसिक यंत्रणा उसे भोगनी पड़ेगी उससे वह बचना चाहता है, वह कहता है कि "मेरी इंद्रियोंको सुखानेवाले इस शोकको मैं कैसे दूर करूँ, यह मेरी समझमें नहीं आता,"—यह आत्म-कृपा अत्यंत तुच्छ और अनार्य भावमें गिनी जाती है। इसमें जो दूसरोंके सुखके लिये कृपाका भाव है वह भी एक प्रकारकी आत्म-तुष्टि ही है, यह हत्याकांडसे स्नायुओंका कांपना है, धार्त्तराष्ट्रोंके संहार-कार्यसे उसके चित्तका अहमात्मक और भावावेगमय

कंपन है, क्योंकि ये लोग उसके स्वजन हैं और इनके बिना तो जीवन ही शून्य हो जायगा। यह कृपा मन और इंद्रियोंकी दुर्बलता है। ऐसी दुर्बलता उन लोगोंके लिये भले ही उपकारक हो सकती है जो अभी अपने विकासके निम्न स्तरपर हैं, उनका दुर्बल होना इसलिये अच्छा है कि यदि वे दुर्बल न हों तो क्रूर और कठोर बनेंगे; कारण उन्हें अपने संवेदनात्मक अहंकारके कठोर रूपोंको उसके कोमल स्वभावद्वारा ठीक करना पड़ता है, उन्हें प्रकाशमय तत्त्व जो सत्त्वगुण हैं उसकी सहायताके लिये दुर्बल और आलसी तत्त्व जो तमोगुण है उसका इसलिये आवाहन करना पड़ता है कि वह राजसिक आवेशों और ज्यादतियोंको दबाये रहे। पर यह मार्ग उस उन्नत आर्य पुरुषका नहीं है जिसको दुर्बलताके रास्तेसे नहीं बल्कि अधिकाधिक बलवान् होकर ही आगे बढ़ना होता है। अर्जुन देवनर है, नरश्रेष्ठ बनाये जानेकी प्रक्रियामें है और इसलिये देवताओंने उसे चुना है। उसे एक काम सौंपा गया है, उसके समीप उसके रथपर स्वयं भगवान् विराज रहे हैं, उसके हाथोंमें दिव्य गाण्डीव धनुष है और अधर्मके नेता, संसारमें भगवान्‌के अनुगामित्वके विरोधी उसके सामने खड़े हैं। उसको यह अधिकार नहीं है कि वह क्या करे और क्या न करे इसका निर्णय अपने भावावेगों और आवेशोंके अनुसार करे, या अपने अहंपरायण हृदय और बुद्धिकी बात मानकर एक आवश्यक संहार-कर्मसे हट जाय, अथवा यह सोचकर अपने कर्त्तव्य कर्मसे विरत हो कि इससे जीवन दुःखमय और सारहीन हो जायगा या चूँकि इस संग्राममें जिन लाखों प्राणियोंका विनाश होगा उनके वियोगके कारण इसके लौकिक परिणामका उसकी दृष्टिमें कोई मूल्य नहीं। उसका ऐसा सोचना अपने उच्चतर स्वभावसे दुर्बलतावश अधः-पतित होना है। उसका अधिकार बस इतना ही है कि वह अपने

'कर्त्तव्यं कर्म' को देखे, केवल भगवान्‌के उस आदेशको सुने जो उसे उसके क्षात्र स्वभावमें-से होकर दिया जा रहा है और यही अनुभव करे कि जगत् और मानव-जातिका भवितव्य उसे अपना देव-प्रेषित मनुष्य जानकर इसलिये बुला रहा है कि वह जगत् और मानव-जातिके आगे बढ़नेमें सहायक हो और अंधकारका पक्ष लेनेवाली जो शत्रु-सेनाएँ उनके मार्गको आकीर्ण किये हुए हैं, उन्हें मार भगावे।

अर्जुनका जो श्रीकृष्णको उत्तर होता है उसमें वह अपने फटकारे जानेके कारणको स्वीकार करता है, हालांकि अब भी वह उनके आदेशका पालन करनेसे हिचकता और इनकार करता है। वह अपनी दुर्बलताको जानता है, पर फिर भी उसके अधीन होकर रहना चाहता है। उसके हृदयकी कृपणताने उसके असली वीर स्वभावको पराभूत कर दिया है; उसकी सारी चेतना धर्मसंमूढ़ हो गयी है और वह अपने सखा भगवान्‌को अपने गुरु-रूपसे वरण करता है; परंतु उसने अपने धर्म-ज्ञानका समर्थन जिन भावावेगमय और बौद्धिक आधारोंपर किया था गुरु उनको एकदम उड़ा देते हैं और वह गुरुके आदेशको इसलिये नहीं स्वीकार करता कि यह उसकी नजरमें उसके पुराने दृष्टिकोणके जैसा ही है और इससे उसको कर्मसंबंधी कोई नया आधार नहीं मिलता। इसलिये अब भी वह उपस्थित कर्म न करनेकी बातका ही समर्थन करनेकी चेष्टा करता है और उसकी पुष्टिमें अपनी स्नायवीय और संवेदनात्मक सत्ताके दावेको उपस्थित करता है जो इस हत्याकांडसे और इसके रक्तसे सने हुए भोगोंके परिणामसे कांपती है, अपने हृदयके दावेको उपस्थित करता है जो इस संहार-कर्मसे इसलिये पीछे हटता है कि इससे जीवन खोखला और उदास हो जायगा, अपने प्रचलित नैतिक विचारोंके दावेको उपस्थित करता है जो इसलिये भयभीत हो गये हैं कि भीष्म और द्रोणाचार्य जैसे गुरुओंकी

हत्या करना आवश्यक होगा, अपनी तर्क-बुद्धिके दावेको उपस्थित करता है जो उसको सौंपे गये भीषण और प्रचंड कर्ममें कोई भी भलाई नहीं देखती, बल्कि जिसमें उसे बुराई ही बुराई नजर आती है। उसने यह निश्चय कर लिया कि अबतक जिन विचारों और प्रेरक-भावोंके आधारपर वह लड़ सकता था उस आधारपर तो वह अब नहीं लड़ेगा और इस निश्चयके साथ वह मौन होकर बैठ गया और अपनी आपत्तियोंके उत्तरकी प्रतीक्षा करने लगा, यह समझता हुआ कि इन आपत्तियोंका कोई उत्तर ही नहीं हो सकता। श्रीकृष्ण सबसे पहले अर्जुनकी अहमात्मक सत्ताके इन दावोंको नष्ट करनेके लिये उतारू होते हैं जिसमें अर्जुनके अंदर किसी ऐसे उच्चतर धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये स्थान खाली हो जाय जो धर्म, कर्म-संबंधी समस्त अहमात्मक प्रेरक-भावोंकी पहुंचके परे होगा।

श्रीगुरु इन आपत्तियोंका उत्तर दो विभिन्न प्रकारसे देते हैं। एक यह है कि, जिस आर्य संस्कृतिकी शिक्षा-दीक्षा अर्जुनको प्राप्त है उसीकी उच्चतम भावनाओंके आधारपर एक बात बहुत संक्षेपमें कही जाती है; दूसरा, जो सर्वथा भिन्न प्रकारका और अधिक व्यापक है, उसका आधार है वह अधिक अंतरंग ज्ञान जो हमारी सत्ताके गभीरतर सत्योंमें हमारा प्रवेश कराता है, और वहींसे गीताकी वास्तविक शिक्षा आरंभ होती है। यह पहला उत्तर वेदांत-दर्शनकी दार्शनिक और नैतिक धारणापर तथा कर्त्तव्य और स्वाभिमानसंबंधी सामाजिक भावनापर अवलंबित था और ये ही थे आर्योंके समाजके नैतिक आधार। अर्जुनने युद्ध करनेसे इनकार करते समय नैतिक और यौक्तिक कारण दिखाकर अपनी बातको पुष्ट करना चाहा, किंतु इसमें उसने अपने अज्ञानी और अशुद्ध चित्तके विद्रोहको ऊपरी युक्तियोंके शब्दोंके लबादेके अंदर ढकभर लिया है। उसने भौतिक जीवन और शरीरकी मृत्युके संबंधमें ऐसी बातें कही हैं

मानो ये ही मूल सद्वस्तु हैं; परंतु ज्ञानी और पंडितोंकी दृष्टिमें इनका ऐसा कोई तात्त्विक मूल्य नहीं है। अपने सगे-संबंधियों और बंधु-बांधवोंकी शारीरिक मृत्युका दुःख एक ऐसा शोक है जो बुद्धिमत्ता और जीवनके सच्चे ज्ञानकी दृष्टिमें अनुचित है। पंडित लोग जीवन-मरणपर नहीं रोया करते, क्योंकि वे जानते हैं कि दुःख और मृत्यु आत्माके इतिहासमें सामान्य घटनाएं मात्र हैं। आत्मा ही सद्वस्तु है, शरीर नहीं। ये सब राजा लोग जिनकी मृत्यु समीप जानकर अर्जुन शोक कर रहा है, इस जीवनके पहले भी जीते थे और आगे भी मनुष्य-रूपमें जीयेंगे; क्योंकि जीव जैसे शरीरतः कौमारसे यौवन और यौवनसे वार्द्धक्यकी अवस्थाको पहुंचता है वैसे ही वह देहांतरको भी प्राप्त होता है। जो धीर है, जो विचारक है, जिसका मन अचंचल और ज्ञानी है, जो जीवनको स्थिर दृष्टिसे देखता और अपने इंद्रियानुभवों और भावावेगोंसे विक्षुब्ध और अंध नहीं होता उसे ये बाह्य भौतिक दृश्य धोखा नहीं दे सकते; उसके खूनका, उसकी स्नायुओंका और उसके हृदयका कोलाहल उसके निर्णयपर परदा नहीं डाल सकता न उसके ज्ञानको अन्यथा कर सकता है। वह शरीर और इंद्रियोंके जीवनके बाह्य तथ्योंके परे जाकर अपनी सत्ताके वास्तविक तथ्यको देखता है। और वह अज्ञानमय प्रकृतिकी भावावेगमय और भौतिक कामनाओंसे ऊपर उठकर मानवजीवनके एकमात्र सच्चे ध्येयमें पहुंच जाता है।

मानवजीवनका वह वास्तविक तथ्य, वह परम ध्येय क्या है? वह यही है कि जगत्‌के इन महान् आवर्तनोंके भीतर मनुष्योंके जीवन-मरणका जो यह सतत प्रवाह चल रहा है वह एक दीर्घकाल व्यापी प्रगति है जिसके द्वारा मानव-प्राणी अपने-आपको अमृतत्वके लिये तैयार करता है। वह अपने-आपको कैसे तैयार करे? कौनसा वह

मनुष्य है जो अमृतत्वका अधिकारी है ? वही मनुष्य अमृतत्वका अधिकारी है जो अपने-आपको प्राण और शरीर नहीं समझता, इस समझके ऊपर उठता है, जो विषयेंद्रिय-संयोगका कोई स्वतःसिद्ध मूल्य नहीं मानता अथवा यह कहिये कि जिसकी दृष्टिमें विषयेंद्रिय-संयोगका वह मूल्य ही नहीं है जो देहात्मबुद्धि रखनेवाला मनुष्य उसका माना करता है, जो अपने-आपको और सबको आत्मा जानता है, जो अपने शरीरमें नहीं बल्कि आत्मामें रहनेका अभ्यासी होता है और दूसरोंके साथ भी उसका व्यवहार, उन्हें केवल देहस्वरूप जानकर नहीं बल्कि आत्मा जानकर ही होता है। कारण अमृतत्वका अर्थ मृत्युके बाद केवल जीना ही नहीं है—वह तो मनको लेकर जन्मे हुए प्रत्येक प्राणीको ही प्राप्त है—अमृतत्वका अर्थ है जीवन-मरणकी अवस्थाको पार करना। यह वह ऊर्ध्वगति है जिससे मनुष्यका अंतःकरण-अनुप्राणित शरीर-रूपसे रहना छूट जाता है और अंतको वह आत्मा होकर आत्मामें ही रहने लगता है। जो कोई शोक और दुःखके वशीभूत होता है, इंद्रियानुभवों और भावावेगोंका दास बनता है, क्षणभंगुर और अनित्य मात्रास्पर्शोंमें लिप्त रहता है, वह अमृतत्वका अधिकारी नहीं हो सकता। इन सबको तबतक सहते जाना होगा जबतक कि उनपर अपना प्रभुत्व न स्थापित हो; जबतक कि वह मुक्त अवस्था न प्राप्त हो जहां ये कोई दुःख नहीं दे सकते; जबतक कि संसारकी सब पार्थिव घटनाएं, चाहे वे सुख देनेवाली हों या दुःख देनेवाली, ज्ञानयुक्त स्थिरता और समतासे वैसे ही ग्रहण न की जा सकें जैसे कि हमारे अंदर रहनेवाला शांत सनातन गूढ़ आत्मा इनको ग्रहण करता है। शोक और भयसे विचलित होना, जैसा कि अर्जुन हुआ है, अपने गंतव्य पथसे भ्रष्ट हो जाना, दैन्य और दुःखभारसे दबकर शारीरिक मृत्युकी अनिवार्य और अति सामान्य

घटनाका सामना करनेसे पश्चात्पद होना 'अनार्यजुष्ट' है, अज्ञ अनार्योंके ही उपयुक्त है। आर्य अपनी धीर शक्तिके साथ जिस अमर जीवनकी ओर ऊपर चढ़ता रहता है उसका यह रास्ता नहीं।

मृत्यु यथार्थमें कोई चीज नहीं है, क्योंकि मरता तो शरीर है और शरीर मनुष्य नहीं। जो कुछ कि वास्तवमें है उसका अस्तित्व नहीं है ऐसा कभी नहीं हो सकता; हां, जिन रूपोंको लेकर वह प्रकट होता है उनको वह बदल सकता है। वैसे ही, जो कुछ नहीं है वह हो भी नहीं सकता। आत्मा (देही, जीव) है और वह नहीं है ऐसा कभी नहीं हो सकता। यह जो सत् और असत् (है और नहीं) का अंतर है, आत्मभाव और भूतभावका अंतर दिखानेवाली यह जो तुला है जिससे मनुष्यका मन इस जगत् और जीवनको देखा करता है, इसकी परिणति उस आत्मानुभवमें हुआ करती है जहां यह बोध होता है कि एक आत्मा ही अविनाशी पुरुष है जिसके द्वारा यह सारा विश्व प्रसारित है। शरीर सांत है—उसका अंत हुआ करता है, पर जो इस शरीरको धारण करता और इससे काम लेता है वह अनंत, अपरिच्छिन्न, सनातन और अविनाशी है। वह जीर्ण-शीर्ण शरीरोंको छोड़कर नये शरीर धारण करता है, वैसे ही जैसे कोई मनुष्य अपने फटे-पुराने वस्त्रोंको त्यागकर नये वस्त्र धारण करता है; इसमें शोक करने, सहमने और सिकुड़नेकी कौनसी बात है? वह न जनमता है न मरता है, न वह कोई ऐसी वस्तु है जो होकर लुप्त हो जाय और फिर कभी न हो। वह अज, अनादि, अव्यय आत्मा है; शरीरके मारे जानेसे वह नहीं मारा जाता। अजर अमर आत्माको मार ही कौन सकता है? शस्त्र उसे छेद नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, जल भिगो नहीं सकता, हवा सुखा नहीं सकती। वह स्थाणु है, अचल है, सर्वव्यापी है, सनातन है—सदासे है और सदा

रहेगा। शरीरकी तरह वह व्यक्त नहीं है, लेकिन समस्त अभिव्यक्तिसे महत्तर है, उसका विचारद्वारा विश्लेषण नहीं हो सकता, क्योंकि वह सारे मनसे बड़ा है, प्राण और उसकी इंद्रियों और उनके विषयोंकी तरह उसमें विकार और परिवर्तन नहीं होते, बल्कि वह मन, प्राण और शरीरके परिवर्तनोंके परे है, फिर भी वह वह सद्वस्तु है जिसे ये सब मूर्तिमान करनेमें लगे हुए हैं।

यदि यही सत्य हो कि आत्मा इतना महान्, विशाल और जीवन-मरणके परे नहीं है, यदि यही सत्य हो कि आत्मा सदा जनमता और मरता है, तो भी प्राणियोंके मरनेपर शोक करनेका कोई कारण नहीं है। क्योंकि जीवकी आत्म-अभिव्यक्तिकी यह एक अपरिहार्य अवस्था है। उसके जन्मका अर्थ है उसका किसी ऐसी अवस्थासे बाहर निकल आना जहां वह अस्तित्वविहीन नहीं है बल्कि हमारी मर्त्य इंद्रियों-के लिये अप्रकट है, उसकी मृत्युका अर्थ है उसी अप्रकट जगत् या अव-स्थामें लौट जाना जहांसे वह इस भौतिक अभिव्यक्तिमें फिर प्रकट होगा। भौतिक मन और इंद्रियां, रुग्णशय्यापर या रणक्षेत्रमें होनेवाली मृत्यु और उसके भयके संबंधमें जो रोना-पीटना मचाते हैं वह प्राणकी हायतोबाओंमें सबसे अधिक अज्ञानमय है। मनुष्योंकी मृत्युपर हमारा शोक करना उनके लिये अज्ञानसे ही दुःख करना है जिनके लिये दुःख करनेका कोई कारण नहीं है, क्योंकि न तो वे अस्तित्वसे बाहर चले गये हैं न उनकी अवस्थामें कोई दुःखद या भयानक परिवर्तन ही हुआ है, बल्कि वे अपनी सत्तामें मृत्युके उतने ही परे हैं जितना कि वे यहांके जीवनको धारण किये हुए कालमें हैं, और जहांकी अवस्था इस जीवनकी अवस्थासे असुखकर नहीं है। परंतु यथार्थमें जो उच्चतर सत्य है वही वास्तविक सत्य है। सभी वही आत्मा है, वही एक है, वही परमात्मा है

जिसे हम आश्चर्यवत् देखते, कहते और सुनते हैं,वह जो हमारी समझकी पहुंचके परे है, क्योंकि हमारी इतनी खोज और ज्ञानके इतने वर्णनके बाद भी तथा ज्ञानी जनोंसे इतना सब सुननेके बाद भी, उस केवल (Absolute) को कोई मानव-मन-बुद्धि कभी नहीं जान सकी है। वह केवल ही, वह शरीरका स्वामी ही यहां इस जगत्‌की ओटमें छिपा हुआ है; यह सारा जीवन उसकी छायामात्र है; जीवका भौतिक अभि-व्यक्तिमें आना और मृत्युके द्वारा उसका इस अभिव्यक्तिसे बाहर निकल जाना, यह उसकी एक गौण क्रियामात्र है। जब हम अपने-आपको इस रूपमें जान लेते हैं तब यह कहना कि हमने किसीकी हत्या की या किसीने हमारी हत्या की, केवल मूर्खता है। सत्य तो एकमात्र यही है और इसीमें हमें रहना होगा कि मनुष्यके आत्माकी यात्राके इस महान् चक्रमें मानव-जीव-रूपसे वह शाश्वत पुरुष ही स्वयं प्रकट होता है, जिसमें जन्म और मृत्यु उसकी यात्राके मार्गमें मीलदर्शक पत्थर-रूप हैं, परलोक उसके विश्राम-स्थान हैं, जीवनकी सारी अवस्थाएं, चाहे सुखद हों या दुःखद, हमारी प्रगति और संग्राम और विजयके साधन हैं और हमारा धाम है अमरत्व जहांके लिये जीवकी यह यात्रा है।

इसलिये, भगवान् कहते हैं कि हे भारत, इस वृथा शोक और हृदयदौर्बल्यको दूर कर और लड़। परंतु यह तात्पर्य कहांसे निकला? यह उच्च और महान् ज्ञान,—मन और अंतरात्माका यह कष्टसाध्य आत्मानुशासन जिसके द्वारा अंतरात्माको भावावेगोंके हुलड़ और इंद्रि-योंके धोखोंके परे जाकर आत्मज्ञानमें ऊपर उठ जाना है—यह हमें शोक और मोहसे तो मुक्त कर सकता है; मृत्युका भय और मरे हुओंका शोक तो इससे दूर हो सकता है; भले ही इससे हमें यह बोध भी हो सकता है कि जिन्हें हम मरे हुए जानते हैं वे मरे हुए हैं ही नहीं,

उनके लिये शोक करनेकी कोई बात है ही नहीं, क्योंकि वे केवल परलोकमें चले गये हैं; इससे भले ही हमें वह शिक्षा मिल सकती है कि जिससे हम जीवनके महाभयानक थपेड़ों और शरीरकी मृत्युको अविचलित भावसे एक बहुत ही सामान्य घटनाके तौरपर देख सकें; इससे हम इतने ऊंचे उठ सकते हैं कि जीवनकी सारी अवस्थाओंको हम उसी एकका प्राकट्य जानें और यह जानें कि ये हमारे अंतरात्माओंके लिये जगत्के बाह्य दृश्योंसे ऊपर उठनेके एक साधन हैं, और हमारा यह ऊपर उठना एक ऊर्ध्वगामी विकासके द्वारा उस समयतक चलता रहता है जबतक कि हम अपने-आपको एक अमर आत्माके रूपमें न जान लें। पर इससे अर्जुनसे जो कर्म करनेके लिये कहा जा रहा है और कुरुक्षेत्रमें जो हत्याकांड होने जा रहा है उसकी पुष्टि कैसे होती है?' इसका उत्तर यह है कि अर्जुनको जिस मार्गपर चलना है उस मार्गमें उसके लिये यह कर्म करना आवश्यक है; यह कर्म उसके सामने, उसके अपने स्वधर्मका, अपने सामाजिक कर्त्तव्यका, अपने जीवन-धर्मका, अपनी सत्ताके धर्मका पालन करते हुए अपरिहार्य रूपसे आ पड़ा है। यह जगत्, जड़प्राकृतिक विश्वके अंदर आत्माका यह प्राकट्य, केवल जीवके आंतरिक विकासका ही चक्र नहीं है बल्कि यह एक क्षेत्र है जिसमें जीवनकी बाह्य अवस्थाओंको उस आंतरिक विकास-साधनके लिये परिस्थिति और प्रसंगके रूपमें ग्रहण करना होता है। यह जगत् परस्पर साहाय्य और संघर्षका क्षेत्र है; यह हमारे लिये किसी ऐसी प्रगतिकी इजाजत नहीं देता कि हम अपने अनायास प्राप्त सुखोंको भोगते हुए शांति और चैनके साथ आगे बढ़ते चले जायं, बल्कि यहां एक-एक पैड़ी वीरोचित प्रयाससे और परस्पर विरोधिनी शक्तियोंके संघर्षसे होकर ही चढ़नी होती है। क्षत्रिय, बलवान् पराक्रमी पुरुष वे ही हैं जो इस आंतरिक

और बाह्य संघर्षको यहांतक कि इसका जो अत्यंत भौतिक रूप है अर्थात् रण, उसको भी अंगीकार करते हैं; रण, विक्रम, महानता, साहस उनका स्वभाव होता है; धर्मकी रक्षा करना और रणका आह्वान होते ही उत्साहके साथ उसमें कूद पड़ना, उनका गुण और कर्त्तव्य होता है। धर्म और अधर्म, न्याय और अन्याय, संरक्षण करनेवाली शक्ति और अत्याचार और पीड़न करनेवाली शक्ति, इनके बीच सतत संघर्ष होता ही रहता है और एक बार जहां इसने स्थूल संग्रामका रूप धारण कर लिया तब फिर सत्य, न्याय और धर्मकी ध्वजाको ले चलनेवाले पुरुषका यह काम नहीं है कि वह अपने इस कर्मके हिंसामय और घोर रूपको देखकर घबरा या कांप जाय; उसके लिये यह कदापि उचित नहीं कि चूंकि हिंसक और क्रूरके प्रति उसमें एक दुर्बल कृपा है तथा जिस संहारकार्यको करनेका उसे आदेश मिला है उसकी विशालताको देखकर उसके जीमें एक भौतिक त्रास होता है इसलिये वह अपने अनुयायियों और सहयोद्धाओंका साथ छोड़ दे, अपने पक्षवालोंको धोखा दे और धर्म तथा न्यायकी ध्वजाको धूलमें घसीटी जाने और आततायियोंके रक्तरंजित पैरोंके तले कीचड़में रौंदी जाने दे। उसका धर्म और कर्त्तव्य रणमें है, रणसे हटनेमें नहीं; यहां संहार करना नहीं बल्कि संहारसे हाथ खींचना ही पाप होगा।

इसके बाद भगवान् गुरु क्षणभरके लिये प्रस्तुत विषयसे अलग हो जाते हैं और अर्जुनके आत्मीय स्वजनोंकी मृत्युसे होनेवाले दुःखसंबंधी विलापका एक और उत्तर देते हैं, उस विलापका जिसमें उसने यह कहा है कि इससे तो मेरा जीवन ही निस्सार हो जायगा, क्योंकि जब जीवनके हेतु और विषय ही नहीं रहेंगे तो फिर मुझे जीकर क्या करना है। क्षत्रिय आखिर किसलिये जीता है, उसके जीवनका सच्चा

उद्देश्य क्या है और किस बातमें उसका वास्तविक सुख है? अपने आपको खुश रखना, परिवारको सुखी देखना और मित्रों और नातेदारोंके बीच रहते हुए आरामसे और मौजसे तथा सुख-शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत करना, क्षत्रिय-जीवनका सच्चा उद्देश्य नहीं है; क्षत्रिय-जीवनका सच्चा उद्देश्य है सत्यके लिये लड़ना और उसका बड़े-से-बड़ा सुख इसी बातमें है कि उसे ऐसा कोई शुभ कार्य और अवसर प्राप्त हो जिसके लिये या तो वह अपना जीवन दान कर सके या विजयी होकर वीर जीवनका यश और गौरव प्राप्त कर सके। "क्षत्रियके लिये धर्म-युद्धसे बढ़कर और कोई श्रेय नहीं, ऐसे युद्धका अवसर उसके लिये स्वर्गके खुले द्वारकी तरह होता है, जब कभी ऐसा अवसर मिलता है तब क्षत्रिय सुखी हो जाता है। यदि तू धर्मकी रक्षाके लिये यह युद्ध न करेगा तो तू अपने स्वधर्म और कीर्तिका परित्याग करके पापका भागी होगा।" यदि वह ऐसे अवसरपर लड़नेसे इन्कार करेगा तो अपमानित होगा, लोग उसे कायर और दुर्बल कहेंगे और उसके क्षत्रिय नामकी मर्यादा नष्ट होगी। क्षत्रियके लिये सबसे बुरा शोक क्या है? वह है उसकी प्रतिष्ठाकी हानि, उसकी कीर्तिकी हानि, बलवान और साहसी पुरुषोंमें उसका जो स्थान है उस पदसे उसकी च्युति; उसके लिये यह मृत्युसे भी बुरी चीज है। संग्राम, साहस, शक्ति, शासन, वीरोंका मान, युद्ध करते-करते मरकर स्वर्गकी प्राप्ति—यह है योद्धाका आदर्श। इस आदर्शको नीचा करना, इस मानको कलंकित होने देना; वीरोंमें वीर कहानेवालेका ऐसा उदाहरण लोगोंके सामने रखना जिससे उसपर कायरता और दुर्बलताका कलंक लगता हो और इस प्रकार मानव-जातिका नैतिक मानदंड नीचे गिरता हो, अपने-आपको तथा इस जगत्‌का अपने नेताओं और राजाओंपर जो दावा है उसको, धोखा देना

है। "रणमें मारा जायगा तो स्वर्ग लाभ करेगा, जीतेगा तो पृथिवीपर राज करेगा; इसलिये, हे कुंतीके लाल, युद्धका निश्चय करके उठ।"

इस स्थलसे पहले जिस तितिक्षात्मक आध्यात्मिकताका उपदेश हुआ है और इस स्थलके आगे जिस गभीरतर आध्यात्मिकताकी चर्चा होगी, उनके सामने यह वीरोचित पुकार नीचे दर्जेकी बोध होती है; क्योंकि बादके ही श्लोकमें अर्जुनको यह उपदेश किया जाता है कि, सुख:दुःख, लाभालाभ और जयाजयको सम अनुभव करके युद्ध कर और यही गीताका वास्तविक उपदेश भी है। परंतु भारतीय धर्मशास्त्रने मनुष्यके विकासात्मक नैतिक और आध्यात्मिक जीवनके लिये एकके बाद एक चढ़ते हुए आदर्शोंकी व्यावहारिक आवश्यकताका सदा अनुभव किया है और इसीसे भारतीय धर्मशास्त्रमें अधिकार-भेदके अनुसार साधन-क्रमकी व्यवस्था है। यहां क्षत्रियका जो आदर्श सामने रखा गया है वह चातुर्वर्ण्यके अनुसार सामाजिक दृष्टिसे रखा गया है, इसकी जो आध्यात्मिक दृष्टि आगे चलकर दिखायी गयी है उस दृष्टिसे नहीं। श्रीकृष्ण यहां अर्जुनसे वास्तवमें यही कह रहे हैं कि यदि तू सुख और दुःख और कर्मके परिणामका हिसाब लगाकर ही अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निश्चय करना चाहता है तो मेरा यही जवाब है। मैं पहले तुझे यह बता चुका हूँ कि आत्मा और जगत्का जो उच्चतम ज्ञान है उस ज्ञानकी दृष्टिसे तेरा क्या कर्त्तव्य है और अब मैंने तुझे यह भी बताया कि तेरा सामाजिक कर्त्तव्य और तेरा अपना नैतिक मानदंड तुझे किस ओर चल-नेका इशारा करता है—'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य।' तू चाहे जिस पहलूसे भी देख, एक ही बात निष्पन्न होती है। परंतु यदि तुझे अपने सामा-जिक कर्त्तव्य और वर्णधर्मसे संतोष न होता हो, यदि तू यह समझता हो कि उससे तू दुःख और पापका भागी बनने जा रहा है, तो मेरा

आदेश यह है कि तुझे किसी हीन आदर्शकी ओर नीचे गिरनेकी अपेक्षा किसी ऊंचे आदर्शकी ओर ऊपर उठना चाहिए। अहंकारका सर्वथा परित्याग कर, सुख और दुःखकी, लाभ और हानिकी तथा ऐहिक परिणामोंकी परवाह न कर; जिस काममें तुझे लग जाना है तथा भगवान्‌के आदेशसे जिस कामको तुझे सिद्ध करना है केवल उसीकी ओर अपनी दृष्टि रख; "ऐसा करनेसे तू पापका भागी न होगा—नैवं पापमवाप्स्यसि।" इस प्रकार युद्धसे पश्चात्पद होनेमें अर्जुनकी जो दलीलें थीं—उसका दुखी होना, हत्याकांडसे उसके मनका सहम जाना, इसमें उसको पाप लगनेका बोध होना, इस कर्मका फल अच्छा नहीं होगा ऐसा उसका समझना, इन सब दलीलोंका उत्तर, अर्जुनकी जाति और युगने जो उच्चतम ज्ञान प्राप्त किया था तथा उनके जो श्रेष्ठ नैतिक आदर्श थे उनके अनुसार दिया जा चुका।

आर्य क्षत्रियका यह धर्म है। इस धर्मका यही निर्देश है कि "ईश्वरको जान, अपने-आपको जान, मनुष्योंकी मदद कर; धर्मकी रक्षा कर, भय, डगमगाहट और दुर्बलताको त्यागकर संसारमें अपना युद्ध कर्म कर। तू शाश्वत अविनाशी आत्मा है, तेरा अंतरात्मा अमृतत्वके अपने ऊर्ध्वगामी मार्गपर चलता हुआ ही इस संसारमें आया है; जीवन-मरण कोई चीज नहीं हैं, दुःख और क्लेश और कष्ट कोई चीज नहीं हैं, इन सबको जीतना और वशमें करना होगा। अपने ही सुख, जीत और लाभको मत देख, बल्कि ऊपरकी ओर और अपनी चारों ओर देख, ऊपर उस प्रकाशमय शिखरको देख जिसकी ओर तू चढ़ा चला जा रहा है, और अपनी चारों ओर इस संग्राममय और परीक्षास्थल जगत्‌को देख जिसमें शुभ और अशुभ, उन्नति और अवनति परस्पर घोर विरोधमें आवद्ध हैं। तू वीर है, लोकनायक है, इसलिये लोग तुझे पुकार रहे हैं कि आओ, हमारी मदद

करो; इसलिये अर्जुन, उनकी मदद कर, युद्धके लिये उद्यत हो। संहार कर जब कि संहारसे ही जगत् उन्नतिकी ओर आगे बढ़नेवाला है, पर जिसका संहार करेगा उससे घृणा मत कर, न उनके लिये शोक कर जो इस युद्धमें विनाशको प्राप्त होंगे। सर्वत्र उस एक ही आत्माको जान, सब प्राणियोंको अमर आत्मा और शरीरको केवल मिट्टी जान। स्थिर, दृढ़ और समभावसे अपना कर्म कर, लड़ और या तो महान् होकर मर या बलवान् होकर विजय प्राप्त कर। यही तेरा कर्म है जो भगवान्ने और तेरे स्वभावने तुझे दिया है, इसे संपन्न कर।"

---

# सांख्य और योग

भगवान् गुरु अर्जुनकी कठिनाइयोंका पहला उत्तर संक्षेपमें दे चुके, अब वे दूसरे उत्तरकी ओर मुड़ते हैं और उनके मुँहसे एक आध्यात्मिक समाधानको करनेवाले जो पहले शब्द निकलते हैं उनमें तुरंत वे यह बताते हैं कि सांख्य और योगमें एक भेद है, जिसको जान लेना गीताको समझनेके लिये अत्यंत आवश्यक है। भगवान् कहते हैं कि, "यह बुद्धि (अर्थात् वस्तुओं और इच्छाओंका बुद्धिगत ज्ञान) तुझे सांख्यमें बतायी, अब इसे योगमें सुन, इस बुद्धिसे यदि तू योगमें स्थित रहे, तो हे पार्थ, तू कर्मबंधनको छुड़ा सकेगा।" जिन शब्दोंसे गीता इस भेदको सूचित करती है उन शब्दोंका यह शब्दशः अनुवाद है।

गीता मूलतः वेदांत-ग्रंथ है। वेदांतके जो तीन सर्वमान्य प्रमाण-ग्रन्थ हैं उनमें एक गीता है। श्रुतिमें अवश्य ही इसकी गणना नहीं की जाती, क्योंकि इसकी प्रतिपादन-शैली बहुत कुछ बौद्धिक, तार्किक और दार्शनिक है, फिर भी इसका आधार सत्य ही है, लेकिन यह वह श्रुति, वह मंत्रदर्शन नहीं है जो ज्ञानकी उच्च भूमिकामें द्रष्टाको स्वतः प्राप्त होता है। तथापि इसका इतना बड़ा आदर है कि यह ग्रंथ लगभग तेरहवां उपनिषद ही माना जाता है। परंतु इसके वैदांतिक विचार

आरंभसे अंततक सांख्य और योगमार्गके विचारोंसे अच्छी तरह रंगे हुए हैं और यह रंग इसपर चढ़ा हुआ होनेसे इसकी तत्त्वमीमांसामें एक विलक्षण समन्वय-साधकता आ गयी है। वास्तवमें यह ग्रन्थ मूलतः एक योगशास्त्र है और जिस योगका यह उपदेश करता है उसकी इसमें व्यावहारिक पद्धति बतायी गयी है, और जो तात्त्विक विचार इसमें आये हैं वे इसके योगकी व्यावहारिक व्याख्या करनेके लिये ही लिये गये हैं। इसमें केवल वेदांत-ज्ञानका ही निरूपण नहीं है, बल्कि इसमें ज्ञान और भक्तिके भवनको कर्मकी नींवपर खड़ा किया गया है और कर्मको भी कर्मकी जो परिसमाप्ति है उस ज्ञानमें ऊपर उठाकर रखा गया है तथा कर्मका पोषण उस भक्तिद्वारा किया गया है जो कर्मका प्राण है और जहांसे कर्म उद्भूत होते हैं। फिर, गीताका योग विश्लेषणात्मक सांख्य-दर्शनपर स्थापित है, सांख्यको वह अपना आरंभ स्थल बनाता है और उसकी पद्धति और उसके मतमें सांख्यको बराबर ही एक बड़ा स्थान प्राप्त है, तथापि गीताका यह योग सांख्यके बहुत आगे बढ़ता है, यहांतक होता है कि सांख्यकी कुछ विशिष्ट बातोंतकको अस्वीकार करके यह एक ऐसा उपाय बताता है जिससे सांख्यके विश्लेषणात्मक कनिष्ठ ज्ञानके साथ उच्चतर, समन्वयात्मक और वेदांतिक सत्यका सम्मेलन साधित होता है।

तब फिर, गीताके ये सांख्य और योग क्या हैं? ये अवश्य ही वे दर्शन नहीं हैं जो हमें यथाक्रम ईश्वरकृष्णकी सांख्य कारिका और पतंजलिके योगसूत्रोंके रूपसे प्राप्त हैं। यह सांख्य कारिकाका सांख्य नहीं है—सांख्य शब्दसे जो साधारण धारणा होती है, कम-से-कम यह वह नहीं है; क्योंकि गीता एक क्षणके लिये भी जीवनके मूल सत्यरूपसे बहु पुरुषोंका होना कहीं भी स्वीकार नहीं करती, बल्कि सांख्य-

परंपरा जिसका जोरदार शब्दोंमें इनकार करती है उसी एकको गीता दृढ़ताके साथ आत्मा और पुरुष, फिर उसी एकको परमेश्वर, ईश्वर या पुरुषोत्तम और ईश्वरको जगत्का आदि कारण घोषित करती है। सांख्य-परंपरा, आधुनिक भाषामें कहना हो तो, अनीश्वरवादी है; गीताके सांख्यमें जगत्कारण-रूपसे ईश्वरवाद, विश्वब्रह्मवाद और अद्वैतवाद, इन सभी सिद्धांतोंका स्वीकार और सूक्ष्म समन्वय है।

न गीताका योग पतंजलिका योगदर्शन ही है। पतंजलिका योगदर्शन राजयोगकी केवल एक आभ्यंतरीण प्रणाली है, एक आंतरिक अनुशासन है, एक नपी-तुली पद्धति है, एक बंधा हुआ कठोर साधनसूत्र है जिसमें उत्तरोत्तर चढ़ता हुआ एक कठोर शास्त्रीय साधनक्रम है, जिसके द्वारा मनको निस्तब्ध करके समाधिमें पहुँचाया जाता है जिससे कि हमारे इस आत्म-अतिक्रमणका हमें ऐहिक और पारलौकिक, दोनों फल प्राप्त हो जायं; ऐहिक, जीवके ज्ञान और बलके अति विस्तारद्वारा और पारलौकिक भगवान्‌के साथ एकताके द्वारा। परंतु गीताका योग एक उदार, लचकीली और बहुमुखी पद्धति है, जिसमें अनेक प्रकारके तत्त्वोंका समावेश है, और ये सभी तत्त्व एक प्रकारकी स्वाभाविक और जीती-जागती परिपाक-क्रियाद्वारा गीतामें समन्वित किये गये हैं; राजयोग तो इन तत्त्वोंमेंका केवल एक तत्त्व है और वह भी कोई अत्यंत महत्वपूर्ण तत्त्व नहीं। गीताके योगमें कोई नियमबद्ध और शास्त्रीय श्रेणीविभागका विधान नहीं है, यह योग तो एक ऐसी साधना है जिसमें स्वाभाविक आत्म-विकास होता रहता है। गीता चाहती है आभ्यंतरीण संतुलित अवस्थाद्वारा और कर्मके कतिपय सिद्धांतोंके अवलंबनद्वारा जीवको रूपांतरित कर देना, किसी परिवर्तन, आरोहण या नवजन्मके द्वारा उसे निम्न प्रकृतिसे बाहर निकालकर परा प्रकृतिके साथ एक कर देना।

अतएव यौगिक समाधिके नामसे साधारणतया जो समाधि समझी जाती है, गीताके योगकी समाधि उससे सर्वथा भिन्न है। पातंजल योगमें कर्मकी महत्ता और आवश्यकता केवल चित्तशुद्धि और ध्यानकी साधना करनेभरके लिये ही है और गीताके योगमें कर्म योगका विशेष लक्षण है। पतंजलि कर्मको केवल प्रारंभिक साधनमात्र मानते हैं और गीतामें कर्म चिरंतन आधारभूमि है। राजयोगमें कर्मसे मिलनेवाली सिद्धिके मिलते ही कर्मको हटा देना पड़ता है या यह कहिये कि योगसाधनके लिये फिर उसकी कोई आवश्यकता नहीं रहती और गीतामें कर्म सर्वोच्च अवस्थामें पहुँचनेका साधन है और जीवके पूर्ण मोक्ष लाभ कर चुकनेके बाद भी वह बना रहता है।

इतना यहां कह देना इसलिये आवश्यक हुआ कि उन परिचित शब्दोंके प्रयोगसे कोई भ्रम न उत्पन्न हो जाय जो परिचित और रूढ़ अर्थकी अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थमें यहां प्रयुक्त हुए हैं। फिर भी सांख्य और योग दर्शनोंमें जो कुछ सार तत्त्व है, जो कुछ व्यापक, उदार और सर्वमान्य सत्य है वह गीतामें स्वीकृत है और यह सब स्वीकृत होते हुए भी गीता इन परस्पर विरोधी दर्शनोंके समान केवल उन्हींसे आबद्ध नहीं है। गीताका सांख्य उदार और वेदांतमान्य सांख्य है, यह वह सांख्य है जिसके प्रथम सिद्धांत और तत्त्व उपनिपदोंके वैदांतिक समन्वयमें पाये जाते हैं और जिसका वर्णन बादके विकासमें अर्थात् पुराणों-में भी आया है। इसका योग वह आभ्यंतरीण साधना और आंतरिक परिवर्तन है जो आत्माको ढूंढ़ निकालने या भगवान्‌से एकता लाभ करनेके लिये आवश्यक है और राजयोग इसका एक विशिष्ट प्रयोगमात्र है। गीताका यह आग्रह है कि सांख्य और योग कोई परस्पर भिन्न, विसंगत और विरोधी शास्त्र नहीं हैं, बल्कि दोनोंका सिद्धांत और

उद्देश्य एक है, भेद केवल उनकी प्रक्रिया और मार्गारंभमें है। सांख्य भी योग है पर यह केवल ज्ञानमार्गसे आगे बढ़ता है, अर्थात् इसका आरंभ हमारी सत्ताके तत्त्वोंका बौद्धिक विवेक और विश्लेषणद्वारा होता है और अंतमें यह सत्यका दर्शन कर उसपर अधिकार प्राप्त करके अपने लक्ष्यतक पहुँचता है। दूसरी ओर, योग कर्ममार्गसे अग्रसर होता है; इसका प्रथम सिद्धांत है कर्मयोग; परंतु गीताकी संपूर्ण शिक्षासे तथा कर्म शब्दकी जो परिभाषा इसमें पीछे की गयी है उससे यह स्पष्ट है कि कर्म शब्दका प्रयोग गीतामें बहुत व्यापक अर्थमें किया गया है और योग शब्दसे गीताका अभिप्राय है एक ऐसा निःस्वार्थ समर्पण जिसमें हमारी समस्त आंतरिक और बाह्य कर्मण्यताओंको यज्ञ-रूपसे कर्मके ईश्वरको, उस सनातन परब्रह्मको भेंट कर देना होगा जो जीवके तपों और तपस्याओंके स्वामी हैं। यह योग उस सत्यकी साधना है जिसका ज्ञान दर्शन कराता है और इस साधनाकी प्रेरक-शक्ति है एक प्रकाशमान भक्तिका भाव, एक शांत या उग्र आत्म-समर्पणका भाव उन परमात्माके प्रति जिन्हें ज्ञान पुरुषोत्तमके रूपमें देखता है।

पर सांख्यके सत्य क्या हैं? सांख्य-दर्शनका यह नाम विश्लेषण-पद्धतिके कारणसे उसे प्राप्त हुआ है, सांख्यमें हमारी सत्ताके तत्त्वोंका विश्लेषण, संख्याकरण, विभाजन और विवेचन है, जिसके केवल संघात या संघातके फलको ही मनुष्यकी साधारण बुद्धि देख पाती है। सांख्य-दर्शनने समन्वय साधनेकी कोई चेष्टा नहीं की। इस दर्शनका मूलभूत सिद्धांत यथार्थमें द्वैत है, वह आपेक्षिक द्वैत नहीं जो वेदांतका मत है, बल्कि यह वह द्वैत है जो सर्वथा निरपेक्ष और निराला है। इस सिद्धांतके अनुसार जगत्कारणस्वरूप कोई एक ही सत्ता नहीं है; बल्कि दो मूल तत्त्व हैं जिनका संयोग ही इस जगत्का कारण है—एक

है पुरुष जो अकर्त्ता है और दूसरा तत्त्व है प्रकृति जो कर्त्री है। पुरुष आत्मा है, जीव नहीं, बल्कि यह वह सचेतन सत्ता है जो अचल है, अक्षर है और स्वयंप्रकाश है। प्रकृति है कर्त्री शक्ति और उसकी प्रक्रिया। पुरुष स्वयं कुछ नहीं करता, पर वह कर्त्री शक्ति और उसकी प्रक्रियाओं-को आभासित करता है; प्रकृति जड़ है पर पुरुषमें आभासित होकर अपने कर्ममें चैतन्यका रूप धारण करती है और इस प्रकार सृष्टि स्थिति और संहार, जन्म जीवन और मरण, चेतना और अचेतना, इंद्रियगम्य ज्ञान और बुद्धिगम्य ज्ञान तथा अज्ञान, कर्म और अकर्म, सुख और दुःख, ये सब घटनाएं उत्पन्न होती हैं और पुरुष प्रकृतिके प्रभावमें आकर इन सबको अपने ऊपर ओढ़ लेता है यद्यपि ये उसके अंग बिलकुल नहीं हैं बल्कि केवल प्रकृतिकी क्रिया या गतिके अंग हैं।

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है; सत्त्व, ज्ञानका बीज है, यह कर्त्री शक्तिके कर्मोंकी स्थिति रखता है; रज, बल और कर्मका बीज है, यह कर्त्री शक्तिकी क्रियाओंकी सृष्टि करता है; तमस जड़त्व और अज्ञानका बीज है, यह सत्त्व और रजका अपलाप है, जो कुछ वे सृष्टि करते, उसकी स्थिति रखते यह उसका संहार करता है। प्रकृतिके ये तीन गुण जब साम्यावस्थामें रहते हैं तब सब कुछ जहां-का-तहां पड़ा रहता है, कोई गति नहीं, कोई कर्म नहीं, कोई सृष्टि नहीं और इसलिये तब चिन्मय आत्माकी अक्षर ज्योतिर्मय सत्तामें आभासित या प्रतिबिंबित होनेवाली कोई वस्तु नहीं होती। पर जब यह साम्यावस्था विक्षुब्ध हो जाती है तब तीनों गुण परस्पर विषम हो उठते हैं और वे एक-दूसरेसे संघर्ष करते और एक-दूसरेपर अपना प्रभाव जमानेका प्रयत्न करते हैं, और उसीसे विश्वको प्रकट करनेवाला यह विरामरहित सृष्टि, स्थिति और संहारका दुस्तर व्यापार आरंभ होता है। यह कर्म तबतक होता रहता

है जबतक पुरुष अपने अंदर इस वैषम्यको प्रतिभासित होने देता है, जो उसके सनातन स्वभावको ढांक देता और उसपर प्रकृतिके स्वभावको आरोपित कर देता है। पर जब पुरुष अपनी इस अनुमतिको हटा लेता है तब तीनों गुण साम्यावस्थाको प्राप्त हो जाते हैं और पुरुष अपने सनातन अविकार्य अचल स्वरूपमें लौट आता है, वह विश्व-प्रपंचसे मुक्त हो जाता है। अपने अंदर प्रकृतिको आभासित होने देना और यह अनुमति देना या लौटा लेना, पुरुषकी अगर कोई शक्ति है तो बस इतनीसी ही। प्रकृतिको अपने अंदर आभासित देखनेके नाते पुरुष साक्षी है और अनुमति देनेके नाते अनुमंता है, पर कर्त्ता-रूपसे ईश्वर नहीं। उसका अनुमति देना भी निष्क्रिय है और उस अनुमतिको लौटा लेना एक दूसरे प्रकारकी निष्क्रियता है। कर्ममात्र ही, चाहे वह आंतरिक हो या बाह्य, आत्माका स्वधर्म नहीं; उसमें न कोई सकर्मक इच्छा है न कोई सकर्मक बुद्धि। इसलिये पुरुष अकेला ही इस जगत्का कारण नहीं हो सकता, और कोई दूसरा कारण भी है इसको स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। केवल पुरुष ही अपने चिन्मय ज्ञान, संकल्प और आनंदके स्वभावसे जगत्का कारण नहीं है, बल्कि पुरुष और प्रकृति दोनोंकी द्विविध सत्ता ही जगत्का कारण है, एक है निष्क्रिय चैतन्य और दूसरी है कर्त्री शक्ति। अस्तु! जगत्के अस्तित्वके विषयमें सांख्यकी व्याख्या इस प्रकार है।

परंतु तब ये सचेतन बुद्धि और सचेतन संकल्प कहांसे आते हैं जिन्हें हम अपनी सत्ताका इतना बड़ा अंग अनुभव करते हैं और जिन्हें हम सामान्यतः और सहज ज्ञानसे ही प्रकृतिकी कोई चीज न मानकर पुरुषकी ही मानते हैं? सांख्यके अनुसार बुद्धि और संकल्प सर्वथा प्रकृतिकी जड़शक्तिके ही अंग हैं, पुरुषके गुणधर्म नहीं; ये दोनों ही बुद्धि-तत्त्व हैं जो जगत्के चौबीस तत्त्वोंमेंसे एक तत्त्व है। इस सृष्टिका

जो क्रम है उसके मूलमें प्रकृति अपने तीनों गुणोंसहित सब पदार्थोंकी मूल वस्तुके रूपमें अव्यक्त अचेतन अवस्थामें रहती है। फिर उसमेंसे क्रमशः कर्मशक्ति या विषय—कारण सांख्य-दर्शनमें कर्मशक्ति और महाभूत एक ही चीज है—के पांच मूल तत्त्व पैदा होते हैं। इनको प्राचीन शास्त्रोंमें पंचमहाभूत कहा है, ये हैं आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी; यह याद रहे कि आधुनिक सायंसकी भाषामें जिन पदार्थोंके ये नाम हैं उनसे यहां अभिप्राय नहीं है, बल्कि जड़ प्राकृतिक शक्तिकी ये अति सूक्ष्म अवस्थाएं हैं जिसका विशुद्ध रूप इस स्थूल जगत्‌में कहीं भी प्राप्य नहीं। सब पदार्थ इन्हीं पांच सूक्ष्म तत्त्वोंके संघातसे उत्पन्न होते हैं। फिर इन पंचमहाभूतोंमेंसे, प्रत्येकसे एक-एक तन्मात्रा उत्पन्न होती है। ये पंचतन्मात्राएं हैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। इन्हींके द्वारा ज्ञानेंद्रियोंको विषयोंका ज्ञान होता है। इस प्रकार मूल प्रकृतिसे उत्पन्न इन पंचमहाभूतों और उनकी इन पंचतन्मात्राओं—जिनके द्वारा स्थूलका बोध होता है—से यह बाह्य जगत् उत्पन्न होता है।

तेरह तत्त्व और हैं जिनसे विश्वप्रकृतिका अंतरंग निर्माण होता है—बुद्धि या महत्, अहंकार मन और उसकी दस इंद्रियां (पांच ज्ञानेंद्रिय और पांच कर्मेंद्रिय)। मन मूल इंद्रिय है, यह बाह्य पदार्थोंको अनुभव करता और उनपर प्रतिक्रिया करता है; कारण इसमें अंतर्मुखी और बहिर्मुखी दोनों क्रियाएं साथ-साथ होती रहती हैं; इंद्रियानुभवके द्वारा यह उन अर्थोंको ग्रहण करता है जिन्हें गीतामें "बाह्यस्पर्श" कहा गया है और उनके द्वारा जगत्‌को जानता और सक्रिय प्राणशक्ति-द्वारा उसपर प्रतिक्रिया करता है। परंतु यह पांच ज्ञानेंद्रियोंकी सहायतासे, शब्द स्पर्श रूप रस और गंध जिनके विषय हैं, यह अपनी ग्रहण करनेकी अति सामान्य क्रियाओंको विशेष रूपसे चलाता है; इसी

प्रकार पांच कर्मेंद्रियोंकी सहायतासे वाणी, गमन,वस्तुओंका ग्रहण, त्याग और उत्पादनके द्वारा यह प्रतिक्रिया करनेवाली कतिपय प्राणकी आवश्यक क्रियाओंको विशेष रूपसे चलाता है। बुद्धि जो विवेक-तत्त्व है, वह एक साथ ही बोध और संकल्प दोनों ही कार्य करनेवाली शक्ति है, प्रकृतिकी यह वह शक्ति है जो विवेकके द्वारा पदार्थोंको उनके गुणधर्मानुसार पृथक् करती है और उनकी संगति भी बैठाती है। अहंकार बुद्धिका "अहं" पद वाच्य वह तत्त्व है जिससे पुरुष प्रकृति और उसकी क्रियाओंके साथ तादात्म्यको प्राप्त होता है। परंतु ये अंतःकरण तत्त्व उतने ही जड़ हैं, अचेतन प्रकृतिके उतने ही अंश हैं जितने कि उसके बाह्य करण। यदि हमारी समझमें यह बात न आती हो कि कैसे बुद्धि और मन जड़ प्रकृतिके अंश और स्वयं जड़ हैं तो हमें इतना ही याद रखना चाहिये कि आधुनिक सायंसको यही सिद्धांत ग्रहण करना पड़ा है। परमाणुकी अचेतन क्रियामें भी एक शक्ति होती है जिसे अचेतन इच्छा ही कह सकते हैं और प्रकृतिके सब कर्मोंमें यही व्यापक इच्छा अचेतन रूपसे बुद्धिका काम किया करती है। हम लोग जिसे मानसिक बुद्धि कहते हैं वह तत्त्वतः ठीक वही चीज है जो इस जड़प्राकृतिक विश्वके सब कर्मोंमें अवचेतन रूपसे विवेक करने और संगति मिलानेका काम किया करती है, और मनुष्यके अंदर जो सचेतन मन है वह भी, आधुनिक सायंस यह दिखलानेका यत्न करता है कि, अचेतन प्रकृतिके जड़ कर्मका ही परिणाम और प्रतिलिपि है। परंतु आधुनिक सायंस जिस विषयको हमें नहीं बता सका, अर्थात् किस प्रकार जड़ और अचेतन, सचेतनका रूप धारण करता है, उसे सांख्य शास्त्र समझा देता है। सांख्यके अनुसार इसका कारण है प्रकृतिका पुरुषमें प्रतिभासित होना; पुरुषके चैतन्यका प्रकाश जड़ प्रकृतिके कर्मोंपर आरोपित होता है

और पुरुष साक्षी-रूपसे प्रकृतिको देखता और अपने-आपको भूलता हुआ प्रकृतिद्वारा प्रेरित भावसे विमोहित होकर यह समझता है कि मैं ही तो सोचता, अनुभव करता, संकल्प करता और सब कर्मोंका कर्त्ता हूं, जब कि यथार्थमें ये सब कर्म प्रकृति और उसके तीन गुणोंद्वारा हो रहे हैं, उसके द्वारा जरा भी नहीं। इस मोहको दूर करना प्रकृति और उसके कर्मोंसे आत्माके मुक्त होनेका प्रथम सोपान है।

अवश्य ही बहुतसी ऐसी चीजें हमारे इस जगत्में हैं जिन्हें सांख्यशास्त्र निरूपित नहीं करता और करता भी है तो पूर्ण समाधान-कारक रीतिसे नहीं, परंतु यदि हम जो कुछ चाहते हैं वह इतना ही है कि हम केवल यौक्तिक व्याख्याद्वारा यह समझ लें कि इस विश्वकी प्रक्रियाएं तत्त्वतः क्या हैं जिसमें कि हम उस लक्ष्यकी ओर अग्रसर हो सकें जो सभी प्राचीन दर्शनोंका लक्ष्य है, अर्थात् विश्वप्रकृतिके जंजालसे आत्माकी मुक्ति, तब तो सांख्यका जो जगत्-निरूपण है और मुक्तिका जो सांख्य-मार्ग है वह उतना ही उत्तम और उतना ही अमोघ है जितना कि और कोई भी दर्शनशास्त्र। यहां जो बात पहले समझमें नहीं आती वह यह है कि सांख्य प्रकृतिको एक और पुरुषको अनेक मानकर अपने द्वैत सिद्धांतमें जो बहुत्वकी स्थापना करता है सो किस-लिये। ऐसा मालूम होता है कि एक ही प्रकृति और एक ही पुरुषके होनेसे भी तो विश्वकी सृष्टि और उसके क्रमका हिसाब लगाया जा सकता था। परंतु इसमें पदार्थोंके मूल तत्त्वोंके निरीक्षणकी जो कठोर विश्लेषण-पद्धति है उसके फलस्वरूप पुरुष-बहुत्वके सिद्धांतका प्रति-पादन करना सांख्यके लिये अनिवार्य था। पहली बात यह है कि वास्तवमें हम इस संसारमें अनेक सचेतन प्राणियोंको देखते हैं और इनमें-से प्रत्येक प्राणी इस जगत्को अपने ही ढंगसे देखता है, और इसकी

आंतरिक और बाह्य वस्तुओंको प्रत्येक प्राणी अपने स्वतंत्र ढंगसे अनुभव करता है, और, यद्यपि अनुभव करनेवाली तथा प्रतिक्रिया करनेवाली प्रक्रियाएं एक ही हैं फिर भी प्रत्येक प्राणी इसके साथ पृथक्-पृथक् रूपसे व्यवहार करता है। यदि पुरुष एक ही होता तो यह केंद्रीभूत स्वातंत्र्य और पार्थक्य न होता और सभी प्राणी जगत्को एकसा ही देखते, एक ही रूपमें पदार्थोंको ग्रहण करते और सबका व्यवहार एकसा ही होता। चूँकि प्रकृति एक है, इसीसे तो सब प्राणी उसी एक जगत्को देखते हैं; चूँकि उसके तत्त्व हर जगह एक ही हैं इसीसे तो जिन सर्व-साधारण तत्त्वोंके कारण आंतरिक और बाह्य अनुभूतियां होती हैं वे सबके लिये एकसी ही हैं; परंतु इन प्राणियोंकी दृष्टि विचार और रुखमें, इनके कर्म अनुभव और अनुभवसे भागनेकी वृत्तिमें जो असंख्य भेद हैं—अवश्य ही ये भेद प्रकृतिकी स्वाभाविक क्रियाके नहीं, बल्कि द्रष्टा चेतनाके हैं—इस विषयकी सिवाय इसके और कोई व्याख्या नहीं हो सकती कि ये साक्षी अनेक हैं, पुरुष अनेक हैं। शायद हम ऐसा कह सकते हैं कि पृथकत्व ही जिसका धर्म है उस अहंकारके कारण ही यह सब होता है और यही इस विषयका पर्याप्त उत्तर है? पर अहंकार तो प्रकृतिका एक तत्त्व है जो सबके लिये समान है, उससे भेदका होना तो कोई जरूरी बात नहीं; क्योंकि वह स्वयं तो केवल इतना ही करता है कि वह पुरुषको प्रकृतिके साथ तादात्म्य कर लेनेमें प्रवृत्त करता है, और यदि एक ही पुरुष होता तो सब जीव एक होते, अपनी अहंभावमय चेतनामें जुटे हुए और एकसे होते; फिर उनके केवल रूपोंमें और उनके प्राकृतिक अंगोंके संघातोंके ब्योरेमें चाहे कितना भी भेद होता तो भी जीवपर पड़नेवाला जगद्दृश्यका असर भिन्न-भिन्न प्रकारका न होता और सबकी अनुभूति भिन्न-भिन्न प्रकारकी न होती। प्रकृतिमें होनेवाले

परिवर्तनोंसे एक साक्षी या एक पुरुषमें यह कैंद्रिक भेद, यह दृष्टयंतर और अथसे इतिपर्यंत अनुभूतिका यह पार्थक्य नहीं होना चाहिये था। इसलिये वेदांतके पुरातन ज्ञानसे निकली हुई पर पीछे उससे विच्छिन्न हुई सांख्यकी जो पद्धति है उसमें बहु पुरुषका सिद्धांत एक न्यायगत आवश्यकता थी। विश्व और उसकी प्रक्रियाको एक पुरुष और एक प्रकृतिका व्यापार कहकर समझाया जा सकता है, किंतु इस वर्णनसे विश्वमें ये जो असंख्य सचेतन जीव हैं, इस विषयका समाधान नहीं होता।

फिर इतनी ही बड़ी एक और कठिनाई है। जैसे अन्य दर्शन-शास्त्रोंका लक्ष्य है वैसे ही सांख्य-दर्शनने भी अपना लक्ष्य 'मोक्ष' ही रखा है। यह मोक्ष, ऐसा कहा गया है कि, पुरुषको प्रकृतिके कर्मोंसे अपनी अनुमति हटा लेनेसे प्राप्त होता है, क्योंकि प्रकृतिके ये कर्म उसीको आनंद देनेके लिये हैं। परंतु, वास्तवमें, यह केवल कहनेका एक ढंग है। पुरुष अकर्त्ता है और अनुमति देने या हटा लेनेकी जो क्रिया है वह यथार्थमें पुरुषकी नहीं हो सकती, बल्कि यह अवश्य ही स्वयं प्रकृतिमें होनेवाली एक गति है। विचार करनेसे मालूम होगा कि यह भी बुद्धि-तत्त्वमें होनेवाली एक क्रिया ही है, उसकी एक प्रतिक्षेपक या प्रत्यावर्तनकारी गतिमात्र है। बुद्धि ही मनके द्वारा होनेवाली विषय-प्रतीतिसे अपना संबंध जोड़ती रही है; बुद्धि ही विश्वप्रकृतिके द्वारा होनेवाले कर्मोंका व्यतिरेक और अन्वय करती और अहंकारकी सहायतासे प्रकृतिके विचार, अनुभव और कर्मके साथ द्रष्टा पुरुषका तादात्म्य साधन करती रही है। यही बुद्धि फिर व्यतिरेककी प्रक्रियाके द्वारा इस कटु और विघटात्मक अनुभूतिको प्राप्त होती है कि प्रकृतिके साथ पुरुषका जो यह तादात्म्य है वह केवल भ्रम है; अंतमें इसका यह विवेक होता है कि पुरुष प्रकृतिसे अलग है और यह सारा विश्वप्रपंच प्रकृतिके गुणोंकी

साम्यावस्थाका विक्षोभमात्र है। तब बुद्धि जो एक साथ बुद्धि भी है और संकल्प-शक्ति भी इस मिथ्यात्वसे, जिसका वह अबतक पोषण करती रही है, तुरंत हट जाती है और पुरुष बंधन-मुक्त होकर विश्वप्रपंचमें रमनेवाले मनका अब संग नहीं करता। इसका अंतिम फल यह होगा कि प्रकृतिकी पुरुषमें प्रतिभासित होनेकी शक्ति नष्ट हो जायगी; क्योंकि अहंकारका प्रभाव अब नष्ट हो गया है और बुद्धि उदासीन हो जानेके कारण प्रकृतिकी अनुमतिका अब साधन नहीं रही है। तब, अवश्य ही उसके गुण आप ही साम्यावस्थाको प्राप्त होंगे। विश्वप्रपंच फिर कहां? पुरुषको तब अपनी अचल शांतिमें लौट आना होगा। परंतु यदि पुरुष एक ही होता तो बुद्धितत्त्वके भ्रमसे निवृत्त होते ही सारा विश्वप्रपंच ही बंद हो जाता। सो तो हम देखते हैं कि नहीं होता। असंख्य प्राणियोंमें-से कुछ ही मोक्षको प्राप्त होते या मोक्षमार्गके अनुगामी होते हैं; शेष सब प्राणी जहां-के-तहां रहते हैं और विश्वप्रकृतिकी जो क्रीड़ा उनके साथ हो रही है उसमें इस क्षिप्र त्यागसे उस प्रकृतिको बिंदुमात्र भी असुविधा नहीं होती जिसका सारा कारवार इस कार्यसे बंद हो जाना चाहिये था। ऐसा नहीं होनेका केवल एक ही कारण कहा जा सकता है और वह यह कि पुरुष अनेक हैं और वे सब-के-सब स्वतंत्र हैं। वैदांतिक अद्वैतवादकी दृष्टिके अनुसार यदि इसकी कोई न्यायसंगत व्याख्या हो सकती है तो वह मायावाद है; पर मायावादको मान लेनेपर यह सारा प्रपंच एक स्वप्नमात्र हो जाता है, फिर बंधन और मुक्ति दोनों ही अविद्याकी अवस्था हो जाती है, मायाकी व्यावहारिक भ्रांतिमात्र हो जाती है; वास्तवमें न कोई बद्ध हुआ है न कोई मुक्त। सांख्य जो कि अधिक वस्तुतंत्रवादी है, सृष्टिविषयक इस भावनाको स्वीकार नहीं करता कि यह सब दृष्टिभ्रम है। इसलिये वेदांतके इस समाधानको

वह ग्रहण नहीं कर सकता। इस प्रकार यहां भी सांख्योंकी जगत्-विश्लेषण-पद्धतिसे प्राप्त सिद्धांतोंको ग्रहण करते हुए बहु पुरुषका सिद्धांत ही अपरिहार्य रूपसे मानना पड़ता है।

गीता सांख्यके इस विश्लेषणको ग्रहण करके अपना उपदेश आरंभ करती है और जहां वह योगका निरूपण करती है वहां भी पहले तो ऐसा दिखायी देता है कि उसने सांख्यके इस विचारको प्रायः पूर्णतया स्वीकार किया है। प्रकृति, उसके तीन गुण और चौबीस तत्त्वोंको गीता स्वीकार करती है; प्रकृतिपर समस्त कर्मोंका मढ़ा जाना और पुरुषका अकर्त्ता होना भी गीताको स्वीकृत है; विश्वमें अनेक सचेतन प्राणियोंका होना भी यह स्वीकार करती है; अहंकारका तथा बुद्धिकी भेदभाव करनेवाली क्रियाका लय और प्रकृतिके गुणकर्मका अतिक्रमण ही मोक्षका साधन है, इसको भी गीता स्वीकार करती है। आरंभसे ही अर्जुनसे जिस योगकी साधना करनेको कहा जा रहा है वह बुद्धियोग है। परंतु एक भेद है और वह बहुत बड़ा महत्व रखता है—पुरुष यहां एक है, अनेक नहीं। गीताका मुक्त, अशरीरी, अचल, सनातन, अक्षर पुरुष केवल एक बातको छोड़कर और सब बातोंमें वेदांतकी भाषामें सांख्योंका ही सनातन, अकर्त्ता, अचल, अक्षर पुरुष है। पर बहुत बड़ा जो प्रभेद है वह यही कि यह पुरुष एक है, बहु नहीं। इससे वह बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है जिसको सांख्यका बहुपुरुषवाद टाल जाता है, और फिर किसी सर्वथा नये समाधानकी आवश्यकता खड़ी हो जाती है। गीता इस समाधानको करती है, अपने वैदांतिक सांख्यमें वैदांतिक योगके सिद्धांतों और तत्त्वोंको लाकर।

पहला जो नया महत्त्वपूर्ण सिद्धांत यहां प्राप्त होता है वह स्वयं पुरुषके ही संबंधमें है। प्रकृति कर्मका संचालन करती है पुरुषके आनंदके

लिये। पर यह आनंद कैसे साधित होता है? सांख्योंके विश्लेषणमें इस आनंदके साधनमें शांत साक्षीकी निष्क्रिय अनुमतिमात्र ही कारण है। निष्क्रिय रहकर साक्षी पुरुष बुद्धि और अहंकारके कार्यमें अनुमंता होता है और निष्क्रिय रहकर ही वह उस बुद्धिके अहंकारसे अलग हट जानेमें अनुमति देता है। पुरुष द्रष्टा है, अनुमतिका मूल कारण है, आभासके द्वारा प्रकृतिके कर्मको धारण करनेवाला है—इस प्रकार साक्षी, अनुमंता और भर्त्ता है, इसके सिवाय और कुछ नहीं। परंतु गीतोक्त पुरुष प्रकृतिका प्रभु भी है, वह ईश्वर है। जहां बुद्धिकी क्रिया प्रकृतिकी है, वहां इस बुद्धिकी उत्पत्ति सचेतन पुरुषसे होती है और वहींसे इसको शक्ति मिलती है; वही तो प्रकृतिका प्रभु है। जहां संकल्पशक्तिकी बुद्धिके कार्य प्रकृतिके हैं, वहां इस बुद्धिकी धारा और प्रकाशको पुरुष ही सक्रिय रूपसे देता है; वह केवल साक्षी ही नहीं है, बल्कि ज्ञाता और ईश्वर है, ज्ञान और संकल्पका स्वामी है। प्रकृतिकी कर्ममें प्रवृत्तिका वही परम कारण है। सांख्योंकी विश्लेपणात्मक विवेचन-पद्धतिमें पुरुष और प्रकृति, विश्वके दो कारण हैं; और इस समन्वयात्मक सांख्यमें पुरुष अपनी प्रकृतिके द्वारा, विश्वका एकमात्र कारण है। अब हम लोग देख सकते हैं कि सांख्य-परंपराकी जकड़ी हुई कट्टरपंथी विश्लेषण-प्रणालीसे हम लोग कितनी दूर निकल आये।

परंतु गीता आरंभसे जिस एक अद्वितीय पुरुषकी बात कह रही है जो अक्षर, अचल और नित्य मुक्त है, उसकी क्या कैफियत है? वह अव्यय, अविकार्य, अज, अव्यक्त ब्रह्म है, फिर भी उसीके द्वारा यह सारा विश्व प्रसारित है। इसलिये ऐसा मालूम होगा कि ईश्वरतत्त्व उसकी सत्तामें है; एक ओर यदि वह अचल है तो दूसरी ओर समस्त कर्मों और गतियोंका कारण और प्रभु भी है। पर कैसे? और विश्वमें जो

ये अनेक सचेतन प्राणी हैं इनका यह अनेकत्व क्या बात है? ये तो ईश नहीं बल्कि अनीश ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि ये त्रिगुणके कर्म और अहंकारजन्य भ्रमके वशीभूत हैं, और यदि ये सब एक ही आत्मा हैं, जैसा कि गीताका आशय मालूम होता है, तो यह प्रकृतिमें लीनता, वश्यता और भ्रांति कहांसे उत्पन्न हुई अथवा इसका सिवाय यह कहनेके कि पुरुष सर्वथा निष्क्रिय है दूसरा क्या समाधान है? और फिर पुरुषका यह बहुत्व कहांसे आया? अथवा यह क्या बात है कि जहां उस एक अद्वितीय पुरुषकी किसी एक शरीर और मनमें तो मुक्ति होती है वहां अन्य शरीरों और मनोंमें वह बंधनके भ्रममें ही बना रहता है? ये शंकाएं हैं जिनका समाधान करना ही होगा, इन्हें यों ही नहीं टाला जा सकता।

गीताके बादके अध्यायोंमें इन सब शंकाओंका, प्रकृति और पुरुषके विश्लेषणद्वारा समाधान किया गया है। इस विश्लेषणमें कुछ ऐसे नवीन तत्त्वोंका आविष्करण किया गया है जो सांख्य-परंपराके लिये तो परकीय हैं पर वैदांतिक योगके लिये स्वकीय हैं। यहां तीन पुरुष या एक पुरुषके तीन पाद कहे गये हैं। उपनिषदोंमें सांख्य-सिद्धांतोंके विवरण-प्रसंगमें कभी-कभी दो ही पुरुषोंका वर्णन देख पड़ता है। एक मंत्रमें यह वर्णन है कि एक अजा है जिसके तीन वर्ण हैं, यह प्रकृतिके सनातन स्त्री-तत्त्वका वर्णन है जो अपने तीनों गुणोंके साथ सतत सृष्टि-कर्म कर रही है; और दो अज हैं, दो पुरुष, जिनमेंसे एक प्रकृतिसे लिपटा हुआ है और उसे भोगता है, दूसरा उसे त्याग देता है क्योंकि वह उसके सब भोग भोग चुका है। दूसरे मंत्रमें यह वर्णन है कि एक वृक्षपर दो पक्षी हैं, दोनों एक-दूसरेके सदासे सयुज सखा हैं, एक उस वृक्षके फल खाता है (अर्थात् प्रकृतिस्थ पुरुष प्रकृतिके विश्वप्रपंचको भोगता है,) दूसरा नहीं खाता, पर अपने सखाको देखता रहता है—

यह निश्चल और नीरव साक्षी पुरुष है जो भोगसे निवृत्त है; जब पहला दूसरेको देखता और यह जानता है कि सारी महिमा उसीकी है तब वह दुःखसे मुक्त होता है। दोनों मंत्रोंमें विभिन्न दृष्टिसे वर्णन किया गया है, पर आशय दोनोंका एक है। उन दो पक्षियोंमेंसे एक सदा निश्चल नीरव मुक्त पुरुष है जिसके द्वारा यह विश्व प्रसारित है और जो अपने द्वारा प्रसारित इस विश्वको देखता है, पर इससे निर्लिप्त रहता है; दूसरा प्रकृतिस्थ पुरुष है। प्रथम मंत्र यह बतलाता है कि दोनों पुरुष एक ही हैं, उसी एक चिद्रूप पुरुषकी बद्ध और मुक्त इन दो अवस्थाओंको प्रतिभासित करते हैं; क्योंकि जो दूसरा अज है वह प्रकृतिमें उतरकर उसके भोगोंको भोगकर उससे निवृत्त हुआ है। दूसरा मंत्र यह बात बतलाता है, जो हमको पहले मंत्रसे नहीं मिलती, कि पुरुष अपनी एकत्वकी परमावस्थामें सदा ही मुक्त, अकर्त्ता और अनासक्त है और केवल अपनी निम्नसत्तामें स्थित होकर प्रकृतिद्वारा सृष्ट प्राणियोंके बहुत्वमें उतर आता है और फिर व्यक्तिगत प्राणीके द्वारा वापस लौटकर प्रकृतिसे निवृत्त हो जाता और अपनी उच्चतर अवस्थामें आ जाता है। एक ही सचेतन आत्माकी द्विविध अवस्थाका यह सिद्धांत एक रास्ता तो खोल देता है; पर एकके अनेक होनेकी प्रक्रिया अब भी उलझी हुई है।

इन दो पुरुषोंमें, गीता उपनिषदोंके* अन्य वचनोंका आशय विशद करती हुई, एक और पुरुष मिलाती है, यह वह पुरुष है जो परसे भी पर अर्थात् पुरुषोत्तम है, जिसकी महिमा यह सारी सृष्टि है।

---

*'पुरुषः ... ... अक्षरात् ... ... [परतः परः' अर्थात्] अक्षर पुरुष परम है पर उससे भी परे [एक परम पुरुष] है, [उपनिषद्] ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार तीन पुरुष हुए, क्षर, अक्षर और उत्तम। क्षर क्षरणशील, विकार्य प्रकृति है, स्वभाव है; यह है जीवकी बहुविध संभूति; यहांपर जो पुरुष है वह भागवत सत्ताकी बहुत्वावस्था है, यही बहुपुरुष है, यह पुरुष प्रकृतिसे स्वतंत्र नहीं है, बल्कि यह 'प्रकृतिस्थ पुरुष' है। अक्षर, कूटस्थ. अविकार्य पुरुष, निश्चल-नीरव और निष्क्रिय आत्मा है, यह भागवत सत्ताकी एकत्वावस्था है, यहां पुरुष प्रकृतिका साक्षी है, पर प्रकृतिके कार्योंमें लीन नहीं; यह प्रकृति और उसके कर्मोंसे मुक्त, अकर्त्ता पुरुष है। उत्तम पुरुष परमेश्वर, परब्रह्म, परमात्मा है, जिसमें अक्षरका एकत्व और क्षरका बहुत्व, दोनों ही अवस्थाएं सन्निविष्ट हैं। वह अपनी प्रकृतिकी विशाल गतिशीलता और कर्मके द्वारा, अपनी कर्त्री शक्ति, अपने संकल्प और सामर्थ्यके द्वारा जगत्में अपने-आपको व्यक्त करता है और अपनी महत्तर निस्तब्धता और अचलताके द्वारा उससे अलग रहता है; फिर भी वह अपने पुरुषोत्तम रूपमें, प्रकृतिसे अलगाव और प्रकृतिसे आसक्ति इन दोनों अवस्थाओंके ही परे है। पुरुषोत्तमकी यह भावना यद्यपि उपनिषदोंमें सर्वत्र ही अभिप्रेत है तथापि इसको स्पष्ट और विनिश्चित रूपसे गीताने ही सामने रखा है और भारतीय धार्मिक चेतनाके पिछले संस्कारोंपर इसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। अद्वैतवादकी सूत्रबद्ध परिभाषाओंका अतिक्रम कर जानेका दावा करनेवाला जो उच्चतम भक्तियोग है उसका आधार यही पुरुषोत्तम भाव है और भक्तिप्रधान पुराणोंके पीछे भी यही भाव है।

गीता सांख्यशास्त्रके प्रकृति-विश्लेषणकी चौखटके अंदर भी बंधी नहीं रहती; क्योंकि इस विश्लेषणके अनुसार प्रकृतिमें केवल अहंकारको स्थान मिलता है, बहु पुरुषको नहीं—वहां पुरुष प्रकृतिका कोई अंश नहीं, बल्कि प्रकृतिसे पृथक् है। इसके विपरीत गीताका सिद्धांत यह

है कि परमेश्वर ही अपने स्वभावसे जीव बनता है। यह कैसे संभव है जब कि विश्वप्रकृतिके चौबीस तत्त्व हैं, चौबीस छोड़ कोई पचीसवां तत्त्व नहीं? गीताके भगवान् गुरु कहते हैं कि हां, त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके बाह्य कर्मका यही सही विवरण है और इस विवरणमें पुरुष और प्रकृतिका जैसा संबंध बताया गया है वह भी बिलकुल सही है और प्रवृत्ति तथा निवृत्तिके साधनमें इसका बहुत बड़ा व्यावहारिक उपयोग भी है; परंतु यह त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृति है जो जड़ और बाह्य है, इसके परे एक परा प्रकृति है जो चित्स्वरूपा और भागवत भावरूपा है और यही परा प्रकृति जीव बनी है। अपरा प्रकृतिमें प्रत्येक जीव अहंकारके रूपमें भासित होता है, परा प्रकृतिमें प्रत्येक जीव व्यष्टि-पुरुष है। अर्थात् बहुत्व उस एकका ही आध्यात्मिक स्वभाव है। यह व्यष्टि-पुरुष, भगवान् कहते हैं कि, स्वयं मैं हूं, इस सृष्टिमें यह मेरा ही आंशिक प्राकट्य है, यह मेरा ही अंश है, "ममैवांशः", और इसमें मेरी सब शक्तियां मौजूद हैं; यह साक्षी है, अनुमंता है, भर्ता है, ज्ञाता है, ईश्वर है। यह अपरा प्रकृतिमें उतर आता और यह समझता है कि मैं कर्मसे बंधा हूँ, इसलिये कि निम्न सत्ताको भोग सके; यह इससे निवृत्त होकर यह जान सकता है कि मैं कर्मके बंधनसे सर्वथा विनिर्मुक्त अकर्त्ता पुरुष हूँ। यह त्रिगुणसे ऊपर उठकर और कर्मबंधनसे मुक्त होकर भी कर्म कर सकता है जैसे भगवान् कहते हैं कि मैं करता हूँ, और पुरुषोत्तमकी भक्ति पाकर और उनसे युक्त होकर उनकी दिव्य प्रकृतिका पूर्ण आनंद ले सकता है।

गीताका विश्लेषण ऐसा है जो बाह्य सृष्टिक्रमसे ही बद्ध न होकर परा प्रकृतिके 'उत्तमं रहस्यं' तकमें प्रविष्ट है। उसी उत्तम रहस्यके आधारपर गीता वेदांत, सांख्य और योगका समन्वय; ज्ञान, कर्म और

भक्तिका समन्वय प्रतिष्ठित करती है। केवल सांख्यशास्त्रके द्वारा कर्म और भक्तिका समन्वय परस्पर विरोधी होनेसे असंभावित है। केवल अद्वैत सिद्धांतके आधारपर योगके अंगरूपसे कर्मोंका सदा आचरण और पूर्ण ज्ञान, मुक्ति और सायुज्यके बाद भी भक्तिमें रमण असंभव है या कम-से-कम युक्तिविरुद्ध और निष्प्रयोजन है। गीताका सांख्यज्ञान इन सब बाधाओंको दूर करता है और गीताका योगशास्त्र उन सबपर विजय लाभ करता है।

---

# सांख्य योग और वेदांत

गीताके प्रथम छः अध्यायोंका संपूर्ण लक्ष्य सांख्य और योग, इन दो मार्गोंको, जिन्हें सामान्यतः एक दूसरेसे विभिन्न और विरोधी समझा जाता है, वैदांतिक सत्यके विशाल आयतनके अंदर परस्पर समन्वित करके बैठाना है। सांख्यसे ही आरंभ किया गया है सांख्यको ही आधार बनाकर; पर आरंभसे ही उसमें, उत्तरोत्तर अधिक दृढ़ताके साथ, योगकी भावनाएं और पद्धतियां भरी गयी हैं और सांख्यको योगके ही भावमें एक नये रूपमें ढाला गया है। सांख्य और योगमें परस्पर जो प्रकृत भेद उस जमानेके लोगोंकी धर्मबुद्धिमें प्रतीत होता था वह प्रथमतः यह था कि सांख्यका साधन ज्ञान और बुद्धियोगद्वारा होता है और योगका साधन कर्मके द्वारा तथा सक्रिय चेतनाके रूपांतरके द्वारा। दूसरा भेद—जो प्रथम भेदसे आप ही निष्पन्न होता है—यह था कि, सांख्य पूर्ण निष्क्रियता और संन्यासकी ओर ले जानेवाला माना जाता था और योगमें कामनाका आंतरिक त्याग, आंतरिक तत्त्वोंका पवित्रीकरण—जिससे कि कर्म करना, कर्मोंको भगवत्-निमित्त कर देना, उन्हें देवजीवन और मुक्तिकी ओर घुमा देना बनता है—पर्याप्त माना जाता था। फिर भी दोनोंका उद्देश्य एक ही था अर्थात् जन्म और इस पार्थिव

जीवनके परे चले जाना और मानव आत्माका परमात्माके साथ एक हो जाना। सांख्य और योगके बीच, गीता जो भेद बताती है वह यही है।

इन दो परस्पर विरोधी सिद्धांतोंका समन्वय भी संभव है, यह समझना अर्जुनके लिये जो बहुत कठिन हुआ, इसीसे यह सूचित होता है कि उस जमानेके लोग इन दो पद्धतियोंको साधारणतया कितनी विभिन्न मानते थे। भगवान् कर्म और बुद्धियोगका मिलाप कराते हुए अपना कथन आरंभ करते हैं। भगवान् कहते हैं, निरे कर्मकी अपेक्षा बुद्धियोग बहुत अधिक श्रेष्ठ है; बुद्धियोगके द्वारा, ज्ञानके द्वारा ही तो मनुष्य जब अपनी असंस्कृत प्राकृत मन-बुद्धि और उसकी कामनाओंसे ऊपर उठकर सर्वकामरहित ब्राह्मी स्थितिकी पवित्रता और समताको प्राप्त होता है तभी वह उन कर्मोंको कर सकता है जो भगवदर्पित हो सकते हैं। फिर भी कर्म मुक्तिके साधन हैं, किंतु वे ही कर्म जो इस प्रकार ज्ञानाग्निसे विशुद्ध हुए हों। तत्कालीन संस्कृतिके विचारोंसे भरपूर भावनाओंपर, अर्थात् इंद्रियोंपर विजय प्राप्त करना, मनसे अलग होकर आत्मामें निवास करना, ब्राह्मी स्थितिमें आरोहण करना, अपने निम्न व्यक्तित्वको नैर्व्यक्तित्वके निर्वाणमें लय कर देना, आदि वेदांतिक सांख्यकी अपनी भावनाओंपर,—यह याद रहे कि योगकी अपनी भावनाएँ तो अभीतक दबाकर रखी हुई हैं और अभी उनपर विशेष कुछ कहा ही नहीं गया है—भगवान् गुरुने जो बहुत अधिक जोर दिया, उन्हें नहीं समझनेके कारण अर्जुन घबरा गया। उसने पूछा, "यदि आपका यह मत है कि कर्मकी अपेक्षा बुद्धियोग ही श्रेष्ठ है तो मुझे इस घोर कर्ममें क्यों नियुक्त करते हैं? आप अपनी व्यामिश्र बातोंसे मेरी बुद्धिको मोहित किये डालते हैं; निश्चित रूपसे एक बात कहिये जिससे मैं श्रेयको प्राप्त कर सकूं।"

इसके उत्तरमें भगवान् यह बतलाते हैं कि सांख्य ज्ञान और संन्यासका मार्ग है और योग कर्मका; परंतु योगके विना अर्थात् जबतक समत्वबुद्धिसे, फलेच्छारहित होकर, इस बातको जानते हुए कि कर्म प्रकृतिके द्वारा होता है आत्माके द्वारा नहीं, यज्ञार्थ कर्म नहीं किया जाता तबतक सच्चे संन्यासका होना असंभव है; पर यह कहकर फिर तुरत ही भगवान् यह भी कहते हैं कि ज्ञानयज्ञ ही सबसे श्रेष्ठ यज्ञ है, सब कर्म ज्ञानमें ही परिसमाप्त होते हैं, ज्ञानकी अग्निसे सब कर्म दग्ध हो जाते हैं; इसलिये जो पुरुष अपने आत्माको पा लेता है उसके कर्म योगके द्वारा संन्यस्त होते हैं और उसे कर्मका बंधन नहीं होता। अर्जुनकी बुद्धि फिर चकरा जाती है; क्योंकि निष्काम कर्म तो हुआ योगका सिद्धांत, और कर्मसंन्यास हुआ सांख्यका सिद्धांत, और दोनों ही सिद्धांत उसे एक साथ बताये जा रहे हैं मानो ये दोनों एक ही प्रक्रियाके दो भाग हों, पर इन दोनोंमें कोई मेल तो दीखता ही नहीं। कारण जिस तरहका मेल पहले भगवान् गुरु बता चुके—अर्थात् बाह्य अकर्ममें कर्मको होते हुए देखना और बाह्य कर्ममें यथार्थ अकर्मको देखना क्योंकि पुरुष अपने कर्त्ता होनेका भ्रम त्याग चुका है और अपने कर्म यज्ञके स्वामीके हाथोंमें सौंप चुका है—वह मेल अर्जुनकी व्यावहारिक बुद्धिके लिये इतना बारीक, इतना सूक्ष्म है और यह ऐसी पहेलीदार भाषामें प्रकट किया गया है कि अर्जुन इसके आशयको नहीं ग्रहण कर सका या कम-से-कम इसके मर्म और इसकी वास्तविकतातक नहीं पहुँच सका। इसलिये वह फिर पूछता है कि, "हे कृष्ण, आप मुझे कर्मका संन्यास बता रहे हैं और फिर यह कहते हैं कि योग कर, तो इनमेंसे कौनसा मार्ग उत्तम है यह मुझे स्पष्ट रूपसे निश्चित करके बताइये।"

भगवान् इसका जो उत्तर देते हैं वह महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उससे

योग और सांख्यमें जो भेद है वह एकदम स्पष्ट हो जाता है और इनके समन्वयका भी एक संकेत मिल जाता है, यद्यपि उसमें इनके समन्वय-संबंधी पूर्ण विचारधारा अभी नहीं बतायी गयी है। वह उत्तर यह है, "संन्यास और योग दोनों ही जीवको मुक्त करनेवाले हैं, पर इन दोनोंमें कर्मयोग संन्यासकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। उसीको नित्य संन्यासी जानना चाहिये जो (कर्म करता हुआ भी) न द्वेष करता है न आकांक्षा ही; क्योंकि निर्द्वंद्व होनेसे वह अनायास और सुखपूर्वक बंधनसे मुक्त होता है। सांख्य और योगको बच्चे ही एक दूसरेसे पृथक् बतलाया करते हैं, ज्ञानी नहीं; यदि कोई मनुष्य संपूर्ण रूपसे किसी एकमें ही लगे तो वह दोनोंका फल पाता है," क्योंकि अपनी संपूर्णतामें ये दोनों ही एक दूसरेको धारण किये हुए हैं। "सांख्यद्वारा जो अवस्था प्राप्त होती है वहां ही योगी भी पहुँचते हैं; सांख्य और योग दोनोंको जो एक देखता है, वही देखता है। पर योगके बिना संन्यास कठिन है; जो मुनि योग करता है वह शीघ्र ब्रह्मको प्राप्त होता है; उसका आत्मा सारी सृष्टिका आत्मा हो जाता है (सर्वभूतात्म भूतात्मा), और कर्म करते हुए भी वह उनमें लिप्त नहीं होता।" वह यह जानता है कि कर्म उसके नहीं हैं, बल्कि प्रकृतिके हैं और इसी ज्ञानद्वारा वह मुक्त है; वह कर्मसंन्यास कर चुका, वह कोई कर्म नहीं करता, यद्यपि उसके द्वारा कर्म होते हैं; वह आत्मा हो जाता है, 'ब्रह्मभूत' हो जाता है, वह देखता है कि इस सृष्टिके समस्त प्राणी उसी एक स्वतःस्थित सत्ताके व्यक्त रूप (भूतानि) हैं और वह स्वयं अनेक व्यक्त रूपोंमेंसे एक है, वह देखता है कि इनके समस्त कर्म केवल विश्व-प्रकृतिका विकासमात्र है जो उनके व्यष्टिगत स्वभावके अंदरसे कार्य कर रही है और वह यह देखता है कि उसके अपने कर्म भी इसी विश्व-क्रियाका ही एक अंशमात्र है। गीता-

की संपूर्ण शिक्षा यही नहीं है; क्योंकि यहांतक केवल अविकार्य आत्मा या पुरुष, अर्थात् अक्षर ब्रह्मका और उस प्रकृतिका ही वर्णन है जो विश्व-सर्जनका कारण है, अभीतक ईश्वरकी, पुरुषोत्तमकी बात साफ तौरपर नहीं कही गयी है; यहांतक कर्म और ज्ञानका ही समन्वय साधित हुआ है, किंतु अभीतक, कुछ संकेतमात्र किये जानेपर भी, भक्तिका वह परम तत्त्व नहीं विवृत किया गया है जो आगे चलकर इतने महत्त्वका स्थान अधिकार करता है; यहांतक केवल एक अकर्त्ता पुरुष और अपरा प्रकृतिकी ही बात कही गयी है, अभीतक त्रिविध पुरुष और द्विविध प्रकृतिका स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। ईश्वरकी बात आयी तो जरूर है, पर ईश्वरका आत्मा और प्रकृतिके साथ क्या संबंध है वह निश्चित रूपसे निर्दिष्ट नहीं हुआ है। प्रथम छः अध्यायोंमें जो समन्वय साधित हुआ है वह उतना ही है जितना कि आगे बताये गये अति महत्त्वपूर्ण सत्योंकी व्याख्याके बिना हो सकता है और ये सत्य जब विवृत होंगे तब यह पूर्वसाधित समन्वय उड़ तो नहीं जायगा पर बहुत कुछ विस्तृत और परिवर्तित होगा।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि पुरुषकी निष्ठा दो प्रकारकी होती है जिससे वह ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त होता है; "सांख्योंकी ज्ञानयोगके द्वारा और योगियोंकी कर्मयोगके द्वारा।" सांख्यका ज्ञानयोगसे और योगका कर्ममार्गसे जो यह तादात्म्य बताया गया वह ध्यान देने योग्य है; क्योंकि इससे यह पता चलता है कि आज जो विचारधारा प्रचलित है वह उस कालकी विचारधारासे सर्वथा भिन्न है, इसका कारण यह है कि गीताकी रचनाके बाद भारतीय वेदांतिक विचारधारामें एक महान् विकास हुआ और इस कारण दूसरे-दूसरे जो वैदिक दर्शन थे वे पीछे पड़ गये और उनकी गिनती अब मोक्ष मार्गके व्यावहारिक साधनोंमें नहीं रह गयी।

गीताकी भाषाको मान देनेके लिये हमें यह मानना पड़ेगा कि उस कालमें जो लोग ज्ञानमार्गका अनुसरण करते थे वे आम तौरपर सांख्य-पद्धति*को ही अपनाते थे। पीछे जब बौद्धधर्मका प्रचार हुआ तब सांख्योंका ज्ञानमार्ग बौद्ध-सिद्धांतोंसे बहुत कुछ आच्छन्न हो गया होगा। सांख्योंके समान ही अनीश्वरवादी और अद्वैतविरोधी बौद्धमतमें भी विश्वप्रकृतिके कार्योंकी अनित्यतापर बहुत जोर दिया गया है। बौद्धसिद्धांत विश्वप्रकृतिको प्रकृति न कहकर 'कर्म' कहता है, क्योंकि बौद्धोंने न तो वेदांत-प्रतिपाद्य ब्रह्मको ही स्वीकार किया न सांख्योंके अकर्त्ता पुरुषको, और इसलिये विवेक-बुद्धिके द्वारा कर्मकी इस अनित्यताको जान लेना ही उनके यहां मोक्षका साधन था। जब बौद्ध-धर्मके विरुद्ध प्रतिक्रिया उठी तब वह पुराने सांख्य-संस्कार लेकर नहीं उठी बल्कि उसने आचार्य शंकरद्वारा प्रतिपादित वेदांतका रूप धारण किया। आचार्य शंकरने बौद्धोंकी अनित्यताके स्थानमें उसी कोटिके वेदांतिक मायावादकी स्थापना की, और बौद्धोंके असत्, अनिर्वचनीय निर्वाण और, अभावात्मक केवलके स्थानमें तद्विरुद्ध पर तज्जातीय ही उस अवर्णनीय सत्, ब्रह्म, उस अनिर्वचनीय भावात्मक केवलकी स्थापना की जिसमें नामरूप और कर्मका सर्वथा अभाव होता है, क्योंकि उसमें ये नामरूप कभी थे ही नहीं, उनके मतसे ये मात्र मन-बुद्धिके भ्रम हैं। आज जब ज्ञानमार्गका नाम लिया जाता है तब हमारे ध्यानमें जो बात साधारणतया आती है वह है आचार्य शंकरकी वह पद्धति जो उनके दर्शनकी इन्हीं धारणाओंपर अवलंबित है, अर्थात् जीवनका त्याग करना होगा क्योंकि यह माया है, भ्रम है। परंतु गीताके कालमें 'माया'

---

*पुराणों और तंत्रोंमें सांख्योंके विचार भरे पड़े हैं, अवश्य ही उनपर वेदांतके विचारका छत्र है और उनके साथ अन्य विचार भी मिले हुए हैं।

शब्द वेदांत-दर्शनका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शब्द नहीं बना था, न इस शब्दका इतने स्पष्ट रूपसे वह अर्थ ही किया गया था जो अर्थ इस शब्दका आचार्य शंकरने इतनी साफ और जोरदार भाषामें किया; कारण गीतामें मायाकी चर्चा बहुत ही कम है, उसमें अधिकतर प्रकृतिकी ही चर्चा है, और माया शब्दका जहां प्रयोग हुआ है वहां प्रकृतिके ही अर्थमें, सो भी प्रकृतिकी निम्न कक्षा सूचित करनेके लिये हुआ है; माया कहा गया है त्रिगुणात्मिका, अपरा प्रकृतिको—"त्रैगुण्यमयी माया"। गीतामें विश्वका निमित्त कारण प्रकृति है, भरमानेवाली माया नहीं।

तथापि अध्यात्मशास्त्रके सिद्धांतोंका परस्पर जो कुछ भी निश्चित तारतम्य हो, गीतामें विवृत सांख्य और योगका जो प्रकृत भेद है वह वही है जो आजकल वेदांतके ज्ञानयोग और कर्मयोगमें माना जाता है, और इन दोनोंके फलोंमें जो विभिन्नता है वह भी वैसी ही है। सांख्यने वेदांतके ज्ञानमार्गकी ही तरह बुद्धिसे आरंभ किया और विचारद्वारा उसने पुरुषके सच्चे स्वभावका विवेक किया और यह बताया कि पुरुषकी आसक्ति और उसके तादात्म्यके द्वारा प्रकृति अपने कर्मोंको उसपर आरोपित करती है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि वेदांतिक पद्धति इसी बुद्धिके साधनद्वारा आत्माके सच्चे स्वभावतक पहुँची और उसने यह बताया कि आत्मापर जो यह जगत्का आभास पड़ता है वह मनके भ्रमके कारण है और इसीसे यह अहंभावयुत तादात्म्य और आसक्ति पैदा होती है। वेदांतिक पद्धतिके अनुसार आत्मा जब अपने नित्य सनातन ब्रह्मस्वरूपमें लौट आता है तब उसके लिये मायाकी सत्ता नहीं रहती और विश्व-क्रिया तिरोहित हो जाती है; सांख्य-प्रणालीके अनुसार जीव जब अपनी सत्य सनातन निष्क्रिय पुरुष अवस्थामें लौट आता है तब गुणोंका कर्म बंद हो जाता है और विश्व-क्रिया समाप्त हो जाती है। मायावादियोंका ब्रह्म

शांत, अक्षर और अकर्ता है, सांख्योंका पुरुष भी ऐसा ही है; इसलिये दोनोंके लिये ही जीवन और कर्मोंका संन्यास ही मोक्षका आवश्यक साधन है। परंतु गीताके योगमें, वैदांतिक कर्मयोगके समान ही, कर्म केवल आधारको तैयार करनेका साधन ही नहीं है, बल्कि यह मोक्षका स्वतःसिद्ध साधन माना गया है; और इसी सिद्धांतकी सत्यताको गीता बराबर बड़े जोरदार आग्रहके साथ हृदयमें जमा देना चाहती है; दुर्भाग्यवश, यह आग्रह बौद्धमत*की जो प्रचंड लहर आयी उसके सामने न ठहर सका, और पीछे संन्यास-संप्रदायके 'मायावाद' की अतिशयतामें तथा संसार-त्यागी संतों और भक्तोंकी तीव्रतामें, इसका लोप हो गया और केवल अब भारतवासियोंकी बुद्धिपर इसका वास्तविक और हितकर प्रभाव फिरसे पड़ने लगा है। संन्यास तो अपरिहार्य रूपसे आवश्यक है, पर सच्चा संन्यास कामना और अहंकारका आंतरिक त्याग है; इस आंतरिक त्यागके विना कर्मोंका जो बाह्य भौतिक त्याग है वह मिथ्या और व्यर्थ है। आंतरिक त्याग हो तो बाह्य त्यागकी आवश्यकता भी जाती रहती है, यद्यपि उसकी कोई मनाही भी नहीं है। ज्ञान मुख्य है, मुक्तिके लिये इससे बड़ी और कोई शक्ति नहीं है; पर ज्ञानसहित कर्मकी भी आवश्यकता है; ज्ञान और कर्मके एकत्वसे जीव पूर्णतया ब्राह्मी स्थितिमें रहता है,

---

*पर साथ ही बौद्धोंके महायान संप्रदायपर गीताका बहुत बड़ा प्रभाव देख पड़ता है और बौद्धोंके धर्मशास्त्रोंमें गीताके कुछ श्लोक अक्षरशः उद्धृत हुए पाये जाते हैं। इससे यह मालूम होता है कि बौद्ध-मत जो पहले नैष्कर्म्यप्रवण और संबुद्ध यतियोंका ही मार्ग था पीछे बहुत कुछ गीताके प्रभावसे ही ध्यानपरायण भक्तिका और करुणात्मक कर्मका धर्म बन गया और समग्र एशिया महाद्वीपकी संस्कृतिपर उसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा।

केवल विश्राममें और निष्क्रिय शांतिकी अवस्थामें ही नहीं, बल्कि कर्मके भीषण घात-प्रतिघातमें भी। भक्तिकी महिमा बड़ी है, पर भक्तिसहित कर्मका माहात्म्य भी कम नहीं; ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनोंके संयोगसे जीव ईश्वरके परम पदको प्राप्त होता और वहां उन पुरुषोत्तममें निवास करता है जो शाश्वत आध्यात्मिक शांति और शाश्वत विश्व-कर्मण्यता दोनोंके एक साथ स्वामी हैं। यही गीताका समन्वय है।

परंतु सांख्यवालोंके ज्ञानमार्गमें और योगके कर्ममार्गमें जो भेद है उसके अतिरिक्त स्वयं वेदांतमें भी वैसा ही एक दूसरा विरोध था, और गीताको उसका भी विचार करना पड़ा जिससे कि आर्य आध्यात्मिक संस्कृतिकी इस विशाल नवीन व्याख्यामें उनकी त्रुटियोंको दूरकर उनका मेल मिला दिया जाय। यह भेद था कर्मकांड और ज्ञानकांडके बीच, उस मूल विचारके बीच जिसका पर्यवसान वेदवाद या पूर्वमीमांसा दर्शनमें और ब्रह्मवाद या उत्तर मीमांसा* दर्शनमें हुआ। यह भेद उन दो संप्रदायोंके बीच था जिनमेंसे एक तो वैदिक मंत्रों और वैदिक यज्ञोंकी परंपरामें ही वास करता था और दूसरा इनको नीचे दरजेका ज्ञान बताकर इनकी उपेक्षा करता था और उपनिषदोंसे निःसृत उत्कृष्ट आध्यात्मिक ज्ञानपर जोर देता था। वेदवादियोंकी कर्मप्रधान बुद्धिमें ऋषियोंका आर्यधर्म यही था कि वैदिक यज्ञोंको विधिपूर्वक संपन्न करके तथा पवित्र वैदिक मंत्रोंका विशुद्ध प्रयोग करके इस लोकमें संपत्ति, संतति, विजय, हर प्रकारके सौभाग्य आदि मनुष्यकी काम्य वस्तुओंको प्राप्त

---

*मोक्ष-संबंधी जैमनीय सिद्धांत यह है कि वह शाश्वत ब्रह्मलोक ही मोक्ष है जिसमें ब्रह्मको जाननेवाले जीवको दिव्य देह और दिव्य भोग प्राप्त होते हैं। गीताके मतमें ब्रह्मलोक मोक्ष नहीं है; मोक्षके लिये जीवको इसके भी परे विश्वातीत पद लाभ करना होता है

किया जाय और परलोकमें अमरत्वका आनंद लाभ किया जाय। ब्रह्म-वादियोंके आदर्शके हिसाबसे यह केवल प्राथमिक साधन भर था, उनके अनुसार मनुष्यका सच्चा पुरुषार्थ तो ब्रह्मके ज्ञानकी ओर मुड़नेसे आरंभ होता है और ब्रह्मके ज्ञानसे ही उसे उस अकथनीय आध्यात्मिक आनंदका सच्चा अमरत्वपद प्राप्त होगा जो इस जगत्‌के क्षुद्र सुखोंसे और किसी भी छोटे-मोटे परलोकसे बहुत ही दूर है। वेदका वास्तविक मूल और अभिप्राय जो कुछ भी रहा हो, पर यह भेद गीताके कालके बहुत पहलेसे स्थापित हो चुका था और इसलिये गीताको इसकी मीमांसा करनी पड़ी।

कर्म और ज्ञानका समन्वय करते हुए भगवान्‌ने जो पहला शब्द कहा उसमें उन्होंने वेदवादकी जोरदार, प्राय: भयानक शब्दोंमें निंदा और भर्त्सना की है। उन्होंने कहा कि "यह पुष्पिता वाणी कहा करते हैं वे लोग जिनकी बुद्धि ठिकाने नहीं, जो वेदवादमें ही रत हैं, जिनका यह मत है कि इसके सिवाय और कुछ है ही नहीं, जो कामात्मा हैं, स्वर्गके अभिलाषी हैं, यह (वाणि) जन्मकर्मके फल देनेवाली, विविध-विधिसंकुल कर्मोंका विधान करनेवाली और भोग तथा ऐश्वर्यकी ओर ले जानेवाली है।" गीता स्वयं वेदपर भी आक्रमण-सा करती हुई मालूम होती है, जिसका यद्यपि भारतीय समाजके व्यवहारमें इस समय लोप ही हो गया है, तो भी भारतीय समाजकी भावनामें वेद अब भी समस्त भारतीय दर्शनशास्त्रों और धर्मोंका अतींद्रिय, अनुल्लंघनीय, अत्यंत पवित्र और स्वत:सिद्ध प्रमाण और मूल है। गीता कहती है कि, "त्रिगुणात्मक कर्म ही वेदों का विषय है; पर हे अर्जुन, तू इस त्रिगुणसे मुक्त हो जा।" सब वेद उस मनुष्यके लिये निष्प्रयोजन बताये गये हैं जो ज्ञानी है। यहां वेदोंमें (सर्वेषु वेदेषु) उपनिषदों का भी समावेश माना जा सकता है और शायद है भी, क्योंकि आगे चलकर वेद और उपनिषद,

दोनोंके वाचक सामान्य 'श्रुति' शब्दका ही प्रयोग हुआ है। "चारों ओर जहां जल ही जल हो वहां किसी कुएंका जितना प्रयोजन हो सकता है उतना ही प्रयोजन समस्त वेदोंका उस ब्राह्मणके लिये है जो ज्ञानी है।" यही नहीं, बल्कि शास्त्रवचन बाधक भी होते हैं, क्योंकि वाक्यके शब्द—शायद परस्पर-विरोधी वचनों और उनके विविध और एक दूसरेके विरुद्ध अर्थोंके कारण—बुद्धिको भरमानेवाले होते हैं, जो अंदरकी ज्योतिसे ही निश्चितमति और एकाग्र हो सकती है। भगवान् कहते हैं, "जब तेरी बुद्धि मोहके घिरावको पार कर जायगी तब तू अबतक सुने हुए और आगे सुने जानेवाले शास्त्रवचनोंसे उदासीन हो जायगा, "गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।" जब तेरी बुद्धि जो श्रुतिसे भरमायी हुई है (श्रुतिविप्रतिपन्ना), समाधिमें निश्चल और स्थिर होगी, तब तू योगको प्राप्त होगा।" यह सब परंपरागत धार्मिक भावनाओंके लिये इतना अप्रिय है कि अपनी सुविधा देखनेवाले और अवसरसे लाभ उठानेवाले मानव कौशलने गीताके कुछ श्लोकोंके अर्थको तोड़-मरोड़कर उनका जो कुछ और ही अर्थ करनेकी चेष्टा की, वह स्वाभाविक ही थी, किंतु इन श्लोकोंके अर्थ स्पष्ट हैं और अथसे इतिपर्यंत सुसंबद्ध हैं। शास्त्रवचनसंबंधी यह भाव आगे चलकर एक और श्लोकमें मंडित और सुनिर्दिष्ट हुआ है जहां यह कहा गया है कि ज्ञानीका ज्ञान शब्द ब्रह्मको, अर्थात् वेद और उपनिषद्को पार कर जाता है, "शब्दब्रह्मातिवर्त्तते।"

अस्तु, इस विषयको हमें अच्छी तरह समझना होगा; क्योंकि यह तो निश्चय ही है कि गीता जैसे समन्वयसाधक और उदार शास्त्रमें आर्य संस्कृतिके इन महत्त्वपूर्ण अंगोंका विचार केवल इन्हें अस्वीकार करने या इनका खंडन करनेकी दृष्टिसे नहीं किया गया है। गीताको कर्मके द्वारा

मुक्तिका प्रतिपादन करनेवाले योगमार्गके साथ ज्ञानके द्वारा मुक्तिका प्रतिपादन करनेवाले सांख्यमार्गका समन्वय साधना है, ज्ञानको कर्ममें मिलाकर एक कर देना है। इसको साथ-ही-साथ पुरुष और प्रकृतिके सिद्धांतको, जो सांख्य और योगमें एक ही सरीखा है, प्रचलित वेदांतके उस ब्रह्मवादके साथ समन्वित करना है जिसमें उपनिषदोंके पुरुष, देव, ईश्वर सब एक अक्षर ब्रह्मकी सर्वग्रासी भावनामें अंतर्भूत होते हैं, और यह करके गीताको फिर ईश्वर, परमेश्वरसंबंधी योग-भावनाको उसपर पड़े हुए ब्रह्मवादके आच्छादनसे बाहर निकालकर उसके असली स्वरूपमें दिखाना है, और यह काम करना है वैदांतिक ब्रह्मवादको अस्वीकार करके नहीं, बल्कि उसे समन्वित करके। गीताको उसमें अपना वह जगमगाता हुआ विचार भी जोड़ना है जो उसके समन्वयसाधनकी पराकाष्ठा है अर्थात् पुरुषोत्तमका सिद्धांत और पुरुषके त्रिविध होनेका सिद्धांत, जो उपनिषदोंमें बीज-रूपसे तो है पर उसका कोई स्पष्ट, सुनिश्चित, निर्विवाद प्रमाण उपनिषदोंके मंत्रोंमें अनायास नहीं मिल सकता, बल्कि यह सिद्धांत, पहली नजरमें तो श्रुतिके उस मंत्रके विरुद्ध प्रतीत होता है जिसमें पुरुष दो माने गये हैं। इसके अतिरिक्त, कर्म और ज्ञानका समन्वय साधते समय गीताको केवल योग और सांख्यके विरोधका ही हिसाब नहीं लगाना है, बल्कि स्वयं वेदांतके अंदर भी कर्म और ज्ञानमें जो विरोध है—जो सांख्य और योगके विरोध जैसा ही नहीं है, क्योंकि वेदांतमें इन दो शब्दोंके फलितार्थ सांख्यके फलितार्थसे अलग हैं और इसलिये इसका विरोध भी सांख्यके विरोधसे भिन्न है—उसका भी हिसाब लगाना है। इसलिये चलते-चलते यहांपर ऐसा कहा जा सकता है कि, वेद और उपनिषदोंके मंत्र ही जिनके आधार हैं ऐसे इन नानाविध दार्शनिक संप्रदायोंमें जब

इतना विरोध है तब गीताका यह कहना कि श्रुति बुद्धिको घबरा और चकरा देती है, उसे कई दिशाओंमें घुमा देती है, (श्रुतिविप्रतिपन्ना), कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आज भी भारतके पंडितों और दार्शनिकोंके बीच इन प्राचीन वचनोंके अर्थोंके संबंधमें कितने बड़े-बड़े शास्त्रार्थ और झगड़े हो जाते हैं और कितने विभिन्न सिद्धांत स्थापित किये जाते हैं। इनसे बुद्धिका आजिज आ जाना और उदासीन हो जाना (गन्तासि निर्वेदं) ठीक ही है और ऐसी बुद्धिका नवीन और प्राचीन शास्त्र-वचनोंको (श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च) सुननेसे इनकार करके स्वयं ही गूढ़तर, आंतर और प्रत्यक्ष अनुभवके सहारे सत्यका अन्वेषण करनेके लिये अपने अंदर प्रवेश करना, ठीक ही है।

गीताके प्रथम छः अध्यायोंमें कर्म और ज्ञानके समन्वयकी, सांख्य योग और वेदांतके समन्वयकी एक विशाल नींव डाली गयी है। पर आरंभमें ही यह देखती है कि वेदांतियोंकी भाषामें कर्म शब्दका एक खास अर्थ है; वहां कर्मका अभिप्राय है वैदिक यज्ञों और अनुष्ठानोंसे, अथवा अधिक-से-अधिक, इन श्रौत कर्मोंके साथ-साथ उन गृह्यसूत्रोंके अनुसार जीवनचर्यासे जिनमें ये आचार-अनुष्ठान ही जीवनके महत्त्वपूर्ण अंग और धर्मके प्राण माने गये हैं। इन्हीं धार्मिक कर्मोंको, इन्हीं याग-यज्ञोंको जो बड़ी "विधि" से किये जाते हैं और जिनकी क्रियाएं एकदम बंधी हुई और जटिल हैं, "क्रियाविशेषबहुलां," वेदांती कर्म कहते हैं। पर योगमें कर्मका बहुत व्यापक अर्थ है। इसी व्यापक अर्थपर गीताका आग्रह है; जब हम आध्यात्मिक कर्मकी बात कहते हैं तब हमारे ध्यानमें यह बात आ जानी चाहिये कि इस शब्दके अंदर सभी कर्मों "सर्वकर्माणि" का समावेश है। साथ ही गीता यज्ञकी भावनाका, बौद्ध मतकी तरह, निषेध भी नहीं करती, गीता उसे समुन्नत और

व्यापक बनाती है। वस्तुतः गीताका कहना यह है कि यज्ञ केवल जीवनका सबसे महत्त्वपूर्ण अंग ही नहीं है, बल्कि संपूर्ण जीवन और उसके समस्त कर्म यज्ञ ही होने चाहिये, अवश्य ही अज्ञानी लोग उच्चतर ज्ञानके बिना ही और महामूढ़ तो "अविधिपूर्वक" भी, यज्ञ करते हैं। यज्ञके बिना जीवनकी स्थिति ही संभव नहीं है; प्रजापतिने प्रजाओंका जो निर्माण किया सो यज्ञके साथ निर्माण किया, यज्ञ उनका सनातन साथी है। पर वेदवादियोंके यज्ञ काममूलक हैं, वैषयिक भोगोंके लिये हैं; उनका यह काम कर्मोंके फलके लिये उत्सुक है, स्वर्गका विशाल भोग चाहता है, उसीको अमृतत्व और परम मुक्तिधाम जानता है। गीता अपनी साधनप्रणालीमें इसका समावेश नहीं कर सकती; क्योंकि गीता आरंभसे ही यह कहती है कि वासनाका त्याग करो, इसे आत्माका शत्रु जानकर त्यागो और नष्ट करो। वैदिक याग-यज्ञोंकी सार्थकताको भी गीता अस्वीकार नहीं करती; गीता उन्हें स्वीकार करती है और कहती है कि इन साधनोंके द्वारा इस लोकमें भोग और ऐश्वर्य और परलोकमें स्वर्गकी प्राप्ति होती है। भगवान् गुरु कहते हैं कि वह "मैं" ही हूं जो इन यज्ञोंको ग्रहण करता है, जिसके प्रीत्यर्थ ये यज्ञ किये जाते हैं और जो देवताओंके रूपमें इनके फल प्रदान करता है क्योंकि इसी भावसे लोग मेरे पास आना पसंद करते हैं। पर यह सच्चा पथ नहीं है, न स्वर्गका सुखभोग ही वह मोक्ष और पूर्णत्व है जिसे मनुष्यको प्राप्त करना है। वे अज्ञानी हैं जो देवताओंको भजते हैं, यह नहीं जानते हुए कि इन सब देव-रूपोंमें अज्ञात रूपसे वे किसको भजते हैं, क्योंकि चाहे अज्ञानकी अवस्थामें ही क्यों न हो, पर वे भजते हैं उसी एकको, उसी ईश्वरको, उसी एकमात्र देवको और यह वही है जो इनका हव्य ग्रहण करता है। इसी ईश्वरके प्रति यज्ञको,

जीवनकी सारी शक्तियों और कर्मोंके उस सच्चे यज्ञको, भक्तिभावके साथ, निष्काम होकर, उसीके लिये और लोककल्याणके लिये अर्पण करना होगा। चूंकि वेदवाद इस सत्यको ढांक देता है और अपने विधि-विधानोंकी गांठ लगाकर मनुष्यको त्रिगुणके कर्ममें बांध डालता है इसलिये वेदवादकी तीव्र भर्त्सना करनी पड़ी और उसे इतने रुखेपनके साथ एक किनारे रख देना पड़ा; पर उसकी केंद्रिक भावना नष्ट नहीं की गयी है; उसे रूपांतरित और समुन्नत किया गया है, उसे सच्चे आध्यात्मिक अनुभवके और मोक्षसाधन-मार्गके एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंगमें परिणत कर दिया गया है।

ज्ञानके संबंधमें वेदांतका जो सिद्धांत है उसमें ठीक ऐसी ही कठिनाइयां उपस्थित नहीं होतीं। गीता उस सिद्धांतको तुरत और पूरे तौरपर अपनाती है और पहलेके छः अध्यायोंमें सर्वत्र सांख्योंके अचल, अक्षर किंतु बहु पुरुषके स्थानमें वेदांतियोंके अक्षर, एकमेवाद्वितीय, विश्वव्यापक ब्रह्मको धीरेसे लाकर बैठा देती है। इन अध्यायोंमें सर्वत्र ही, निष्काम कर्मको ज्ञानका परमावश्यक अंग बतलाते हुए भी, ज्ञान और ब्रह्मानुभूतिको मोक्षका सर्वप्रधान और अनिवार्य साधन माना है। अक्षर नैर्व्यक्तिक ब्रह्मकी अनंत समतामें अहंकारका निर्वाण मोक्षसाधनके लिये आवश्यक है, इस सिद्धांतको भी गीता उतना ही मान देती है; इस तरहसे अहंकारका यह निर्वाण और सांख्योंके अकर्त्ता अक्षर पुरुषका प्रकृतिके कर्मोंकी उपाधिसे निकलकर अपने स्वरूपमें लौट आना, इन दोनों बातोंको गीता करीब-करीब एक कर देती है; गीताने वेदांत और सांख्य, दोनोंकी भाषाओंको एकत्र करके मिला-जुलाकर एक कर दिया है, जैसा कि कतिपय उपनिषदोंमें* भी पहलेसे ही किया गया है। फिर

* विशेषकर श्वेताश्वतरोपनिषद्में

भी वेदांतियोंके गृहीत सिद्धांतमें एक त्रुटि है जिसे दूर करना जरूरी है
शायद हम ऐसा अनुमान लगा सकते हैं कि बादके कालमें ईश्वर-भक्ति
ओर जितना झुकाव हुआ वह इस समयतक वेदांतमें विकसित न
पाया था, यह झुकाव उपनिषदोंमें तो एक तत्त्वके रूपमें पहलेसे ही पा
जाता है; लेकिन वहां भी यह उतना प्रधान नहीं है जितना कि बाद
वैदांतिक वैष्णव दर्शनशास्त्रोंमें पाया जाता है, जहां यह प्रवृत्ति केव
बहुत प्रधान रूपसे हो सो ही नहीं, बल्कि सर्वोपरि है। हम यह मा
सकते हैं कि कट्टर वेदांत—कम-से-कम अपनी प्रधान प्रवृत्तियोंमें
तराईमें सर्वब्रह्मवादी था और शिखरपर अद्वैतवादी*। यह एकमेवाद्विती
ब्रह्मका प्रतिपादक है, विष्णु, शिव, ब्रह्मा आदि देवताओंकी इसमें ब्रह्म
ही नामरूप होनेके नाते मान्यता है। परंतु एकमेव परब्रह्मको ईश्व
पुरुष, देवरूपसे माननेकी भावना इसमें अपने उच्च स्थानसे नीचे गि
गयी है§। ईश्वर, पुरुष, देव ये शब्द उपनिषदोंमें ब्रह्मके विशेषण रूप
प्राय: प्रयुक्त हुए हैं और वहां उनका प्रयोग ठीक भी है, किंतु वहां इनक
आशय सांख्य और ईश्वरवादविषयक धारणाकी अपेक्षा अधिक व्याप
है। विशुद्ध तार्किक ब्रह्मवादमें इन नामोंका प्रयोग ब्रह्मभावके गौ

---

* जगद्ब्रह्मवादियोंका मूल सूत्र यह है कि ब्रह्म और विश्व ए
ही हैं, अद्वैतवादी उसमें यह जोड़ देते हैं कि केवल ब्रह्मका ही अस्तित
है और यह विश्व केवल एक मिथ्या आभास है, या फिर एक वास्तवि
पर आंशिक अभिव्यक्ति।

§ यह कुछ संदेहजनक है, पर कम-से-कम यह तो कहा ज
सकता है कि इस तरहकी एक प्रबल विचारधारा थी और उसीकी परि
समाप्ति आचार्य शंकरके सिद्धांतमें हुई है।

या कनिष्ठ पहलुओंके लिये ही हुआ है। गीता इन नामोंकी तथा इनसे सूचित होनेवाले भावोंकी मूलगत समताको ही पुनःस्थापित करके चुप नहीं होती, बल्कि एक कदम और आगे बढ़ना चाहती है। ब्रह्मका जो परम भाव है उसीको, उसके कनिष्ठ भावको नहीं, पुरुष-रूपमें और अपरा प्रकृतिको उसीकी मायाके रूपमें दिखाकर उसे वेदांत और सांख्यका समन्वय साधना है और उसीको ईश्वर-रूपमें दिखाकर वेदांत और सांख्यका निःशेष समन्वय सिद्ध करना है। यही नहीं, बल्कि गीता ईश्वर अर्थात् पुरुषोत्तमको अचल अक्षर ब्रह्मसे भी उत्तम दिखाने जा रही है और इस क्रममें नैर्व्यक्तिक ब्रह्ममें अहंकारके निर्वाणकी जो बात आरंभमें आयी है वह पुरुषोत्तमके साथ एकता प्राप्त करनेके साधनका केवल एक महान् प्राथमिक और आवश्यक सोपानमात्र है। कारण पुरुषोत्तम ही परब्रह्म हैं। इसलिये गीता वेदों और उपनिषदोंके सर्वोत्तम अधिकारी व्याख्याताओंद्वारा उपदिष्ट शिक्षाका साहसके साथ अतिक्रमण करके इन ग्रंथोंके संबंधमें स्वयं अपनी एक शिक्षाको, जिसको गीताने इन्हीं ग्रंथोंसे निकाला है, निश्चित रूपसे घोषित करती है, तब हो सकता है कि इन ग्रंथोंका वेदांती लोग साधारणतया जो अर्थ करते हैं उसकी चहारदीवारीके अंदर गीताके इस अर्थको शायद न बैठाया जा सके*।

---

* वस्तुतः पुरुषोत्तमका सिद्धांत उपनिषदोंमें आया हुआ है, अवश्य ही गीताकी तरह नहीं, बल्कि कुछ छितरे हुए ढंगसे। पर गीताके समान ही उपनिषदोंमें भी जहां-तहां ब्रह्म या परम पुरुषका इस प्रकार वर्णन आता है कि उसमें सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म दोनोंका समावेश है, वह 'निर्गुणो गुणी' है। ऐसी बात नहीं है कि इनमेंसे वह एक चीज हो और दूसरी चीज न हो जो हमारी बुद्धिको उसके विपरीत प्रतीत होती है।

भी वेदांतियोंके गृहीत सिद्धांतमें एक त्रुटि है जिसे दूर करना जरूरी है। शायद हम ऐसा अनुमान लगा सकते हैं कि बादके कालमें ईश्वर-भक्तिकी ओर जितना झुकाव हुआ वह इस समयतक वेदांतमें विकसित न हो पाया था, यह झुकाव उपनिषदोंमें तो एक तत्त्वके रूपमें पहलेसे ही पाया जाता है; लेकिन वहां भी यह उतना प्रधान नहीं है जितना कि बादके वैदांतिक वैष्णव दर्शनशास्त्रोंमें पाया जाता है, जहां यह प्रवृत्ति केवल बहुत प्रधान रूपसे हो सो ही नहीं, बल्कि सर्वोपरि है। हम यह मान सकते हैं कि कट्टर वेदांत—कम-से-कम अपनी प्रधान प्रवृत्तियोंमें-तराईमें सर्वब्रह्मवादी था और शिखरपर अद्वैतवादी*। यह एकमेवाद्वितीय ब्रह्मका प्रतिपादक है, विष्णु, शिव, ब्रह्मा आदि देवताओंकी इसमें ब्रह्मके ही नामरूप होनेके नाते मान्यता है। परंतु एकमेव परब्रह्मको ईश्वर, पुरुष, देवरूपसे माननेकी भावना इसमें अपने उच्च स्थानसे नीचे गिर गयी है§। ईश्वर, पुरुष, देव ये शब्द उपनिषदोंमें ब्रह्मके विशेषण रूपसे प्रायः प्रयुक्त हुए हैं और वहां उनका प्रयोग ठीक भी है, किंतु वहां इनका आशय सांख्य और ईश्वरवादविषयक धारणाकी अपेक्षा अधिक व्यापक है। विशुद्ध तार्किक ब्रह्मवादमें इन नामोंका प्रयोग ब्रह्मभावके गौण

---

* जगद्ब्रह्मवादियोंका मूल सूत्र यह है कि ब्रह्म और विश्व एक ही हैं, अद्वैतवादी उसमें यह जोड़ देते हैं कि केवल ब्रह्मका ही अस्तित्व है और यह विश्व केवल एक मिथ्या आभास है, या फिर एक वास्तविक पर आंशिक अभिव्यक्ति।

§ यह कुछ संदेहजनक है, पर कम-से-कम यह तो कहा जा सकता है कि इस तरहकी एक प्रबल विचारधारा थी और उसीकी परिसमाप्ति आचार्य शंकरके सिद्धांतमें हुई है।

या कनिष्ठ पहलुओंके लिये ही हुआ है। गीता इन नामोंकी तथा इनसे सूचित होनेवाले भावोंकी मूलगत समताको ही पुनःस्थापित करके चुप नहीं होती, बल्कि एक कदम और आगे बढ़ना चाहती है। ब्रह्मका जो परम भाव है उसीको, उसके कनिष्ठ भावको नहीं, पुरुष-रूपमें और अपरा प्रकृतिको उसीकी मायाके रूपमें दिखाकर उसे वेदांत और सांख्य-का समन्वय साधना है और उसीको ईश्वर-रूपमें दिखाकर वेदांत और सांख्यका निःशेष समन्वय सिद्ध करना है। यही नहीं, बल्कि गीता ईश्वर अर्थात् पुरुषोत्तमको अचल अक्षर ब्रह्मसे भी उत्तम दिखाने जा रही है और इस क्रममें नैर्व्यक्तिक ब्रह्ममें अहंकारके निर्वाणकी जो बात आरंभमें आयी है वह पुरुषोत्तमके साथ एकता प्राप्त करनेके साधनका केवल एक महान् प्राथमिक और आवश्यक सोपानमात्र है। कारण पुरुषोत्तम ही परब्रह्म हैं। इसलिये गीता वेदों और उपनिषदोंके सर्वोत्तम अधिकारी व्याख्याताओंद्वारा उपदिष्ट शिक्षाका साहसके साथ अतिक्रमण करके इन ग्रंथोंके संबंधमें स्वयं अपनी एक शिक्षाको, जिसको गीताने इन्हीं ग्रंथोंसे निकाला है, निश्चित रूपसे घोषित करती है, तब हो सकता है कि इन ग्रंथोंका वेदांती लोग साधारणतया जो अर्थ करते हैं उसकी चहारदीवारीके अंदर गीताके इस अर्थको शायद न बैठाया जा सके*।

---

* वस्तुतः पुरुषोत्तमका सिद्धांत उपनिषदोंमें आया हुआ है, अवश्य ही गीताकी तरह नहीं, बल्कि कुछ छितरे हुए ढंगसे। पर गीताके समान ही उपनिषदोंमें भी जहां-तहां ब्रह्म या परम पुरुषका इस प्रकार वर्णन आता है कि उसमें सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म दोनोंका समावेश है, वह 'निर्गुणो गुणी' है। ऐसी बात नहीं है कि इनमेंसे वह एक चीज हो और दूसरी चीज न हो जो हमारी बुद्धिको उसके विपरीत प्रतीत होती है।

वस्तुतः शास्त्रीय वाक्योंकी ऐसी एक स्वतंत्र और समन्वयकारी व्याख्याके बिना तत्कालीन नानाविध संप्रदायोंमें जो मतभेद था और वैदिक व्याख्याओंकी जो तत्कालीन प्रचलित पद्धतियां थीं, उन सबका एक विशाल समन्वय साधना असंभव ही होता।

गीताके पिछले अध्यायोंमें वेदों और उपनिषदोंकी बड़ी प्रशंसा है। वहां यह कहा गया है कि वे ईश्वर-प्रणीत शास्त्र हैं, शब्दब्रह्म हैं। स्वयं भगवान् ही वेदोंके जाननेवाले और वेदांतके प्रणेता हैं, "वेदविद् वेदान्तकृत्।" सब वेदोंके वे ही एकमात्र ज्ञातव्य विषय हैं, "सर्वैः वेदैः अहमेव वेद्यः," इस भाषाका फलितार्थ यह होता है कि वेद शब्दका अर्थ है ज्ञानका ग्रंथ और इन ग्रंथोंके नाम इनके उपयुक्त ही हैं। स्वयं पुरुषोत्तम ही अक्षर और क्षर पुरुषसे भी ऊपर उनकी जो परमावस्था है उसमेंसे इस जगत्में और वेदमें प्रसारित हुए हैं। फिर भी शास्त्रोंके शब्द बंधन-कारक और भरमानेवाले हैं। ईसाई-धर्मके प्रचारकने अपने शिष्योंसे जो यह कहा कि शब्द मारते हैं और भाव तारते हैं, वह ठीक ही कहा। शास्त्रोंकी भी एक हद है और इस हदको पार कर जानेके बाद उनकी कोई उपयोगिता नहीं रहती। ज्ञानका वास्तविक मूल है हृदयमें विराजमान ईश्वर; गीता कहती है कि "मैं (ईश्वर) प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें स्थित हूं और मुझसे ही ज्ञान निःसृत होता है।" शास्त्र उस आंतर वेदके, उस स्वयंप्रकाश सद्वस्तुके केवल वाङ्मय रूप हैं, ये शब्दब्रह्म हैं। वेद कहते हैं, मंत्र हृदयसे निकला है, उस गुह्य स्थानसे जो सत्यका धाम है, 'सदनात् ऋतस्य गुहायां'। वेदोंका यह मूल ही उनका प्रामाण्य है; पर फिर भी वह अनंत सत्य अपने शब्दकी अपेक्षा कहीं अधिक महान् है। किसी भी सद्ग्रंथके विषयमें यह बात नहीं कही जा सकती कि जो कुछ है बस यही है, इसके सिवाय और कोई सत्य ग्राह्य नहीं हो सकता,

जैसा कि वेदोंके विषयमें वेदवादी कहते थे, 'नान्यदस्तीति वादिनः'। यह बात बड़ी रक्षा करनेवाली और बंधनसे मुक्त करनेवाली है, और संसारके सभी सद्ग्रंथोंके विषयमें यह एक ही बात कही जा सकती है। बाइबल, कुरान, चीनके धर्मग्रंथ, वेद, उपनिषद, पुराण, तंत्र, शास्त्र और स्वयं गीता आदि सभी सद्ग्रंथ, जो आज हैं, या कभी रहे हों, उन सबमें जो सत्य है उसे तथा जितने तत्त्ववेत्ता, साधु-संत, ईश्वरदूत और अवतारोंकी जो वाणी है उसे, आप एकत्र कर लें तो भी आप यह न कह सकेंगे कि जो कुछ है बस यही है, इसके अलावा कुछ है ही नहीं या जिस सत्यको आपकी बुद्धि इनके अंदर नहीं देख पाती वह सत्य ही नहीं, क्योंकि वह इनके अंदर नहीं। यह तो सांप्रदायिकोंकी संकीर्ण बुद्धि हुई या फिर सब धर्मोसे अच्छी-अच्छी बात चुननेवाले धार्मिक मनुष्यकी मिश्रित बुद्धि हुई, स्वतंत्र और प्रकाशमान मनका और ईश्वरानुभव प्राप्त जीवका अव्याहत सत्यान्वेषण नहीं। श्रुत हो या अश्रुत, वह सदा सत्य ही है जिसको मनुष्य अपने हृदयकी ज्योतिर्मय गभीर गुहामें देखता या अखिल ज्ञानके स्वामी सनातन वेदविद् सर्वज्ञ परमेश्वरसे अपने हृद्देशमें श्रवण करता है।

---

# बुद्धियोग

पिछले दो परिच्छेदोंमें मुझे मुख्य विषयसे हटकर दार्शनिक मतवादके नीरस क्षेत्रमें पाठकोंको अपने साथ इसलिये घसीट ले जाना पड़ा—यद्यपि विभिन्न दार्शनिक मतवादोंका वहां जितना निरूपण हो सका है वह बहुत ही सरसरी तौरपर किया गया है तथा बहुत ही अपर्याप्त और ऊपरी है—कि हम इस बातको समझ लें कि गीताने जिस विशिष्ट प्रतिपादन-शैलीको अपनाया है उसका वह अंततक क्यों अनुसरण करती है। वह शैली यह है कि पहले तो गीता किसी आंशिक सत्यका मृदुमंद संकेत भर कर देती है और फिर आगे चलकर अपने इन संकेतोंकी ओर लौटती है और उनके मर्मको दिखलाती है और यह उस समयतक होता रहता है जबतक कि वह इन सबके ऊपर उठकर अपनी उस अंतिम महान् सूचनामें, अपने उस परम रहस्यमें नहीं पहुंच जाती जिसका वह स्वयं कोई खुलासा नहीं करती, बल्कि उसको मनुष्य-जीवनमें प्रस्फुटित होनेके लिये छोड़ देती है, जिस सूचना या परम रहस्य को भारतीय आध्यात्मिकताके उत्तर युगोंमें प्रेमकी, आत्म-समर्पणकी और आनंदकी महान् लहरोंमें उपलब्ध करनेका प्रयास किया गया। गीताकी दृष्टि सदा अपने समन्वयपर है और उसमें जो विभिन्न

विचार-धाराओंका वर्णन है वह इसलिये है कि मनुष्यकी मन-बुद्धिको क्रमशः तैयार कर लिया जाय जिससे कि वह उसके अंतिम महान् वचनको ग्रहण कर सके।

सांख्यमें मोक्षदायिनी बुद्धिकी जो संतुलित अवस्था है वह, भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि, मैंने तुझे बता दी, और अब मैं योगमें जो एक दूसरी संतुलित अवस्था है उसका तुझसे वर्णन करूंगा। तू अपने कर्मोंके फलोंसे डर रहा है, तू कोई दूसरा ही फल चाहता है और अपने जीवनके सच्चे कर्मपथसे हट रहा है; क्योंकि यह पथ तुझे तेरे वांछित फलोंकी ओर नहीं ले जाता। परंतु कर्म और कर्मफलको इस दृष्टिसे देखना, फलकी इच्छासे कर्ममें प्रवृत्त होना, कर्मको अपनी इच्छापूर्तिका साधन बनाना बंधन है जो उन अज्ञानियोंको बांधता है जो यह नहीं जानते कि कर्म क्या चीज है, कहांसे इसका प्रवाह चला है, यह कैसे होता है और इसका श्रेष्ठ उपयोग क्या है। मेरा योग तुझे इन कर्म-बंधनोंसे मुक्त कर देगा—"कर्मबन्धं प्रहास्यसि।" तुझे बहुतसी चीजोंका डर लग रहा है—पापका डर, दुःखका डर, नरक और दंड पानेका डर, ईश्वरका डर और इस जगत्का डर, परलोकका डर और अपना डर। भला बता तो, इस समय ऐसी कौनसी चीज है जिसका, हे आर्य क्षत्रिय वीर, जगत्का वीरशिरोमणि, तुझे डर न लगता हो? परंतु यह महाभय ही तो मानव-जातिको घेरे रहता है—पाप और दुःखका भय इस लोक और परलोकमें, जिस संसारके सत्य स्वभावको वह नहीं जानती उस संसारमें भय, जिस ईश्वरकी सत्य सत्ताको भी वह नहीं देख पायी है और जिसकी विश्वलीलाके अभिप्रायको वह नहीं समझ सकी है, उस ईश्वरका भय। मेरा योग तुझे इस महाभयसे तार देगा और इस योगका स्वल्पसा साधन भी तुझे मुक्ति दिला देगा। एक

बार जहां तैंने इस मार्गपर चलना शुरू किया कि तू देखेगा कि कोई कदम भी व्यर्थ नहीं रखा गया, प्रत्येक साधारणसी गति भी एक कमाई होगी; तुझे वहां ऐसी कोई बाधा नहीं मिलेगी जो तेरी प्रगतिको अटका सके। कितनी निर्भीक और निरपेक्ष प्रतिज्ञा है! परंतु सर्वत्र विघ्नोंसे घिरकर लुढ़कते-पुढ़कते चलनेवाले चंचल, भयभीत और शंकित मनको सहसा इसपर पूर्ण भरोसा नहीं होता। इस प्रतिज्ञाका व्यापक और पूर्ण सत्य भी तबतक साफ समझमें नहीं आता जबतक गीताके प्रारंभिक वचनोंके साथ उसका यह अंतिम वचन मिलाकर नहीं पढ़ा जाता:—

**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**
**अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥**

"सब धर्मोंको छोड़ दे और केवल एक मेरी शरणमें चला आ; मैं तुझे सब पापों और अशुभोंसे मुक्त कर दूंगा, शोक मत कर।"

परंतु भगवान्‌द्वारा मनुष्यको कहे हुए इस गभीर और हृदयस्पर्शी शब्दके साथ गीताका वर्णन आरंभ नहीं किया गया है, आरंभमें तो इस मार्गपर चलनेके लिये आवश्यक ज्योतिकी कुछ किरणेंभर छिटका दी गयी हैं और वे भी अंतिम वचनकी नाईं अंतरात्माका स्पर्श करनेके लिये नहीं, बल्कि उसकी बुद्धिको प्रकाश देनेके लिये। पहले-पहल मनुष्यके सुहृद् और प्रेमी भगवान् नहीं बोले हैं बल्कि वे भगवान् बोले हैं जो उसके पथप्रदर्शक और गुरु हैं, शिष्य वास्तविक आत्माको, जगत्‌के स्वभावको और अपने कर्मके उद्‌गम स्थानको नहीं जानता; उसके इस अज्ञानको उन्हें दूर करना था। कारण, चूंकि मनुष्य अज्ञानपूर्वक और अशुद्ध बुद्धिके साथ कर्म करता है, और ऐसी हालतमें इन कर्मोंके संबंधमें उसका संकल्प भी अशुद्ध ही होता है, इसलिये वह कर्मबंधनमें पड़ता या बद्ध हुआसा जान पड़ता है; नहीं तो मुक्त आत्माके लिये

तो कर्म बंधनका कारण हैं ही नहीं। इस अशुद्ध बुद्धिके कारण ही मनुष्यको आशा, भय, क्रोध और शोक तथा क्षणिक सुख होता है; अन्यथा पूर्ण शांति और स्वतंत्रताके साथ कर्म किये जा सकते हैं। इसलिये सबसे पहले अर्जुनको बुद्धियोग ही बताया गया है। शुद्ध बुद्धि और फलतः शुद्ध संकल्पके साथ उस एक परमात्मामें स्थित होकर, सबमें उस एक आत्माको जानते हुए तथा उसकी सम शांतिमें-से कार्य करते हुए और उपरितलके मनोमय पुरुषकी हजारों प्रेरणाओंके वश इधर-उधर भटके बिना, कर्म करना ही बुद्धियोग है।

गीता कहती है कि मनुष्यकी बुद्धि दो प्रकारकी है। एक बुद्धि ऐसी है जो एकाग्र, संतुलित, एक, समरस और केवल परम सत्यमें ही संलग्न है; एकत्व उसकी विशिष्टता है और एकाग्र स्थिरता उसका प्राण। दूसरी बुद्धि ऐसी है जिसमें कोई स्थिर संकल्प नहीं, कोई एक निश्चय नहीं, जिसमें अनेक शाखा-पल्लवोंसे युक्त असंख्य विचार हैं, जो जीवन और परिस्थितिसे उठनेवाली इच्छाओंके पीछे इधर-उधर भटका करती है। जिस बुद्धि शब्दका यहां प्रयोग हुआ है उसका विशिष्ट अर्थ तो समझने-बूझनेकी मानसिक शक्ति है, किंतु गीतामें बुद्धि शब्दका प्रयोग इसके व्यापक दार्शनिक अर्थमें हुआ है, गीतामें बुद्धिसे अभिप्रेत है मनकी विवेक और निश्चय करनेवाली समस्त क्रिया, मन अर्थात् वह तत्त्व जो हमारे विचारोंका कार्य और उनकी गतिकी दिशा तथा हमारे कर्मोंका उपयोग और उनकी गतिकी दिशा—इन दोनों बातोंका निश्चय करता है। विचार, बोध, निर्णय, मानसिक पसंद और लक्ष्य ये सब बुद्धिके ही धर्मके अंतर्गत हैं। कारण एकनिष्ठ बुद्धिका लक्षण केवल बोध करनेवाले मनकी एकाग्रता ही नहीं है, बल्कि उस मनकी एकाग्रता है जो निश्चय करनेवाला अर्थात् व्यवसायी है और फिर यह मन अपने निश्चय-

पर जमा रहता है, दूसरी ओर अव्यवसायात्मिका बुद्धिका लक्षण भी उसकी भावनाओं और इंद्रियानुभवोंका भटकते रहना उतना नहीं है जितना कि उसके लक्ष्यों और उसकी इच्छाओंका फलतः उसके संकल्प-का इधर-उधर भटकते रहना है। सो संकल्प और ज्ञान, ये दोनों कर्म ही बुद्धिके हैं। एकनिष्ठ बुद्धि ज्ञानदीप्त आत्मामें स्थिर होती है, आंतर आत्मज्ञानमें एकाग्र होती है; और इसके विपरीत जो बुद्धि बहु-शाखावाली और बहुधंधी है, जो बहुतसे व्यापारोंमें तो लगी हुई है लेकिन उसका जो अपना एकमात्र परमावश्यक कर्म है उसीकी उपेक्षा करनेवाली है, वह मनकी चंचल तथा इधर-उधर भटकनेवाली क्रियाओं-के अधीन रहती और बाह्य जीवन और कर्मों तथा उनके फलोंमें बिखरी रहती है। "कर्म", भगवान् कहते हैं कि, "बुद्धियोगकी अपेक्षा बहुत नीचे दर्जेकी चीज हैं, इसलिये बुद्धिकी शरण लेनेकी इच्छा करो; वे लोग दरिद्र और पामर हैं जो कर्मफलको अपने विचार और अपनी कर्मण्यताओंका विषय बनाते हैं।"

हमें सांख्योंकी मनोवैज्ञानिक क्रमव्यवस्थाको याद रखना चाहिये जिसे गीताने स्वीकार किया है। इस क्रमव्यवस्थाका एक भाग पुरुष है जो स्थिर है, अकर्त्ता है, अक्षर है, एक है, अविकार्य है; दूसरा भाग प्रकृति है जो सचेतन पुरुषके बिना स्वयं जड़ है, जो कर्त्री है,—पर इसका यह गुण पुरुषकी चेतनाके सान्निध्यसे, उसके संपर्कमें आनेसे ही है, यह कहा जा सकता है कि आरंभमें वह पुरुषके साथ एक नहीं हो जाती, बल्कि अनिश्चित रूपसे उसके संपर्कमें ही आती है,—जो त्रिगु-णात्मिका है, प्रवृत्तिनिवृत्तिक्रियात्मिका है। पुरुष और प्रकृतिके पर-स्पर-संपर्कसे ही अंतरंगता और बहिरंगताकी क्रीड़ा होती है, जो हमारी सत्ताका अनुभव है। हमारा जो अंतरंग है पहले वह विकसित होता

है, क्योंकि प्रथम कारण पुरुष-चैतन्य है, और जड़ प्रकृति केवल द्वितीय कारण है और पहलेके आश्रित है। तथापि हमारी अंतरंगताके जो करण हैं उनकी उत्पत्ति प्रकृतिसे है; पुरुषसे नहीं। इस क्रमव्यवस्थामें पहले प्रकृतिमेंसे बुद्धि अर्थात् विवेक और निश्चय करनेवाली शक्तिका और अहंकार अर्थात् इतरोंसे अपना पार्थक्य करनेवाली बुद्धिकी अनुगत शक्तिका विकास होता है। तब इस क्रमव्यवस्थाके द्वितीय विकासमें बुद्धि और अहंकारमेंसे मन उत्पन्न होता है जो विषयोंकी पृथक्-पृथक् पहचान करता है। इस क्रमव्यवस्थाके तीसरे विकासमें मनसे पांच ज्ञानेंद्रियां और पांच कर्मेंद्रियां उत्पन्न होती हैं; तदनंतर ज्ञानेंद्रियोंकी शक्तिके विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध उत्पन्न होते हैं, जो हमारे मनके लिये स्थूल विषयोंका मूल्य निर्द्धारित करते हैं और हमारी अंतरंगतामें पदार्थोंकी जो प्रतीति होती है वह इन्हींके द्वारा होती है। इन्हीं पांच विषयोंके उपादानस्वरूप पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं जिनके विभिन्न संघातसे बाह्य जगत्के पदार्थ उत्पन्न होते हैं।

प्रकृतिके गुणोंके ये तारतम्य और शक्तियां पुरुषके विशुद्ध चैतन्यमें प्रतिभासित होकर हमारे अशुद्ध अंतःकरणके उपादान बनते हैं। अशुद्ध इसलिये कि इसका कार्य बाह्य जगत्के अनुभवों और अंतःकरणपर होनेवाली उसकी प्रतिक्रियाओंपर निर्भर करता है। इसी बुद्धिके—जो मात्र विधायक शक्ति है और जो अपनी अनिश्चित अचेतन शक्तिमेंसे सब कुछका जड़वत् विधान किया करती है—हमारे अंदर दो रूप हो जाते हैं, एक मेधाशक्ति और दूसरा संकल्पशक्ति। मन, जो एक अचेतन शक्ति है, जो प्रकृतिके भेदोंको वहिरंग क्रिया और प्रतिक्रियाके द्वारा ग्रहण करता और आकर्षणके द्वारा उनसे संलग्न होता है, इंद्रियानुभव

और कामना बनता है जो बुद्धि और संकल्पके ही दो असंस्कृत अवयव या विकार हैं,—यही मन संवेदनशक्ति, भावावेगशक्ति और इच्छाशक्ति बनता है, इच्छाशक्तिसे यहां अभिप्रेत है निम्न कोटिकी इच्छा, आशा, कामनामय आवेश, प्राणका आवेग, और ये सब-के-सब संकल्प-शक्तिके ही विकार हैं। इंद्रियां इस मनका उपकरण बनती हैं, जिनमें पांच ज्ञानेंद्रियां हैं और पांच कर्मेंद्रियां, जो अंतरंग जगत् और बहिरंग जगत्के बीच मध्यस्थका काम करती हैं; बाकी जो कुछ है वह इंद्रियोंका विषय है।

स्थूल जगत्के विकासका जो क्रम हम लोग देखते हैं उससे यह क्रम विपरीत प्रतीत होता है। परंतु यदि हम यह स्मरण रखें कि स्वयं बुद्धि भी अपने-आपमें जड़ प्रकृतिकी एक जड़ क्रिया ही है और इसी प्रकार परमाणुमें भी कोई जड़ संकल्प और बोध, पार्थक्य और निश्चय करनेवाली गुणक्रिया होती है, यदि हम यह देखें कि पौधोंमें भी, जीवनके इन अवचेतन रूपोंमें भी, संवेदन, भावावेग, स्मृति और आवेगके असंस्कृत अचेतन उपादान मौजूद हैं और फिर यह देखें कि प्रकृतिकी ये शक्तियां ही किस प्रकार आगे चलकर पशु और मनुष्यकी विकासोन्मुख चेतनामें अंतःकरणके रूप धारण करती हैं, तो हमें यह पता लगेगा कि आधुनिक सायंसने जड़ प्रकृतिके निरीक्षणद्वारा जो कुछ तथ्य प्राप्त किया है उसके साथ सांख्यकी प्रकृति-विश्लेषण-प्रणालीका मेल मिल जाता है। प्रकृतिसे लौटकर अपने पुरुष-स्वरूपको प्राप्त करनेके लिये जीवकी जो विकास-क्रिया होती है उसमें प्रकृति-विकासके मूल क्रमका उलटा क्रम ग्रहण करना पड़ता है। उपनिषदोंने और उपनिषदोंका ही अनुसरण करके, प्रायः उपनिषदोंके वचनोंको ही ज्यों-का-त्यों वर्णन करके गीताने हमारे अंतःकरणकी शक्तियोंका आरोहण-

क्रम इस प्रकार कथन किया है—"विषयोंसे इंद्रियां परे हैं, इंद्रियोंसे परे मन है, मनसे परे बुद्धि है और बुद्धिसे परे जो है वह, वह है"—चिदात्मा, चैतन्य पुरुष। इसलिये, गीता कहती है, इस पुरुषको, हमारे अंतरंग जीवनके इस परम कारणको हमें अपनी बुद्धिसे समझना और जान लेना होगा; उसीमें अपने संकल्पको स्थिर करना होगा। इस प्रकार अपने प्रकृतिस्थ निम्नतर अंतरंग पुरुषको उस महत्तर चिन्मय पुरुषकी सहायतासे सर्वथा संतुलित और निस्तब्ध करके अपनी शांति और प्रभुत्वके उस शत्रुको, मन-बुद्धिके "काम" को, जो सदा अशांत रहता और हमपर हमला करता रहता है, हम मार सकेंगे।

कारण, यह तो स्पष्ट ही है कि, बुद्धिकी क्रिया दो ही प्रकारकी हो सकती है। या तो वह निम्नगामी और बहिर्मुख होकर प्रकृतिके तीनों गुणोंकी लीलामें इंद्रियानुभवों और संकल्पोंकी छितरी हुई क्रियाओंको करनेमें लगे, या ऊर्ध्वगामी और अंतर्मुख होकर, प्रकृतिके जंजालसे छूटकर, प्रशांत चिदात्माकी स्थिरता और सनातन विशुद्धतामें चिरशांति और समता लाभ करे। पहली क्रिया वह है जिसमें अंतरंग सत्ता इंद्रियोंके विषयोंके अधीन रहती है, वह वस्तुओंके बाह्य संपर्कमें ही निवास करती है। यह जीवन कामनाका जीवन है। इस जीवनमें इंद्रियां विषयोंसे उत्तेजित होकर अशांत, बहुधा भीषण विक्षोभ उत्पन्न करती हैं, उन विषयोंको हथियाने और उन्हें भोगनेके लिये बड़ी तेजीसे या भरधांव बाहरकी ओर दौड़ पड़ती हैं और मनको अपने साथ खींच ले जाती हैं, "समुद्रमें जैसे वायु नौकाको खींच ले जाती है;" फिर इंद्रियोंकी इस बहिर्मुख गतिद्वारा जगाये हुए भावावेगों, आवेशों, लालसाओं और प्रेरणाओंसे पराभूत हुआ मन, उसी प्रकार, बुद्धिको खींच ले जाता है। इससे बुद्धि अपना स्थिर विवेक और वशित्व खो

बैठती है। निम्नगामी बुद्धिका परिणाम यह होता है कि प्रकृतिके तीनों गुणोंकी जो सदा गुत्थमगुत्थी और भिड़ंत होती रहती है जीव उसकी उलझी हुई क्रीड़ाके अधीन हो जाता है, वह अज्ञानमय हो जाता है, उसका जीवन मिथ्या, इंद्रियपरायण और बहिरंग हो जाता है, वह शोक, क्रोध, आसक्ति और आवेशका दास हो जाता है,—यही है साधारण, अज्ञानी, असंयमी मनुष्यका जीवन। जो लोग वेदवादियोंके समान इंद्रियभोगको ही कर्मका लक्ष्य और उसीकी पूर्णताको जीवका परम ध्येय बनाते हैं उनके उपदेश हमारे कामके नहीं। अंतःस्थ निर्विषय आत्मानंद हमारा सच्चा लक्ष्य है और यही हमारी शांति और मुक्तिकी उच्च और व्यापक समस्थिति है।

अतः बुद्धिको ऊर्ध्वमुख और अंतर्मुख करना ही हमारा "व्यवसाय" होना चाहिये अर्थात् निश्चयपूर्वक बुद्धिको स्थिर रूपसे एकाग्र करके अध्यवसायके साथ पुरुषके प्रशांत आत्मज्ञानमें स्थित करना चाहिये। इसमें सबसे पहली बात 'काम' से छुटकारा पाना है; क्योंकि काम ही सब दुःखों और कष्टोंका मूल कारण है। कामसे छुटकारा पानेके लिये कामका जो कारण है अर्थात् इंद्रियोंका विषयोंकी ओर उन्हें पाने और भोगनेके लिये दौड़ पड़ना, उसीका अंत करना होगा। जब इस तरहसे इंद्रियां दौड़ पड़ें तब उन्हें पीछे खींचना होगा, विषयोंसे सर्वथा हटा लेना होगा—जैसे कछुआ अपने अंगोंको अपनी ढालके अंदर कर लेता है वैसे ही इंद्रियोंको उनका जो मूल मन है उसमें लाकर शांत करना होगा, और मनको बुद्धिमें लाकर शांत करना होगा और बुद्धिको आत्मा और उसके आत्मज्ञानमें लाकर शांत करना होगा। यह आत्मा वह पुरुष है जो प्रकृतिके कर्मको देखता है, उसमें फंसता नहीं; क्योंकि विषयोंसे मिलनेवाली कोई भी चीज वह नहीं चाहता।

किसीके चित्तमें ऐसी शंका उठ सकती है कि यहां मानो संन्यास-का ही उपदेश किया जा रहा है। इसी शंकाको दूर करनेके लिये भगवान् यह सूचित करते हैं कि यहां मैं किसी बाह्य वैराग्य या विषयोंके भौतिक संन्यासकी बात नहीं कह रहा हूं। सांख्योंका संन्यास या प्रखर विरागी तपस्वियोंके उपवासादि तप, कायक्लेश या अन्नतकका त्याग आदिसे मेरा अभिप्राय नहीं है, मेरा आत्म-अनुशासन और संयम यह नहीं है, मैं जो कुछ बता रहा हूं वह आंतरिक वैराग या संयम है, वह संन्यास कामनाका संन्यास है। देहीके जबतक देह है तबतक इस देहको नित्य दैहिक कर्म करनेके योग्य बना रखनेके लिये आहार देना ही होगा; निराहार होनेसे देही विषयोंके साथ अपने दैहिक संबंधका ही विच्छेद कर सकता है, पर इससे वह आंतरिक संबंध नहीं छूटता जो उस संबंधको दुःखद बनानेका कारण है। विषयोंका जो रस उसमें है—राग और द्वेष जिसके दो पहलू हैं—वह तो बना ही रहता है; देहीको तो, इसके विपरीत, ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे वह रागद्वेषसे अलिप्त रहकर बाह्य स्पर्शको सह सके। अन्यथा विषय तो निवृत्त होते हैं, 'विषया विनिवर्त्तन्ते'; परंतु आंतरिक निवृत्ति नहीं होती, मन निवृत्त नहीं होता; और इंद्रियां हैं मनकी, अंतरंग हैं, इसलिये रसकी आंतरिक निवृत्ति ही वशित्वका एकमात्र वास्तविक लक्षण है। परंतु विषयोंसे इस प्रकारका निष्काम संपर्क, इंद्रियोंका इस प्रकार निर्लेप उपयोग कैसे संभव है? यह संभव है परमको देखनेसे "परं दृष्ट्वा," परम पुरुषके दर्शनसे और बुद्धियोगके द्वारा उसके साथ सर्वान्तःकरणसे युक्त होनेसे, एकत्वको प्राप्त होनेसे; क्योंकि वह एक आत्मा शांत है, अपने ही आनंदसे संतुष्ट है, और एक बार जहां हमने अपने अंदरमें रहनेवाले इस परम पुरुषका दर्शन कर लिया, अपने मन और संकल्पको

उसके अंदर स्थापित कर दिया कि यह आनंद, जो द्वंद्वशून्य है—इंद्रियोंके विषयोंसे पैदा होनेवाले मानसिक सुख और दुःखका स्थान अधिकार कर लेता है। यही मुक्तिका सच्चा रास्ता है।

निश्चय ही आत्म-संयम, आत्म-वशित्व कोई हंसी-खेल नहीं है। सभी बुद्धिमान् मनुष्य इस बातको जानते हैं कि उन्हें थोड़ा-बहुत संयम करना ही चाहिये, अपने-आपको वशमें रखना ही चाहिये और इंद्रियोंको वशमें रखनेके लिये जितने उपदेश मिलते हैं उतने शायद किसी दूसरी चीजके लिये नहीं। परंतु सामान्य स्थिति यही है कि यह उपदेश अपूर्ण रूपसे ही दिया जाता है और इसका पालन भी अपूर्ण रूपसे ही और वह भी बहुत ही मर्यादित और अपर्याप्त मात्रामें किया जाता है। पूर्ण आत्मप्रभुत्वको प्राप्त करनेके लिये परिश्रम करनेवाला ज्ञानी, स्पष्ट द्रष्टा, बुद्धिमान् और विवेकी पुरुष भी यह पाता है कि इंद्रियां उसको बेकाबू करके सहसा खींच ले जाती हैं। ऐसा क्यों होता है? इसलिये कि मन इंद्रियोंके विषयोंमें आंतरिक रस लेता है, इन विषयोंपर जाकर वह जम जाता है और उनको बुद्धिके तल्लीन विचारका और संकल्पके लिये तेज रसका विषय बना देता है। इससे आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्तिसे कामना, कामनासे अर्थात् कामनाकी पूर्ति न होनेपर या उसके विफल या विपरीत होनेपर संताप, आवेश और क्रोध उत्पन्न होता है, इससे मोह होता है और मोहसे पुरुषपर परदा पड़ जाता है, बुद्धिके बोध और संकल्प दोनों ही स्थिर साक्षी पुरुषको देखना और उसीमें स्थित रहना भूल जाते हैं, अपने सदात्माकी स्मृतिसे ही पतन हो जाता है और इस पतनसे बुद्धि आच्छादित हो जाती है, यहांतक कि वह नष्ट भी हो जाती है। कारण, उस समयके लिये तो हमारी स्मृतिसे उसका लोप ही हो जाता है, वह मोहके बादलमें छिप जाती है और हम स्वयं मोह, क्रोध

और शोक बन जाते तथा आत्मा, बुद्धि और संकल्प नहीं रहते हैं। इसलिये ऐसा न होने देना चाहिये और सब इंद्रियोंको अच्छी तरह वशमें ले आना चाहिये; क्योंकि इंद्रियोंके पूर्ण संयमसे ही विज्ञ और स्थिर बुद्धि दृढ़तापूर्वक स्वस्थानमें प्रतिष्ठित हो सकती है।

बुद्धिके अपने प्रयत्नसे ही, केवल मानसिक संयमसे ही यह कार्य पूर्ण रूपसे सिद्ध नहीं हो सकता; हो सकता है केवल ऐसी वस्तुके साथ युक्त होनेसे जो बुद्धिसे ऊँची है और स्थिरता तथा आत्म-प्रभुत्व जिसके अंदर स्वभावतः ही निहित हैं। इस योगकी सिद्धि भगवान्‌की ओर लगनेसे, भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'मेरी ओर' लगनेसे, 'मद्भावापन्न' होनेसे, सर्वात्मना 'मेरे समर्पित' होनेसे, होती है; कारण मुक्तिदाता श्री-भगवान् हमारे अंदर हैं, पर हमारा मन या हमारी बुद्धि या हमारी अपनी इच्छा यह भागवत सत्ता नहीं है, ये तो केवल उपकरण हैं। हमें, जैसा कि गीताके अंतमें बताया गया है, सर्वभावसे ईश्वरकी ही शरण जाना होगा और इसके लिये हमें पहले उन्हें अपनी संपूर्ण सत्ताका ध्येय बनाना होगा और उनसे आत्म-संबंध बनाये रखना होगा। "सर्वथा मत्पर होकर, मुझमें योग युक्त होकर स्थित रह" यह जो कहा गया, इसका यही अभिप्राय है। परंतु अभी यह केवल संकेतमात्र है, जो गीताकी प्रतिपादनशैलीके अनुसार ही है। "युक्त आसीत मत्परः" इन तीन शब्दोंमें वह परम रहस्य बीज-रूपसे भर दिया गया है जिसका विस्तार आगे होना है।

ऐसा जब हो जाय तब विषयोंमें विचरते हुए, उनके संपर्कमें रहते हुए, उनपर क्रिया करते हुए भी इंद्रियोंको अंतरात्माके सर्वथा अधीन रखना—विषय और उनके संस्पर्श तथा उनकी प्रतिक्रियाओंके वशी-

भूत होकर नहीं—और फिर इस अंतरात्माको परम-आत्मा, परम पुरुषके अधीन रखना संभव होता है। तब विषयोंकी प्रतिक्रियाओंसे छूटकर इंद्रियां रागद्वेषसे वियुक्त, काम-क्रोधसे मुक्त होती हैं और तब आत्म-प्रसाद अर्थात् आत्माकी स्थिरता, शांति, विशुद्धता और संतुष्टि प्राप्त होती है। वह आत्मप्रसाद जीवके परम सुखका कारण है; उसके रहते कोई दुःख उस शांत पुरुषको स्पर्श नहीं कर सकता; उसकी बुद्धि तुरत आत्माकी शांतिमें स्थित हो जाती है; दुःख रह ही नहीं जाता। इसी आत्मावस्था और आत्मज्ञानमें स्थिर, निष्काम, दुःखरहित बुद्धिकी धृतिको गीताने समाधि कहा है।

समाधिस्थ मनुष्यका लक्षण यह नहीं है कि उसको विषयों और परिस्थितियोंका तथा अपने मनोमय और अन्नमय पुरुषका होश ही नहीं रहता और शरीरको जलाने या पीड़ित करनेपर भी उसको इस चेतनामें नहीं लौटाया जा सकता, जैसा कि साधारणतया लोग समझते हैं; इस प्रकारकी समाधि तो चेतनाकी एक विशिष्ट प्रकारकी प्रगाढ़ता है, यह समाधिका मूल लक्षण नहीं है। समाधिकी कसौटी है सब कामनाओंका बहिष्कार, किसी भी कामनाका मनपर चढ़ाई न कर सकना, और यह वह आंतरिक अवस्था है जिससे यह स्वतंत्रता उत्पन्न होती है, आत्माका आनंद अपने ही अंदर जमा रहता है और मन सम, स्थिर तथा ऊपरकी भूमिकामें ही अवस्थित रहता हुआ आकर्षणों और विकर्षणोंसे तथा बाह्य जीवनके घड़ी-घड़ी बदलनेवाले आलोक-अंधकार और तूफानों तथा झंझटोंसे निर्लिप्त रहता है। वह बाह्य कर्म करते हुए भी अंतर्मुख रहता है; बाह्य पदार्थोंको देखते हुए भी आत्मामें ही एकाग्र होता है; दूसरोंकी दृष्टिमें सांसारिक कर्मोंमें लगा हुआ प्रतीत होनेपर भी लगा रहता है सर्वथा भगवान्की ही ओर। अर्जुन औसत मनुष्यके मनमें उठनेवाला

यह प्रश्न करता है कि इस महान् समाधिका वह कौनसा लक्षण है जो बाह्य, शारीरिक और व्यावहारिक रूपमें जाना जा सके; समाधिस्थ मनुष्य कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है ? इस तरहके कोई लक्षण नहीं बताये जा सकते और न भगवान् गुरु ही बतलानेका प्रयास करते हैं; क्योंकि समाधिकी जो कोई कसौटी हो सकती है वह आंतरिक है और कसकर देखनेकी बहुतसी विरोधी शक्तियां हैं और ये भी मनोगत हैं। मुक्त पुरुषका महान् लक्षण समता है और इस समताकी पहचानके लिये जो अति स्पष्ट चिह्न हैं वे भी आंतरिक हैं। "दुःखमें जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुखकी इच्छा जिसकी जाती रही है, राग, भय और क्रोध जिसका निकल गया है, जिसकी बुद्धि स्थिरतामें प्रतिष्ठित है, वही मुनि है।" वह "निस्त्रैगुण्य, निर्द्वंद्व, सदा अपनी सत्य सत्तामें प्रतिष्ठित, निर्योगक्षेम, आत्मवान्" होता है। कारण मुक्त पुरुषका योग-क्षेम क्या ? जहां एक बार हम आत्मवान् हुए तहां सब कुछ तो प्राप्त हो गया, सब कुछ तो हमारा ही है।

पर फिर भी आत्मवान् पुरुष कर्मसे विरत नहीं होता। यही गीताकी मौलिकता और शक्ति है कि पुरुषकी इस स्थितिशील अवस्थाका प्रतिपादन करके भी, प्रकृतिपर पुरुषका श्रेष्ठत्व बताके भी, मुक्त पुरुषके लिये प्रकृतिकी साधारण क्रियाको निःसारताको दिखाके भी वह उसके लिये कर्मको जारी रखनेको कहती है, कर्मका उपदेश करती है और ऐसा करनेके कारण गीता उस बड़े भारी दोषसे बच जाती है जो मात्र शांतिकामी और वैरागी मतोंमें पाया जाता है,—यद्यपि आज वे इस दोषसे बचनेकी चेष्टा कर रहे हैं। "कर्ममें तेरा अधिकार है पर केवल कर्ममें, कर्मके फलोंमें कदापि नहीं; अपने कर्मोंके फलोंकी इच्छा करनेवाला तू मत बन और अकर्ममें भी तेरी आसक्ति न हो।" इस बातसे

यह स्पष्ट है कि यह कर्म वेदवादियोंका वह कर्म नहीं है जो फलविशेषकी कामनासे किया जाता है, और न यह उस प्रकारका कर्म है जिसका दावा सांसारिक या राजसी वृत्तिके कर्मी किया करते हैं और जो अशांत उद्योगी मनकी संतुष्टिके लिये सदा किया जाता है। "योगस्थ होकर कर्म कर, संगका त्याग करके, सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर; कारण समत्व ही योगसे अभिप्रेत है।" यह प्रश्न उठ सकता है कि शुभ और अशुभके आपेक्षिक विचारके कारण, पापसे भय और पुण्यके कठिन प्रयासके कारण कर्म क्या केवल दुःखदायी ही नहीं होता? परंतु वह मुक्त पुरुष जिसने अपनी बुद्धि और संकल्पको भगवान्के साथ एक कर लिया है, वह इस द्वंद्वमय संसारमें भी शुभ कर्म और अशुभ कर्म दोनोंका परित्याग किये रहता है; क्योंकि वह शुभाशुभके परे जो परम धर्म है, जिसकी प्रतिष्ठा आत्मज्ञानकी स्वाधीनतामें है, उसमें ऊपर उठ जाता है। शायद आप यह कहें कि ऐसे निष्काम कर्ममें कोई निश्चितता, कोई अमोघता, कोई लाभदायक प्रेरक-भाव, कोई विशाल या ओजपूर्ण सृष्टि-सामर्थ्य नहीं हो सकता? ऐसा नहीं है; योगस्थ होकर किया जानेवाला कर्म न केवल उच्चतम प्रत्युत अत्यंत ज्ञानपूर्ण, सांसारिक विषयोंके लिये भी अत्यंत शक्तिशाली और अत्यंत अमोघ होता है; क्योंकि उसमें सब कर्मोंके स्वामी भगवान्का ज्ञान और संकल्प भरा रहता है; "योग है कर्मकी कुशलता" (योगः कर्मसु कौशलम्)। परंतु आप कहेंगे कि जीवनके लिये किया जानेवाला कर्म योगीको उसके महान् ध्येयसे दूर कर देता है और यह बात तो सर्वसम्मत ही है कि योगीका ध्येय इस दुःखशोकमय मानव-जन्मके बंधनसे छुटकारा पाना होता है? नहीं, ऐसा भी नहीं है; जो योगी कर्मफलकी इच्छाके विना, भगवान्के साथ योगमें स्थित होकर कर्म करते हैं वे जन्मबंधसे विनिर्मुक्त होते हैं और उस परम पदको प्राप्त होते

एकत्वमें वह रहता है और अंतकालमें उसीमें स्थित होकर ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होता है—यह ब्रह्मनिर्वाण बौद्धोंका अभावात्मक आत्म-विध्वंस नहीं है, प्रत्युत् पृथकीभूत वैयक्तिक आत्माका उस एक अनंत नैर्व्यक्तिक सत्ताके विराट् सत्यमें महान् निमज्जन है।

इस प्रकार सांख्य, योग और वेदांतका यह सूक्ष्म एकीकरण गीता-की शिक्षाकी पहली नींव है। यही सब कुछ नहीं है, बल्कि ज्ञान और कर्मकी यह प्राथमिक अनिवार्य व्यावहारिक एकता है जिसमें जीवकी परिपूर्णताके लिये परमावश्यक सर्वोच्च और आत्यंतिक जो तीसरा अंग है उसका अर्थात् भागवत प्रेम और भक्तिका संकेत मात्र किया गया है।

---

# कर्म और यज्ञ

बुद्धियोग और ब्राह्मीस्थितिमें उसकी परिसमाप्ति, जो गीताके द्वितीय अध्यायके अंतिम भागका विषय है, उसमें गीताकी बहुत कुछ शिक्षा बीजरूपसे आ गयी है—गीताका निष्काम कर्म, समत्व, बाह्य संन्यासका वर्जन और भगवद्भक्ति, ये सभी सिद्धांत इसमें आ गये हैं। परंतु अभी ये सब बहुत ही अल्प और अस्पष्ट रूपसे ही हैं। जिस बातपर अभीतक सबसे अधिक जोर दिया गया है वह यही है कि मनुष्यके कर्म करनेका जो सामान्य प्रेरक-भाव हुआ करता है उससे, अर्थात् उसकी अपनी कामनासे तथा आवेशों और अज्ञानके साथ इंद्रिय-सुखके पीछे दौड़नेवाले विचार और संकल्पमय उसके सामान्य प्राकृत स्वभावसे और अनेक शाखापल्लवोंसे युक्त संतप्त विचारों और इच्छाओंमें भटकते रहनेका उसका जो अभ्यास पड़ा हुआ है उससे, मनुष्यकी बुद्धि हट जाय और वह ब्राह्मीस्थितिकी निष्काम स्थिर एकता और निर्विकार प्रशांतिमें पहुंच जाय। इतनासा अर्जुनने समझ लिया है। इसमें उसके लिये कोई नयी बात नहीं; क्योंकि उस समयकी प्रचलित शिक्षा-का यही सार था जो मनुष्यको सिद्धि प्राप्त करनेके लिये ज्ञानका मार्ग तथा जीवन और कर्मसे संन्यासका मार्ग दिखा देता था। बुद्धिका इंद्रियोंसे, विषय-वासनाओंसे तथा मानव-कर्मसे हटकर उस परममें, उस

एकमेवाद्वितीय अकर्त्ता पुरुषमें, उस अचल निराकार ब्रह्ममें लगना ही ज्ञानका सनातन बीज है। यहां कर्मके लिये कोई स्थान नहीं, क्योंकि कर्म अज्ञानके हैं; कर्म ज्ञानसे सर्वथा विपरीत हैं; कर्मका बीज काम है और उसका फल बंधन। यही कट्टर दार्शनिक मत है और श्रीकृष्ण भी इसे स्वीकार करतेसे मालूम होते हैं जब वे यह कहते हैं कि कर्म बुद्धियोगके सामने बहुत ही छोटी चीज हैं। और फिर भी जोर देकर यह कहा जाता है कि योगके अंग-स्वरूप कर्म करना होगा ; इस तरह इस शिक्षामें कोई मूलगत परस्पर-विरोधसा देख पड़ता है। इतना ही नहीं; क्योंकि ज्ञानकी अवस्थामें भी कुछ कालतक किसी प्रकारका कोई कर्म बना रह सकता है, ऐसा कर्म जो कम-से-कम हो, अत्यंत निर्दोष हो; पर यहां जो कर्म बताया जा रहा है वह तो ज्ञानके, सौम्यताके और स्वांतःसुखी जीवकी अचल शांतिके सर्वथा विरुद्ध है,—यह कर्म तो एक भयानक, यहांतक कि राक्षसी कर्म है, खूनामरकीसे भरा हुआ एक संघर्ष है, एक निर्दय संग्राम है, एक दानवी हत्याकांड है। फिर भी इसी कर्मका यहां विधान किया जा रहा है और अंतःस्थ शांति और निष्काम समता तथा ब्राह्मीस्थितिकी शिक्षासे इसका समर्थन किया जा रहा है! यह एक ऐसा परस्पर-विरोध है जिसका अभी मेल नहीं मिला है। अर्जुन इस बातका उलहना देता है कि मुझे ऐसी शिक्षा दी जा रही है जिसमें सिद्धांतोंका परस्पर-विरोध है और उससे बुद्धि बड़े असमंजसमें पड़ती है, ऐसा कोई स्पष्ट और सुनिश्चित मार्ग नहीं दिखाया जा रहा है जिसपर चलकर मनुष्यकी बुद्धि बिना इधर-उधर भटके सीधे परम कल्याणकी ओर चली जाय। इसी आपत्तिका उत्तर देनेके लिये गीता तुरत अपने निश्चित और अलंघनीय कर्म-सिद्धांतका अधिक स्पष्ट प्रतिपादन आरंभ करती है।

गुरु पहले मोक्षके उन दो साधनोंका भेद स्पष्ट करते हैं जिन्हें मनुष्य इस लोकमें अलग-अलग अपना सकते हैं, एक है ज्ञानयोग और दूसरा है कर्मयोग। साधारण मान्यता ऐसी है कि ज्ञानयोग कर्मोंको मुक्तिका बाधक कहकर त्याग देता है और कर्मयोग इनको मुक्तिका साधन मानकर स्वीकार करता है। गुरु अभी इन दोनोंको मिला देने-पर, इन दोनोंका विभाजन करनेवाले विचारोंमें मेल मिलानेपर बहुत अधिक जोर नहीं दे रहे हैं, बल्कि यहां इतनेसे ही आरंभ करते हैं कि सांख्योंका कर्मसंन्यास न तो एकमात्र मोक्षमार्ग ही है और न यह कर्मयोगसे उत्तम ही है। नैष्कर्म्य अर्थात् कर्मरहित शांत शून्यता अवश्य ही वह अवस्था है जो पुरुषको प्राप्त करनी है; क्योंकि कर्म होता है प्रकृतिके द्वारा और पुरुषको सत्ताकी कर्मण्यताओंमें लिप्त होनेकी अवस्थासे ऊपर उठकर उस शांत कर्मरहित अवस्था और समस्थितिमें पहुंचना होगा जहांसे वह प्रकृतिके कर्मोंका साक्षित्व तो कर सके, पर उनसे प्रभावित न हो। पुरुषका नैष्कर्म्य तो यथार्थमें यही है, प्रकृतिके कर्मोंका बंद हो जाना नहीं। इसलिये यह समझना भूल है कि किसी प्रकारका कर्म न करनेसे ही नैष्कर्म्य अवस्थाको पाया और भोगा जा सकता है। केवल कर्मोंका संन्यास न तो मुक्तिका पर्याप्त साधन है न समीचीन ही। "कर्म न करनेसे ही मनुष्य नैष्कर्म्यको नहीं प्राप्त होता न केवल (कर्मोंके) संन्याससे ही उसे सिद्धि प्राप्त होती है।" सिद्धिसे मतलब है, योग-साधनाके लक्ष्यकी प्राप्ति।

पर कम-से-कम कर्मोंका संन्यास एक आवश्यक, अनिवार्य और अलंघनीय साधन तो होगा ही? कारण यदि प्रकृतिके कर्म होते रहें तो पुरुषके लिये यह कैसे संभव है कि वह उसमें लिप्त न हो? यह कैसे संभव है कि मैं युद्ध करूं भी और अपने अंदर यह न समझूं, यह

न अनुभव करूं कि मैं अमुक व्यक्ति युद्ध कर रहा हूं, न तो विजय-लाभकी इच्छा करूं न हार होनेपर अंदरमें दुःखी ही होऊं? सांख्योंका यह सिद्धांत है कि जो पुरुष प्रकृतिके कर्मोंमें नियुक्त होता है, उसकी बुद्धि अहंकार, अज्ञान और काममें फंस जाती है और इसलिये वह कर्ममें प्रवृत्त होती है; दूसरी ओर, बुद्धि यदि निवृत्त हो तो इच्छा और अज्ञानकी समाप्ति होनेसे कर्मका भी अंत हो जाता है। इसलिये मोक्ष-मार्गकी साधनामें संसार और कर्मका परित्याग एक आवश्यक अंग, अपरिहार्य अवस्था और अनिवार्य अंतिम साधन है। उस समयकी विचार-पद्धतिका यह आक्षेप—यद्यपि अर्जुनके मुखसे यह बात बाहर नहीं हुई है, पर यह उसके मनमें है, यह उसकी बादकी बातचीतसे झलकता है—भगवान् गुरु ताड़ जाते हैं। वे कहते हैं कि, नहीं, इस प्रकारके संन्यासका अनिवार्य होना तो दूर रहा, ऐसे संन्यासका होना ही संभव नहीं है। "कारण कोई प्राणी एक क्षणके लिये भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता; प्रकृतिजात गुण हर किसीसे बरबस कर्म कराते ही हैं।" इस महान् विश्व कर्मका और विश्वप्रकृतिकी शाश्वत कर्मण्यता और शक्तिका यह स्पष्ट और गभीर अनुभव गीताकी एक विलक्षण विशेषता है। प्रकृतिके इसी भावपर तांत्रिक शाक्तोंने आगे चलकर बहुत ही जोर दिया, उन्होंने यहांतक किया कि प्रकृति या शक्तिको पुरुषसे भी श्रेष्ठ बना दिया। प्रकृति या शक्तिकी महिमाका गीतामें यद्यपि मृदु संकेतमात्र हुआ है, फिर भी उसके ईश्वरवादी और भक्तिवादी तत्त्वोंकी शिक्षाके साथ मिलकर यह महिमा काफी बलवान् हो गयी है और इसने यह काम किया है कि प्राचीन दार्शनिक वेदांतकी शांतिकामी प्रवृत्तिका संशोधन कर अपने योगमार्गमें कर्मकी उपयोगिताको सिद्ध कर दिया है। प्रकृतिके जगत्में प्रकृतिका जामा पहना हुआ मनुष्य एक क्षणके

लिये, एक पल-विपलके लिये भी, कर्मको नहीं छोड़ सकता; उसका यहां रहना ही एक कर्म है; सारा विश्वब्रह्मांड ईश्वरका एक कर्म है, केवल जीना भी उसीकी एक क्रिया है।

हमारा दैहिक जीवन, उसका पालन, उसकी निरवच्छिन्न स्थिति एक यात्रा है, एक 'शरीरयात्रा' है, और कर्मके बिना यह यात्रा पूरी नहीं हो सकती। परंतु यदि कोई मनुष्य अपने शरीरको न पाले-पोसे, यों ही बेकार छोड़ दे, किसी वृक्षसा सदा चुप खड़ा रह जाय या पत्थरसा अचल बैठा रहे तो इस वैटप या शैल अचलतासे वह प्रकृतिके हाथसे नहीं बच सकता; प्रकृतिके गुण-कर्मसे उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। कारण केवल हमारे शरीरका चलना-फिरना और दूसरे-दूसरे कर्म करना ही कर्म नहीं है, हमारा मानसिक जीवन भी तो एक बहुत बड़ा जटिल कर्म है, बल्कि चंचला प्रकृतिके कर्मोंका यह बृहत्तर और महत्तर अंग ही है—हमारे बाह्य दैनिक कर्मका यही आंतरिक कारण और नियामक है। यदि हमने आंतरिक कारणकी क्रियाको तो जारी रखा और उसके फलस्वरूप होनेवाले बाह्य कर्मका निग्रह किया तो इससे हमें कोई लाभ नहीं हुआ। इंद्रियोंके विषय तो हमारे बंधनके केवल निमित्त कारण हैं, असल कारण तो मनका तद्विषयक आग्रह है। मनुष्य चाहे तो कर्मेंद्रियोंका नियमन कर सकता है और उन्हें उनकी स्वाभाविक कर्मक्रीड़ासे रोक सकता है, पर यदि उसका मन इंद्रियोंके विषयोंका ही स्मरण और चिंतन करता है तो ऐसे संयम और दमनसे उसे क्या मिला? ऐसा मनुष्य तो आत्म-संयमको कुछ-का-कुछ समझकर अपने-आपको भ्रममें डालता है; वह न तो संयमके उद्देश्यको समझता है न उसकी वास्तविकताको, न अपने अंतःकरणके मूल तत्त्वों-को ही; इसलिये संयमके संबंधमें उसके सब प्रयत्न मिथ्या और व्यर्थ

हो जाते हैं और वह मिथ्याचारी* कहलाता है। शरीरसे होनेवाले कर्म, और मन-बुद्धिसे होनेवाले कर्म भी स्वयं कुछ भी नहीं हैं, न बंधन हैं न बंधनके मूल कारण ही। जो बात मुख्य है वह है प्रकृतिकी वह प्रबल शक्ति जो मन, प्राण और शरीरके महान् क्षेत्रमें अपना कर्म करेगी ही, वह अपने रास्तेसे चलेगी ही; प्रकृतिमें जो कुछ खतरनाक है वह त्रिगुणकी वह ताकत है जिससे बुद्धि मोहित होती और भरमती है और इस तरह आत्माको आच्छादित करती है। आगे चलकर हम लोग देखेंगे कि कर्म और मोक्षके संबंधमें गीताका सारा रहस्य यही है। त्रिगुणके व्यामोह और व्याकुलतासे मुक्त हो जाओ, फिर कर्म हुआ करे, क्योंकि वह तो होता ही रहेगा; फिर वह कर्म चाहे जितना भी विशाल हो, समृद्ध हो या कैसा भी विकट और भीषण हो, उससे कुछ भी नहीं आता-जाता, क्योंकि तब पुरुषको उसका कोई स्पर्श नहीं होता, जीव नैष्कर्म्यकी अवस्थाको प्राप्त हो चुका है।

परंतु इस बृहत्तर तत्त्वका गीता अभी तुरत वर्णन नहीं कर रही है। जब मन ही कारण है, अकर्म जब असंभव है तब जो कुछ युक्तिसंगत, आवश्यक और उचित है वह यही कि आंतर और बाह्य कर्मोंको संयमके साथ किया जाय। मन जो बुद्धिका यंत्र है उसे चाहिये कि वह इंद्रियोंको अपने वशमें करे और उन्हें उनके अपने-अपने कर्ममें अर्थात्

---

* मेरे विचारमें 'मिथ्याचार' का अर्थ पाखंडी नहीं हो सकता। जो अपने शरीरको इतने क्लेश पहुंचाता और भूखों मार डालता है वह पाखंडी कैसे हो सकता है? वह भूला हुआ है, भ्रममें है, 'विमूढात्मा' है और उसका आचार मिथ्या और व्यर्थ है, अवश्य ही गीताका यहां यही अभिप्राय है।

कर्मयोगमें लगावे। पर इस आत्म-संयमका सारतत्त्व क्या है, कर्मयोगक
अभिप्राय क्या है? कर्मयोगका अभिप्राय है अनासक्ति, कर्म करना,
पर मनको इंद्रियोंके विषयोंसे और कर्मोंके फलोंसे अलिप्त रखना।
संपूर्ण अकर्म नहीं, संपूर्ण अकर्म तो भ्रम है, मनकी उलझन है,
आत्मप्रवंचन है, ऐसा होना तो असंभव ही है, बल्कि वह कर्म जो
पूर्ण हो और स्वतंत्र हो, जो इंद्रियों और आवेशोंके वश होकर नहीं
किया गया हो,—ऐसा निष्काम और आसक्तिरहित कर्म ही सिद्धिका
प्रथम रहस्य है। इस प्रकार, भगवान् कहते हैं कि, नियत कर्म करो,
'नियतं कुरु कर्म त्वम्।'' मैंने यह कहा है कि ज्ञान, बुद्धि, कर्मकी
अपेक्षा श्रेष्ठ है, ''ज्यायसी कर्मणो बुद्धिः''; पर इसका यह अभिप्राय
नहीं कि कर्मसे अकर्म श्रेष्ठ है, श्रेष्ठ तो अकर्मकी अपेक्षा कर्म ही है,
''कर्म ज्यायो अकर्मणः''। कारण ज्ञानका अर्थ कर्मका संन्यास नहीं है,
ज्ञानका अर्थ है समता, तथा वासनासे और इंद्रियोंके विषयोंसे अनासक्ति;
और इसका अर्थ है बुद्धिका उस आत्मामें स्थिर प्रतिष्ठ होना जो
स्वतंत्र है, प्रकृतिके निम्न कर्मोंके बहुत ऊपर है और वहींसे मन, इंद्रियों
और शरीरके कर्मोंको आत्म-ज्ञानकी तथा आध्यात्मिक अनुभूतिके विशुद्ध
निर्विषय आत्मानंदकी शक्तिद्वारा नियत करता है। इस प्रकारसे
जो कर्म नियत होता है, वही ''नियतं कर्म''* है। बुद्धियोग कर्मयोग-

---

* नियतंकर्मका आजकल जो कुछ अर्थ लगाया जाता है उसे भी
मैं नहीं मान सकता। नियतंकर्मका अर्थ बंधे-बंधाये और वैध कर्म अर्थात्
दोक्त याज्ञिक आनुष्ठानिक नित्यकर्म और दिनचर्या नहीं है। निश्चय ही
छले श्लोकके 'नियम्य' शब्दका तात्पर्य लेकर ही इस श्लोकमें 'नियत'
द प्रयुक्त हुआ है। भगवान् पहले एक वर्णन करते हैं, ''जो कोई मनसे

द्वारा परिपूर्ण होता है, आत्म-मुक्तिको देनेवाला बुद्धियोग निष्काम कर्म-योगद्वारा सार्थक होता है। निष्काम कर्मकी आवश्यकताका यह सिद्धांत गीता प्रस्थापित करती है, और सांख्योंकी ज्ञान-साधनाको—मात्र उनकी बाह्य विधिका परित्याग करके—योगकी साधनाके साथ एक करती है।

परंतु फिर भी इस विचार-प्रणालीमें एक मूलगत समस्या रह जाती है जिसका अभीतक कोई समाधान नहीं हुआ है। मनुष्योंके जितने भी कर्म होते हैं वे सभी किसी-न-किसी कामनाके प्रेरित ही हुआ करते हैं और इसलिये यह कहना पड़ता है कि पुरुष यदि कामनासे ही मुक्त हो जाय तो फिर उसके लिये कर्मका प्रेरक कोई कारण नहीं रहता। हो सकता है कि शरीरकी रक्षाके लिये फिर भी हमें कुछ-न-कुछ कर्म करना पड़े, पर यह भी शरीरसंबंधी वासनाकी एक अधीनता ही तो हुई और ऐसी वासनासे भी हमें मुक्त होना होगा यदि हमें सिद्धि प्राप्त करनी है। परंतु यदि हम यह मान लें कि ऐसा नहीं किया जा सकता, तो फिर एक ही रास्ता रह जाता है और वह यह कि हम कर्मका कोई ऐसा नियम मान लें जो हमारे अपने-आपसे बाहरका हो और जो हमारे अंतःकरणकी किसी चीजसे परिचालित न होता हो,

---

इंद्रियोंका नियमन करके कर्मेंद्रियोंद्वारा कर्मयोग करता है, वह श्रेष्ठ है (मनसा नियम्य आरभते कर्मयोगम्)" और यह कहकर फिर तुरत इसी कथनसे, इसीके सारांशस्वरूप इसीको विधि बनाते हुए यह आज्ञा करते हैं कि "तू नियत कर्म कर (नियतं कुरु कर्म त्वम्)"—'नियतं' शब्दमें 'नियम्य'को लिया गया है और 'कुरु कर्म' शब्दमें 'आरभते कर्मयोगम्' को। यहां किसी बाह्य विधिद्वारा निश्चित वैध कर्मकी बात नहीं है, बल्कि गीताकी शिक्षा है मुक्त बुद्धिद्वारा नियत किया हुआ निष्काम कर्म।

अर्थात् जो मुमुक्षु है वह वैदिक नित्यकर्म, आनुष्ठानिक यज्ञ, दैनंदिन कर्म, सामाजिक कर्त्तव्य आदि किया करे और इन सबको वह केवल इसलिये करे कि यह शास्त्रकी आज्ञा है तथा इनमें वह न तो कोई वैयक्तिक हेतु रखे और न आंतरिक रस ले, वह जो कुछ करे सो सर्वथा उदासीन रहकर करे, प्रकृतिके वश होकर नहीं बल्कि शास्त्रका आदेश समझकर करे। परंतु यदि कर्मतत्त्व इस प्रकार बाहरकी कोई चीज न होकर अंतःकरणकी वस्तु हो, यदि मुक्त और ज्ञानी पुरुषोंके कर्म भी उनके स्वभावसे ही नियत और निश्चित होते हों (स्वभावनियतम्) तब तो यह आंतरिक तत्त्व एकमात्र कामना ही हो सकती है, फिर वह कामना चाहे कैसी ही हो; चाहे वह शरीरकी लालसा हो या हृदयका भावावेग हो या मनका कोई क्षुद्र या महान् ध्येय हो, पर यह कामना होगी प्रकृतिके गुणोंके अधीन ही। यदि यह मान लिया जाय तो गीताके 'नियत कर्म' को वेदविहित नित्यकर्म और उसके 'कर्त्तव्य कर्म'-को सामाजिक आर्यधर्म समझना होगा और उसके 'यज्ञार्थ कर्म' को वैदिक यज्ञ, एवं निःस्वार्थ भावसे तथा बिना किसी वैयक्तिक उद्देश्यके किया हुआ बंधा-बंधाया सामाजिक कर्त्तव्य समझना होगा। लोग गीताके निःस्वार्थ कर्मकी बहुधा इसी तरहकी व्याख्या किया करते हैं। परंतु मुझे ऐसा जान पड़ता है कि गीताकी शिक्षा इस सबके जितनी स्थूल और सहज नहीं है, इतनी देशकालमर्यादित और लौकिक तथा अनुदार नहीं है। गीताकी शिक्षा उदार, स्वतंत्र, सूक्ष्म और गंभीर है; सब काल और सब मनुष्योंके लिये है, किसी खास समय और देश-के लिये नहीं। गीताकी यह विशेषता है कि यह सदा बाहरी आकारों, ब्योरों और सांप्रदायिक धारणाओंके बंधनोंको तोड़कर मूल सिद्धांतोंकी ओर तथा हमारे स्वभाव और हमारी सत्ताके महान् तथ्योंकी ओर ही

अपना रुख रखती है। गीता व्यापक दार्शनिक सत्य और आध्यात्मिक व्यवहारिकताका ग्रंथ है, संकुचित सांप्रदायिक और दार्शनिक सूत्रों और बंधे-बंधाये मतवादोंका ग्रंथ नहीं।

परंतु कठिनाई यह है कि, हमारा स्वभाव, जैसा कि यह है उसके होते हुए और इसके कर्मोंका प्रेरक तत्त्व 'काम' होनेके कारण निष्काम कर्म करना संभव है क्या? कारण जिस कर्मको हम लोग साधारणतया निःस्वार्थ कर्म कहते हैं वह यथार्थमें निष्काम कर्म नहीं है, उदाहरणार्थ पुण्य संचयके लिये, देशसेवाके लिये, मानव-समाजकी सेवाके लिये किये जानेवाले कर्मोंमें अवश्य ही छोटे-मोटे वैयक्तिक स्वार्थ तो नहीं होते, पर इसकी जगह दूसरी-दूसरी बृहत्तर वासनाएं होती हैं, जो बाहरसे देखनेमें ही नैर्व्यक्तिकसी मालूम होती हैं। फिर कर्ममात्र ही, जैसा कि भगवान् आग्रहपूर्वक कहते हैं, प्रकृतिके गुणोंद्वारा हमारे स्वभाव-द्वारा ही हुआ करता है; जब हम शास्त्रके अनुकूल आचरण करते हैं तब भी हम अपने स्वभावके ही अनुकूल कर्म करते होते हैं—शास्त्रोक्त कर्मका तो एक नाम हुआ करता है, उसके पीछे हमारी इच्छाएं, हमारे पूर्वनिश्चित मत, आवेश, अहंकार, हमारे वैयक्तिक, राष्ट्रीय और सांप्रदायिक अभिमान, मत और अनुराग छिपे होते हैं। यदि, मान लीजिये, ऐसा न भी हो और अत्यंत विशुद्ध भावसे ही शास्त्रोक्त कर्म किया जाय तो भी ऐसे कर्मके करनेमें हम अपनी प्रकृतिकी पसंदका ही अनुसरण करते हैं, क्योंकि यदि हमारी प्रकृति ऐसे कर्मके अनुकूल न होती, यदि हमारी बुद्धि और हमारे संकल्पपर गुणोंके किसी दूसरे संघातकी क्रिया हुई होती तो हम शास्त्रोक्त कर्म करनेकी ओर कदापि न झुकते, बल्कि अपनी मौज या अपनी बुद्धिकी धारणाके अनुसार ही अपना जीवन व्यतीत करते होते अथवा सामाजिक जीवनका परित्याग कर एकांतवास करते या

वैरागी या संन्यासी हो जाते। अस्तु, अपने-आपसे बाहरका कोई विधान माननेसे ही हम नैर्व्यक्तिक नहीं हो सकते, कारण इस प्रकार हम अपने-आपसे बाहर हो ही नहीं सकते। यह काम हम केवल हमारे अंदर जो उच्चतम तत्त्व है उसको प्राप्त करके ही कर सकते हैं, अर्थात् हमें हमारे नित्यमुक्त अंतरात्मा और जीवात्माको प्राप्त करना होगा, जो सबके अंदर वही एक ही है और इसलिये इसका अपना कोई निजी स्वार्थ होता ही नहीं, और फिर हमें हमारी सत्तामें जो भगवान् हैं उन्हें प्राप्त करना होगा, क्योंकि भगवान् अपनी विश्वातीत महिमामें नित्य-प्रतिष्ठ होनेके कारण अपने विश्वकर्मों और अपनी व्यक्तिगत क्रियाओंसे बंधे हुए नहीं हैं—जब हम यह कर सकेंगे तभी हम अपने नैर्व्यक्तिक स्वरूपमें प्रतिष्ठ हो सकेंगे। यही गीताकी शिक्षा है और निष्कामता इस नैर्व्यक्तिक अवस्थाको प्राप्त करनेका केवल एक साधन है, स्वयं कोई साध्य नहीं। माना, पर यह हो कैसे? केवल यज्ञार्थ कर्मके द्वारा—इस विषयमें भगवान्‌का जो उत्तर है वह यही है। "यज्ञार्थको छोड़ जो कर्म किये जाते हैं उससे यह मनुष्यलोक कर्ममें बंधा है; तू, हे कुंतिसुत, मुक्तसंग होकर यज्ञके लिये कर्म कर।" यह स्पष्ट है कि केवल यज्ञ-याग और सामाजिक कर्त्तव्य ही नहीं, बल्कि सभी कर्म इस भावसे किये जा सकते हैं। कोई भी कर्म संकुचित या संवर्धित अहंभावसे किया जा सकता है या फिर भगवान्‌के लिये किया जा सकता है। प्रकृतिकी सारी सत्ता और सारा कर्म भगवान्‌के लिये ही है; भगवान्‌से ही उसका उद्गम होता है, भगवान्‌से ही उसकी स्थिति है और भगवान्‌की ओर ही उसकी गति। पर जबतक हम अहंभावके ही अधीन हैं तबतक हम इस सत्यको नहीं जान सकते न सत्यके इस भावके साथ कर्म कर सकते हैं, तबतक हमारा सारा कर्म अहंभावसे,

अहंकारकी तुष्टिके लिये अर्थात् यज्ञके विपरीत भावसे (यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र) ही हुआ करता है। यह अहंकार ही बंधनकी गांठ है। अहंकारको छोड़कर, भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करनेसे यह गांठ ढीली पड़ जाती है और अंतमें हम मुक्त हो जाते हैं।

जो हो, आरंभमें गीताने यज्ञके वेदोक्त भावको ही ग्रहण किया है और उस समयकी वैदिक प्रचलित परिपाटीके अनुसार ही यज्ञके विधानका वर्णन किया है। ऐसा करनेका एक विशिष्ट हेतु है। हम लोग यह देख चुके हैं कि संन्यास और कर्ममें जो झगड़ा है उसके दो रूप हैं; एक सांख्य और योगका विरोध जिसका सिद्धांततः समन्वय इससे पहले किया जा चुका है और दूसरा वेदवाद और वेदांतवादका विरोध जिसका समन्वय भगवान् गुरु अब करेंगे। इस विरोधविषयक पहले वर्णनमें श्रीकृष्णने कर्मको सर्वसाधारण और व्यापक अर्थमें ग्रहण किया है। सांख्यका निरूपण आरंभ होता है इसी सिद्धांतको मानकर कि अक्षर और अकर्त्ता पुरुषकी जो स्थिति है वही परा स्थिति है और प्रत्येक जीव यही अक्षर अकर्त्ता पुरुष है तथा पुरुषका नैष्कर्म्य और प्रकृतिकी कर्मण्यता ये दोनों परस्पर-विरोधी तत्त्व हैं। अतएव सांख्य-सिद्धांतका कर्मकी समाप्तिमें पर्यवसान होना न्यायसंगत ही है। दूसरी ओर, योगमार्गका निरूपण आरंभ होता है भगवान्‌की धारणाके साथ, उन भगवान्‌की जो ईश्वर हैं, प्रकृतिके कर्मोंके स्वामी हैं, इसलिये उनके परे हैं, अतएव योगमार्गका पर्यवसान कर्मकी समाप्तिमें नहीं होना बिलकुल युक्तिसंगत है, योगमार्गका पर्यवसान है समस्त कर्म करते हुए भी जीवकी श्रेष्ठता और मुक्तावस्थामें। अब वेदवाद और वेदांतवादके बीच जो विरोध है उसमें कर्म वैदिक कर्मोंमें ही परिसीमित हैं और कहीं-कहींपर तो कर्मका अभिप्राय वैदिक यज्ञ और श्रौतकर्मोंसे ही है, बाकी सब कर्मोंको

मुक्तिमार्गके लिये अनुपयुक्त कहकर छोड़ दिया गया है। मीमांसकोंके वेदवादने इन कर्मोंको मुक्तिके साधन मानकर इनको करनेपर जोर दिया और वेदांतवाद उपनिषदोंपर अपना आधार रखकर इनको केवल प्राथमिक अवस्थाके लिये ही स्वीकार किया और वह भी यह कहकर कि कर्म अज्ञानकी अवस्थाके हैं और अंतमें इनका अतिक्रमण और परित्याग ही करना होगा, क्योंकि मुमुक्षुके लिये कर्म बाधक हैं। वेदवाद यज्ञके साथ देवताओंकी पूजा करता और इन देवताओंको वे शक्तियां मानता है जो हमारी मुक्तिकी सहायक हैं। वेदांतवादके मतसे ये देवता सब मानसिक और जड़प्राकृतिक जगत्की शक्तियां हैं और हमारी मुक्तिके बाधक हैं (उपनिषद् कहते हैं कि मनुष्य देवताओंके ढोर हैं और देवता यह नहीं चाहते कि मनुष्य ज्ञानवान् और मुक्त हों); इसने भगवान्को अक्षर ब्रह्म-रूपमें देखा है और इसके अनुसार हम ब्रह्मको यज्ञकर्मों और उपासनकर्मोंके द्वारा नहीं, बल्कि ज्ञानद्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। वेदांत-वादके मतसे कर्म केवल भौतिक फलोंको देनेवाले हैं, और उनसे प्राप्त होनेवाला स्वर्ग भी कनिष्ठ कोटिका ही है; इसलिये कर्मोंका त्याग करना ही होगा।

गीता इस विरोधका समाधान इस सिद्धांतके प्रतिपादनसे करती है कि ये देवता एक ही देवके, ईश्वरके, सब योगों उपासनाओं यज्ञों और तपोंके परमेश्वरके ही केवल अनेक रूप हैं, और जितनी यह बात सच है कि देवताओंको दिया हुआ हव्य भौतिक फल और स्वर्गको देने-वाला है उतनी ही यह बात भी सच है कि ईश्वरप्रीत्यर्थ किया हुआ यज्ञ इनके परे ले जानेवाला और महान् मोक्षका देनेवाला होता है। कारण परमेश्वर और अक्षर ब्रह्म कोई दो अलग-अलग सत्ताएं नहीं हैं, बल्कि दोनों एक ही हैं और इसलिये जो कोई इनमेंसे किसीको भी पानेकी

चेष्टा करता है वह उसी एक ही भागवत सत्ताको पानेकी चेष्टा करता है। समस्त कर्म ज्ञानमें परिसमाप्त होते हैं (सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते)। कर्म अंतराय नहीं हैं, बल्कि परम ज्ञानके साधन हैं। इस प्रकार इस विरोधका भी यज्ञ शब्दके अर्थको व्यापक दृष्टिसे सुस्पष्ट करके समाधान किया गया है। यथार्थमें यह विरोध योग और सांख्यका जो बड़ा विरोध है उसीका एक संक्षिप्त रूप है। वेदवाद योगका ही एक विशिष्ट और मर्यादित रूप है; और वेदांतियोंका सिद्धांत हूबहू सांख्योंके सिद्धांत जैसा ही है, क्योंकि दोनोंके लिये ही मोक्ष प्राप्त करनेकी साधना है बुद्धिका प्रकृतिकी भेदात्मक शक्तियोंसे, अहंकार मन और इंद्रियोंसे तथा आंतरिक और बाह्य विषयोंसे निवृत्त होकर निर्विशेष और अक्षर पुरुषमें वापस लौट आना। विभिन्न मतोंका समन्वय साधन करनेकी इस बातको ध्यानमें रखकर ही भगवान् गुरुने यज्ञविषयक अपने सिद्धांतके कथनका उपक्रम किया है; परंतु इस संपूर्ण कथनमें आरंभसे अंततक, उपक्रमके 'अथ' तकमें उनका ध्यान यज्ञ और कर्मके मर्यादित वैदिक अर्थपर नहीं, बल्कि उनकी उदार और व्यापक व्यवहार्यतापर रहा है—गीताकी दृष्टि सदा इन मतोंकी मर्यादित और बाह्य धारणाओंको विस्तृत करने और इन्होंने जिन महान् सर्वसाधारण सत्योंको सीमित रूप दे रखा है उन्हें उनके सत्य स्वरूपमें प्रकट करनेपर रही है।

---

# यज्ञ-रहस्य

यज्ञसंबंधी गीताकी परिकल्पनाका वर्णन दो स्थलोंमें हुआ है; एक तीसरे अध्यायमें और दूसरा चौथे अध्यायमें। पहला वर्णन इस तरहका है कि यदि हम उसीको देखें तो ऐसा मालूम होगा कि गीता केवल आनुष्ठानिक यज्ञकी ही बात कह रही है; दूसरा वर्णन उसीको एक बहुत व्यापक दार्शनिक अर्थका प्रतीक बनाता है और इस प्रकार उसका अभिप्राय ही एकदम बदलकर उसे आंतरिक और आध्यात्मिक सत्यके एक ऊंचे क्षेत्रमें ला बैठाता है। "पूर्वमें यज्ञके साथ प्रजाओंकी सृष्टि करके प्रजापतिने कहा, इससे तुम लोग फलो-फूलो, यह तुम्हारी सब इच्छाओंको पूर्ण करनेवाला हो। इससे तुम लोग देवताओंका पोषण करो और देवता तुम्हारा पालन-पोषण करें; परस्पर पालन-पोषण करते हुए तुम लोग परम श्रेयको प्राप्त होओगे। यज्ञसे पुष्ट होकर देवता तुम्हें इष्ट भोग प्रदान करेंगे; जो कोई उनके दिये हुए भोगोंको भोगता है और उन्हें नहीं देता, वह चोर है। जो यज्ञसे बचे हुए अन्नका भक्षण करते हैं वे सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं; परंतु वे पापी हैं और वे पाप ही भक्षण करते हैं जो अपने ही लिये रसोई बनाते हैं। अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न वर्षासे होता है, वर्षा यज्ञ से होती है, यज्ञ कर्मसे उत्पन्न होता

है: कर्मको यह समझो कि ब्रह्मसे उत्पन्न होता है और ब्रह्मकी उत्पत्ति अक्षरसे है; इसलिये सर्वगत जो ब्रह्म है वह यज्ञमें प्रतिष्ठित है। इह-लोकमें जो कोई इस प्रकार चलाये हुए चक्रके पीछे नहीं चलता उसका जीवन पापमय है, वह इंद्रियोंमें रमता है; व्यर्थ ही, हे पार्थ, वह जीता है।" इस प्रकार यज्ञकी आवश्यकता बतलाकर—अवश्य ही हमें आगे चलकर यह देखना है कि यहां यज्ञका जो वर्णन है जो प्रथम दृष्टिमें कर्म-कांड संबंधी परंपरागत मान्यता और आनुष्ठानिक हवन करनेकी आव-श्यकताका ही निर्देश करता हुआ प्रतीत होता है उसे हम लोग और किस व्यापक अर्थमें ग्रहण कर सकते हैं—श्रीकृष्ण आगे यह बतलाते हैं कि इन कर्मोंकी अपेक्षा उस पुरुषकी स्थिति श्रेष्ठ है जो आत्मामें स्थित है। "जिस पुरुषकी रति अपने आत्माके अंदर ही है, जो आत्मासे ही तृप्त है, आत्मामें ही संतुष्ट है, उसके लिये ऐसा कोई कर्म नहीं है जिसका करना आवश्यक हो। उसे कृत कर्मसे न तो कुछ पाना है न अकृत कर्मसे कुछ लेना है, न किसी इच्छित वस्तुकी प्राप्तिके लिये समस्त भूतोंमें किसीपर भी निर्भर करना है।"

ये दो विभिन्न आदर्श हैं, दोनों मानो अपने मूलगत परस्पर-पार्थक्य और विरोधको लिये हुए खड़े हैं। एक है वैदिक आदर्श और दूसरा है वैदांतिक आदर्श; एक है यज्ञके द्वारा और मनुष्यों तथा देवताओंके परस्पर अवलंबनके द्वारा इहलोकमें ऐहिक भोग और परलोकमें परम श्रेयकी प्राप्तिका सक्रिय आदर्श, और उसीके सामने दूसरा है उस मुक्त पुरुषका कठोर आदर्श जो आत्माके स्वातंत्र्यमें स्थित है और इसलिये जिसे भोगसे या कर्मसे अथवा मानव-जगत्‌से या दिव्य-जगत्‌से कुछ भी मतलब नहीं है, जो परम आत्माकी शांतिमें निवास करता, ब्रह्मके प्रशांत आनंदमें रमण करता है। इसके आगेके श्लोक इन दो चरम पंथोंके बीच समन्वय

साधन करनेके लिये जमीन तैयार करते हैं ; इस समन्वयका रहस्य यह है कि उच्चतर सत्यकी ओर झुकनेके साथ ही जिस वृत्तिका ग्रहण इष्ट है वह अकर्म नहीं, बल्कि निष्काम कर्म है जो उस सत्यकी उपलब्धिके पहले और पीछे भी वांछनीय है। मुक्त पुरुषको कर्मसे कुछ लेना नहीं है, पर अकर्मसे भी उसे कोई लाभ उठाना नहीं है; उसे कर्म और अकर्ममेंसे किसी एकको अपने ही लाभ या हानिकी दृष्टिसे पसंद नहीं करना है। "इसलिये अनासक्त होकर सतत कर्तव्य कर्म करो (संसारके लिये, लोक-संग्रहके लिये जैसा कि आगे उसी सिलसलेमें स्पष्ट किया गया है); क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करनेसे पुरुष परमको प्राप्त होता है। कर्मके द्वारा ही जनक और दूसरे-दूसरे लोगोंने सिद्धिलाभ की।" यह सच है कि कर्म और यज्ञ परम श्रेयके साधक हैं, "श्रेयः परमवाप्स्यथ"; परंतु कर्म तीन प्रकारके होते हैं; एक वह जो यज्ञके बिना वैयक्तिक सुखभोगके लिये किया जाता है, ऐसा कर्म सर्वथा स्वार्थ और अहंकारसे भरा हुआ होता है और जीवनके वास्तविक धर्म, ध्येय और उपयोगसे वंचित रहता है, "मोघं पार्थ स जीवति"; दूसरा वह कर्म है जो होता तो है कामनासे ही पर यज्ञके साथ, और इसका भोग केवल यज्ञके फलस्वरूप ही होता है, और इसलिये उस हदतक यह कर्म निर्मल और पवित्र होता है; तीसरा वह कर्म है जिसमें कोई कामना या आसक्ति नहीं होती। इसी अंतिम कर्मसे जीव परमको प्राप्त होता है, "परमाप्नोति पूरुषः।"

यज्ञ, कर्म और ब्रह्म, इन शब्दोंसे जो अर्थ हम ग्रहण करें उसीपर इस शिक्षाका संपूर्ण अर्थ और अभिप्राय निर्भर करता है। यदि यज्ञका अर्थ केवल वैदिक यज्ञ ही हो, यदि जिस कर्मसे इसका जन्म होता है वह वैदिक कर्मविधि ही हो और यदि वह ब्रह्म जिससे समस्त कर्मोंका उद्भव होता है वह वेदोंकी शब्दराशिरूप 'शब्दब्रह्म' ही हो तो वेद-

वादियोंका जो कुछ मत है वह सभी स्वीकृत हो जाता है और फिर कहने-सुननेको कुछ नहीं रह जाता। आनुष्ठानिक यज्ञ संतति, संपत्ति और भोगकी प्राप्तिका सम्यक् साधन है; इस यज्ञका विधिपूर्वक संपादन करनेसे आदित्यलोकसे वृष्टि होती है और सुख-समृद्धि तथा वंशविस्तार-का होना निश्चित हो जाता है ; मानव-जीवन देवताओं और मनुष्योंके बीच आदान-प्रदानका चिरंतन व्यापार है जिसमें मनुष्य देवताओंके दिये हुए भोग्य विषयोंमेंसे यज्ञाहुतिके द्वारा देवताओंको अंश प्रदान करते हैं और इसके बदलेमें देवता उन्हें संपन्न, सुरक्षित और संवर्द्धित करते हैं। इसलिये समस्त मानव-कर्मोंको आनुष्ठानिक यज्ञों और विधिवत् पूजनोंके साथ करना होगा और उन्हें धर्म-संस्कार मानना होगा; जो कर्म इस प्रकार देवताओंको अर्पित नहीं किया जाता वह अभिशप्त होता है; पहले आनुष्ठानिक यज्ञ किये बिना और देवताओंको चढ़ाये बिना जो भोग भोगा जाता है वह पाप होता है। मोक्ष भी, परम श्रेय भी आनुष्ठानिक यज्ञसे प्राप्त होता है। इसको कभी भी नहीं छोड़ना होगा। मुमुक्षुको भी आनुष्ठानिक यज्ञ करते रहना चाहिये, यद्यपि वह हो आसक्तिरहित; आनुष्ठानिक यज्ञों और शास्त्रोक्त कर्मोंको निःसंग होकर करनेसे ही जनकादिकोंको आत्मसिद्धि और मुक्ति प्राप्त हुई।

पर यह स्पष्ट है कि गीताका यह अभिप्राय नहीं हो सकता; क्योंकि ग्रंथके और सब स्थलोंमें जो कुछ कहा गया है वह इसके विरुद्ध है। यज्ञ शब्दकी जो उद्बोधक व्याख्या चौथे अध्यायमें की गयी है उसको यहां न ले आवें तो भी जो कुछ यहां कहा गया है उसीमें यज्ञ शब्दकी व्यापकताका हमें एक संकेत मिलता है। यहां यह कहा गया है कि यज्ञ कर्मसे उत्पन्न होता है, कर्म ब्रह्मसे, ब्रह्म अक्षरसे; इसलिये सर्वगत ब्रह्म यज्ञमें प्रतिष्ठित है। यहांपर "इसलिये" शब्दका पूर्वापर संबंध और

"ब्रह्म" शब्दकी पुनरुक्ति विशेष अर्थ रखते हैं ; कारण इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस ब्रह्मसे सब कर्म उत्पन्न होते हैं उस ब्रह्मको हमें प्रचलित वेदवादियोंका शब्दब्रह्म उतना नहीं समझना होगा जितना कि वेदका रूपकात्मक अर्थ करके सर्जनकारी शब्दको सर्वगत ब्रह्मके साथ, शाश्वत पुरुषके साथ, सब भूतोंमें जो एक आत्मा है उसके साथ तथा समस्त भूतोंकी क्रियाओंके अंदर प्रतिष्ठित जो ब्रह्म है उसके साथ, एक समझना होगा। वेद है भगवद्विषयक ज्ञान—आगे चलकर एक अध्यायमें श्रीकृष्ण कहेंगे कि मैं वह हूं जो सब वेदोंका वेद्य अर्थात् ज्ञातव्य तत्त्व है, "वेदेषु वेद्यः"; पर उनके विषयका यह ज्ञान प्रकृतिके द्वारा होनेवाले त्रिगुणात्मक कर्मोंके अंदर उनकी जो सत्ता है उसीका ज्ञान है, "त्रैगुण्यविषयावेदाः"। प्रकृतिगत कर्मोंमें स्थित यह ब्रह्म या भगवत्तत्त्व, ऐसा कहा जा सकता है कि, उस अक्षर ब्रह्म या पुरुषसे उत्पन्न हुआ है जो निस्त्रैगुण्य है, प्रकृतिके सब गुणों और गुण-कर्मोंके ऊपर है। ब्रह्म एक है,पर उसकी आत्म-अभिव्यक्तिके दो पहलू हैं; एक है अक्षर पुरुष 'आत्मा' और दूसरा है सब भूतोंमें कर्मोंका स्रष्टा और प्रवर्त्तक 'सर्वभूतानि'; पदार्थमात्रका अचल सर्वस्थित आत्मा और पदार्थमात्रमें होनेवाली चलत् क्रियाका आध्यात्मिक तत्त्व; आत्मस्थित निष्क्रिय पुरुष और प्रकृतिस्थ सक्रिय पुरुष; ये ही ब्रह्मके दो भाव हैं, अक्षर और क्षर। इन दोनों ही भावोंमें पुरुषोत्तम अपने-आपको विश्वमें अभिव्यक्त करते हैं; गुणोंके परे जो अक्षर भाव है वही है उनकी शांतिकी, आत्मवत्ताकी और समताकी स्थिति, उसीको 'समंब्रह्म' कहते हैं; इसीसे प्रकृतिके गुणोंमें और विश्वके सब कर्मोंमें उनका प्राकट्य होता है; प्रकृतिमें स्थित इन पुरुषसे इन सगुण ब्रह्मसे ही मनुष्यमें और सब भूतोंमें कर्मकी* उत्पत्ति होती है; इस कर्मसे

*कर्म, ब्रह्म, अक्षर, इन शब्दोंका यही वास्तविक अर्थ है, यह

ही यज्ञतत्त्व पैदा होता है। देवताओं और मनुष्योंके बीच द्रव्योंका आदान-प्रदान भी इसी तत्त्वपर चलता है, जैसा कि वर्षा और उससे होनेवाले अन्नका इसी क्रियापर निर्भर करना और उनसे फिर प्राणियोंका उत्पन्न होना दृष्टांतस्वरूप बताया गया है। प्रकृतिका सारा कर्म ही अपने वास्तविक रूपमें यज्ञ है और सब कर्म, यज्ञ और तपोंके भोक्ता सर्वभूत-महेश्वर श्रीभगवान् हैं "भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वभूतमहेश्वरम्"। और इन भगवान्‌को जो सर्वगत हैं तथा यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित हैं "सर्वगतं नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितं" जानना ही सच्चा वैदिक ज्ञान है।

परंतु इन्हीं भगवान्‌को हम देवताओंके रूपसे अर्थात् प्रकृतिस्थ परमेश्वरकी शक्तियोंके रूपसे कर्मकी कनिष्ठ कोटिमें तथा इन शक्तियों और मानव-जीवके बीच होनेवाले सनातन परस्पर-व्यवहारमें भी जान

---

बात आठवें अध्यायके उपक्रमसे भी स्पष्ट होती है जहां अक्षर (ब्रह्म), स्वभाव, कर्म, क्षरभाव, पुरुष, अधियज्ञ, इन विश्व-तत्त्वोंका विवरण है। अक्षर अचल अविनाशी आत्मा है; स्वभाव आत्मतत्त्व है, वह अध्यात्म-तत्त्व जो पुरुषकी मूल प्रकृति, स्वयंभू—स्वयं होनेकी प्रकृति है और अक्षर ब्रह्मसे ही इसकी प्रवृत्ति है; कर्मकी प्रवृत्ति उसीसे होती है, यह कर्म सर्जन कर्म अर्थात् विसर्ग है जिससे प्रकृतिके सब भूत और भूतोंके सब आंतर और बाह्य रूप निर्मित होते हैं; कर्मका फल, इस प्रकार यह सारा क्षर भाव है जो स्वभावसे ही निकलकर प्रकृतिके इस नानात्वको प्राप्त हुआ है; पुरुष है जीव—भूत प्रकृतिगत भगवत्तत्त्व, अधिदैवत, जिसकी उपस्थितिसे ही कर्मकी क्रिया अन्तःस्थित भगवान्‌के प्रति यज्ञ-स्वरूप होती है; अधियज्ञ ये ही गूढ़ाशय स्थित भगवान् हैं जो इस यज्ञ-को ग्रहण करते हैं।

सकते हैं। यह व्यवहार परस्पर-आदान-प्रदान, परस्पर-साहाय्य-संवर्द्धन और परस्परके कार्योंका उन्नयन रूप ऐसा व्यवहार है जिसमें मनुष्य उत्तरोत्तर परम श्रेयकी प्राप्तिका अधिकाधिक पात्र होता है। इस व्यवहारके द्वारा वह यह जानने लगता है कि उसका जीवन प्रकृतिस्थ परमेश्वरके कर्मका एक अंशमात्र है, कोई ऐसा जीवन नहीं है जिसको वह अपने लिये ही धारण करे या बितावे। उसे जो भोग प्राप्त होते हैं और उसकी कामनाओंकी जो पूर्ति होती है उन्हें वह यज्ञका फल और भागवत विश्वक्रियारत देवताओंकी दी हुई देन जानता है, और अब वह पापमय अहंकारपूर्ण स्वार्थपरताके मिथ्या और दुष्ट भावसे प्रेरित होकर उन भोगोंका पीछा करना छोड़ देता है और यह नहीं समझता कि ये भोग कोई ऐसा श्रेय है जो उसको अपने निजी बलकी ताकतपर जीवनसे छीन लेना है और इसके लिये उसे जीवनको न तो कोई प्रतिदान देना है न उसका कृतज्ञ होना है। यह भाव उसमें ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वह अपनी इच्छाओंको अपने अधीन करता है, जीवन और कर्मोंका सारतत्त्व यज्ञको ही जानकर उससे संतुष्ट होता और यज्ञावशेषको पाकर ही परितृप्त होता है, बाकी जो कुछ है उसे अपने जीवन और जगत्-जीवनके बीच परस्पर होनेवाले महान् और परम हितकर आदान-प्रदानपर स्वच्छंद रूपसे न्योछावर कर देता है। कर्मके इस विधानके विरुद्ध जो कोई चलता है और अपने ही वैयक्तिक पृथक् स्वार्थकी सिद्धिके नाते ही जो कर्म करता और फलभोग करता है वह व्यर्थ ही जीता है; वह जीवनके वास्तविक अर्थ और उद्देश्य और उपयोग तथा जीवकी ऊर्द्ध्वगतिसे वंचित रहता है; वह उस मार्गपर नहीं है जो परम श्रेयकी ओर ले जाता है। परंतु परम श्रेयकी प्राप्ति होती है तभी जब यज्ञ किया जाता है देवताओंके लिये नहीं, बल्कि उन सर्वगत श्रीपरमेश्वरके लिये

जो यज्ञमें प्रतिष्ठित हैं और देवता जिनके कनिष्ठ रूप और शक्तियां हैं, और जब यजमान अपने काम-भोगपरायण अधमात्माको किनारे कर अपने व्यष्टिगत कर्त्तृत्वभावको सब कर्मोंकी यथार्थ कर्त्री प्रकृतिको तथा अपने भोक्तृत्वभावको प्रकृतिके सब कर्मोंके यथार्थ भोक्ता श्रीपरमेश्वर, परमात्मा, जगदात्माको, अर्पण कर देता है। उसी परम आत्मस्थितिमें अपने किसी व्यष्टिगत भोगमें नहीं, वह अपना ऐकांतिक संतोष, परम तृप्ति और विशुद्ध आनंद लाभ करता है; उसे अब कर्म या अकर्मसे कुछ लेना देना नहीं है, वह किसी भी पदार्थके लिये न देवताओंका आश्रित है न मनुष्योंका, किसीसे वह किसी अर्थकी अभिलाषा नहीं करता; क्योंकि वह स्वात्मानंदसे ही पूर्ण परितृप्त है; परंतु फिर भी वह केवल भगवान्के लिये, आसक्ति या कामनासे रहित होकर यज्ञरूपसे कर्म करता है। इस प्रकार वह समत्वको प्राप्त होता और प्रकृतिके त्रिगुणसे मुक्त "निस्त्रैगुण्य" हो जाता है; उसका आत्मा, जब वह प्रकृतिकी कर्मधारामें कर्म करता होता है तब भी, प्रकृतिकी अस्थिरतामें नहीं, बल्कि अक्षर ब्रह्मकी शांतिमें स्थित होता है। इस प्रकार यज्ञ परमपदकी प्राप्तिमें उसका साधन-मार्ग होता है।

यज्ञसंबंधी इस प्रकरणका यही अभिप्राय है, यह बात इसके आगे जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट हो जाती है, अर्थात् यह जो कहा गया कि कर्मका ध्येय लोकसंग्रह होना चाहिये, कर्म करनेवाली केवल प्रकृति है और भागवत पुरुष उन सब कर्मोंका समान भर्त्ता है तथा सब कर्म करते समय ही इस भागवत पुरुषको अर्पण करने होंगे—अन्तःकरणसे इस प्रकार सब कर्मोंका त्याग और फिर भी कर्मेंद्रियोंद्वारा उनका आचरण, यही यज्ञकी परिसमाप्ति है—तथा यह जो कहा गया कि सम और निष्काम बुद्धिसे इस प्रकार जो कर्ममय यज्ञ किया जाता है

उसका फल कर्मोंके बंधनोंसे मुक्त होना है,ये सभी बातें इसी अभिप्रायको व्यक्त करनेवाली हैं। "जो पुरुष जो कुछ भी मिल जाय उसीसे संतुष्ट और सिद्धि-असिद्धिमें सम रहता है वह कर्म करके भी उसमें नहीं बंधता। जब कोई मुक्त अनासक्त पुरुष, यज्ञार्थ कर्म करता है तो उसके समस्त कर्मोंका लय हो जाता है (समग्रं प्रविलीयते)," अर्थात् वह कर्म उसके मुक्त, शुद्ध, सिद्ध, सम आत्मापर अपना कोई बंधनकारक परिणाम या संस्कार नहीं छोड़ जाता। यज्ञसंबंधी गीताके इन श्लोकोंकी आगे चलकर हमें फिरसे आलोचना करनी होगी। इन श्लोकोंके बाद ही यज्ञके अर्थकी विशद व्याख्या गीताने की है और वहां जिस भाषाका प्रयोग किया गया है उससे इस विषयमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि यज्ञसंबंधी यहां जो वर्णन है वह रूपकात्मक है और इस शिक्षाके द्वारा जिस यज्ञको करनेके लिये कहा गया है वह यज्ञ आंतरिक है। प्राचीन वैदिक पद्धतिमें सदा ही दो तरहका अर्थ रहा है, एक भौतिक और दूसरा मनोवैज्ञानिक, एक बाह्य और दूसरा रूपकात्मक, एक यज्ञका बाह्य अनुष्ठान और दूसरा उसकी सब विधियोंका आंतरिक आशय। परंतु प्राचीन वैदिक योगियोंकी गूढ़ रहस्यमय रूपकात्मक भाषाको, जो सर्वथा यथावत्, अद्भुत, कवित्वमय और मनोवैज्ञानिक थी, इस समय-तक लोग भूल चुके थे और इसलिये अब गीतामें उसीके स्थानमें वेदांत और पश्चात्कालीन योगके भावको लेकर व्यापक, सर्वसामान्य और दार्शनिक भाषाका प्रयोग किया गया है। यज्ञकी अग्निसे यहां किसी स्थूल अग्निका अभिप्राय नहीं है, प्रत्युत् वह ब्रह्माग्नि अथवा ब्रह्म-मुखीन ऊर्द्धगामिनी शक्ति, आभ्यंतर अग्नि, यज्ञपुरोहित स्वरूप अंतः-शक्ति अभिप्रेत है जिसमें हवन किया जाता है; अग्नि है फिर आत्म-संयम या विशुद्ध इंद्रिय-क्रिया अथवा राजयोग और हठयोगमें समान

रूपसे प्रयुक्त प्राणायामसाधनकी प्राणशक्ति, अथवा अग्नि है आत्म-ज्ञानाग्नि, आत्मार्पणरूप यज्ञकी अग्निशिखा। यज्ञका अवशिष्ट जो भक्षण किया जाता है उसको यह बतलाया गया है कि वह हुतशेष अमृत है; यहां भी हम देखते हैं कि वेदोंकी वही रूपकात्मक भाषा कुछ-कुछ है, जिसमें सोमरसको अमृतका भौतिक प्रतीक कहा जाता था—अमृत स्वयं वह दिव्य और अमरत्वप्रद आनंद है जो यज्ञसे प्राप्त होता, देवताओंको चढ़ाया जाता और मनुष्योंद्वारा पान किया जाता है। इस यज्ञमें मनुष्यकी भौतिक या मनोवैज्ञानिक किसी भी शक्ति का कोई भी कर्म हव्य है जो उसके द्वारा शारीरिक क्रिया अथवा मानसिक क्रियाके रूपमें देवताओंके लिये, अथवा देवाधिदेवके लिये, आत्माके लिये अथवा विश्व-संचालक शक्तियोंके लिये, अपनी ही उच्चतर सत्ताके लिये अथवा मानव-जाति और सर्व भूतोंके अंतरात्माके लिये उत्सर्ग किया जाता है।

यज्ञका यह जो विस्तृत विवरण है उसका उपक्रम ही यज्ञकी एक ऐसी विशाल व्यापक व्याख्याके साथ होता है जिसमें यह स्पष्ट रूपसे घोषणा की गयी है कि यज्ञकी क्रिया, यज्ञकी अग्नि, यज्ञकी हवि, यज्ञका होता और यज्ञका भोक्ता, यज्ञका ध्येय और यज्ञका उद्देश्य, सब एक ब्रह्म ही है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

"अर्पण ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है ब्रह्मके द्वारा ब्रह्माग्निमें ही अर्पित है, ब्रह्मकर्ममें समाधिके द्वारा ब्रह्म ही वह है जिसे पाना है।" यही वह ज्ञान है जिससे युक्त होकर मुक्त पुरुषको यज्ञकर्म करना होगा। "सोऽहं" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ब्रह्म एव पुरुषः" इन सब महान् वेदांत-वाक्योंमें प्राचीन कालमें इसी ज्ञानकी घोषणा हुई है। समग्र एकत्वका यह ज्ञान

है; वह एक है जो कर्त्ता कर्म और कर्मोद्दिश्यके रूपसे, ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेयके रूपसे प्रकट है। जिस विश्वशक्तिमें कर्मकी आहुति दी जाती है वह स्वयं भगवान् हैं; आहुति देनेकी उत्सृष्ट शक्ति भगवान् हैं; जिस किसी वस्तुकी आहुति दी जाती है वह भगवान्‌का ही कोई-न-कोई रूप है होता भी मनुष्यके अंदर स्वयं भगवान् ही हैं; क्रिया, कर्म, यज्ञ गतिशील कर्मशील भगवान् ही हैं; यज्ञके द्वारा गंतव्य स्थान भी भगवान् ही हैं। जिस मनुष्यको यह ज्ञान है और जो इसी ज्ञानमें रहता और कर्म करता है उसके लिये बंधन करनेवाला कर्म कोई हो ही नहीं सकता, उसका कोई कर्म वैयक्तिक और अहंकार-प्रयुक्त नहीं होता। केवल दिव्य पुरुष ही है जो अपनी दिव्य प्रकृतिके द्वारा अपनी ही सत्तामें कर्म करता है और यह कर्म यही होता है कि वह अपनी ही स्वात्म-चेतन विश्व-शक्तिकी अग्निमें प्रत्येक पदार्थकी आहुति देता है; और इस भगवत्-परिचालित गति और कर्मका लक्ष्य है जीवका, भगवान्‌के साथ एकीभूत होकर, भगवान्‌की स्थिति और चेतनाके ज्ञानको प्राप्त करना और उनपर स्वत्व रखना। इस तत्त्वको जानना और इसी एकत्व-साधक चेतनामें रहना और कर्म करना ही मुक्त होना है।

परंतु योगियोंमें भी सभी इस ज्ञानको नहीं प्राप्त होते। "कुछ योगी देवयज्ञ (देवताओंके प्रीत्यर्थ किये जानेवाले यज्ञ) करते हैं; कुछ और यज्ञको यज्ञके द्वारा ही ब्रह्माग्निमें हवन करते हैं।" देवयज्ञ करनेवाले भगवान्‌की कल्पना, उनके विविध रूपों और शक्तियोंमें करते हैं और विविध साधनों या धर्मोंके द्वारा, अर्थात् कर्मसंबंधी सुनिश्चित विधि-विधान, आत्मसंयम और उत्सृष्ट कर्मके द्वारा उन्हें ढूंढ़ते हैं; और जो ब्रह्माग्निमें यज्ञके द्वारा ही यज्ञका हवन करनेवाले हैं अर्थात् जो ज्ञानी हैं उनके लिये, यज्ञका सीधा-सादा भाव ही अर्थात् जो कुछ भी कर्म किया

जाय वह सीधे भगवान्‌को ही अर्पण कर देना, अपनी सारी वृत्तियों और इंद्रियव्यापारोंको एकीभूत भागवत चैतन्य और शक्तिमें निक्षिप्त कर देना ही एकमात्र साधन है, एकमात्र धर्म है। यज्ञके साधन विविध हैं; हव्य भी नानाविध हैं। एक आत्म-वशित्व और आत्म-संयमरूप आंतरिक यज्ञ है जिससे उच्चतर आत्मवत्ता और आत्म-ज्ञानकी प्राप्ति होती है। "कुछ अपनी इंद्रियोंको संयमाग्निमें हवन करते हैं, कुछ दूसरे इंद्रियाग्निमें विषयोंका हवन करते हैं; कुछ समस्त इंद्रियकर्मों और प्राणकर्मोंका ज्ञानदीप्त आत्मसंयमयोगरूपी अग्निमें हवन करते हैं।" तात्पर्य, एक साधना यह है कि इंद्रियोंके विषयोंका ग्रहण तो किया जाता है, पर उस इंद्रियव्यापारसे मनको कोई क्षोभ नहीं होने दिया जाता, मनपर उसका कोई असर नहीं पड़ने दिया जाता, इंद्रियां स्वयं ही विशुद्ध यज्ञाग्नि बन जाती हैं। फिर यह भी एक साधना है जिसमें इंद्रियोंको इतना स्तब्ध कर दिया जाता है कि अंतरात्मा अपने विशुद्ध, स्थिर और शांत रूपमें मनःक्रियाके परदेके भीतरसे निकलकर प्रकट हो जाता है। एक साधना यह है जिससे, आत्मस्वरूपका बोध होनेपर, सब इंद्रियकर्म और प्राणकर्म उस एक स्थिर प्रशांत आत्मामें ही ले लिये जाते हैं। सिद्धिका साधक योगी इस प्रकार जो यज्ञ करता है उसमें दी जानेवाली आहुति द्रव्यमय हो सकती है, जैसे भक्त लोग अपने इष्ट देवको पूजा चढ़ाते हैं; अथवा यह यज्ञ तपो-यज्ञ भी हो सकता है अर्थात् आत्म-संयमका वह तप जो किसी महत्तर उद्देश्यकी सिद्धिके लिये किया जाय; अथवा राजयोगियों और हठयोगियोंके प्राणायाम जैसा कोई योग भी हो सकता है; अथवा अन्य किसी भी प्रकारका योग-यज्ञ हो सकता है। इन सबका फल साधकके आधारकी शुद्धि ही है; सब यज्ञ परमकी प्राप्तिके साधन ही हैं।

इन विविध साधनोंमें जो मुख्य बात है जिसके होनेसे ही ये सब साधन बनते हैं वह है निम्न प्रकृतिकी चेष्टाओंको अपने अधीन करना, कामके प्रभुत्वको घटाकर उसके स्थानमें किसी महती शक्तिको प्रतिष्ठित करना, अहमात्मक भोगको त्याग कर उस दिव्य आनंदका आस्वादन करना जो यज्ञसे, आत्मोत्सर्गसे, आत्म-प्रभुत्वसे, अपने निम्न आवेगोंको किसी महत्तर ध्येयपर न्योछावर करनेसे प्राप्त होता है। "जो यज्ञावशिष्ट अमृत भोग करते हैं वे ही सनातन ब्रह्मको लाभ करते हैं (यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्)।" यज्ञ ही विश्वका विधान है, यज्ञके विना कुछ भी हासिल नहीं हो सकता न इस लोकमें प्रभुत्व प्राप्त हो सकता है न परलोकमें स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है न परम पद-की प्राप्ति ही हो सकती है—"जो यज्ञ नहीं करता उसके लिये यह लोक भी नहीं है, परलोककी तो वात ही क्या? (नायं लोकोऽस्ति अयज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम)" इसलिये ये सब यज्ञ और अन्य अनेक प्रकारके यज्ञ 'ब्रह्मके मुखमें विस्तृत हुए हैं'—उस अग्निके मुखमें जो सव हव्योंको ग्रहण करता है। ये सब कर्ममें प्रतिष्ठित उसी एक महान् सत्के साधन और रूप हैं, जिन साधनोंके द्वारा मानव-जीवका कर्म उसी तत्को समर्पित होता है। मानव-जीवका बाह्य जीवन भी उसी तत्का एक अंश है और उसकी अंतरतम सत्ता उसके साथ एक है। ये सव साधन या यज्ञ 'कर्मज' हैं, सव भगवान्की उसी एक विशाल शक्तिसे निकले, उसी एक शक्तिद्वारा निर्दिष्ट हुए हैं जो विश्वकर्मके अंदर अपने-आपको अभिव्यक्त करती है और जो इस विश्वके समस्त कर्मको उसी एक परमात्मा परमेश्वरका क्रमशः वढ़ता जाता हुआ नैवेद्य वनाती है जिसकी चरम अवस्था, मानव-प्राणीके लिये आत्म-ज्ञानकी या भागवत चेतनाकी या ब्राह्मी चेतनाकी प्राप्ति है। "ऐसा जानकर तू मुक्त होगा (एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे)।"

परंतु यज्ञके जो ये विभिन्न रूप हैं इनके क्षेत्र उतरती चढ़ती श्रेणियोंमें बंटे हुए हैं, जिनमें सबसे नीची श्रेणी है द्रव्यमय यज्ञ और सबसे ऊंची श्रेणी है ज्ञानमय यज्ञ। ज्ञान वह चीज है जिसमें यह सारा कर्म परिसमाप्त होता है। ज्ञानसे यहां किसी निम्न कोटिका ज्ञान अभिप्रेत नहीं है बल्कि यहां अभिप्रेत है परम ज्ञान, आत्म-ज्ञान, भगवत्ज्ञान, वह ज्ञान जिसे हम उन्हीं लोगोंसे प्राप्त कर सकते हैं जो सृष्टिके मूल-तत्त्वको जानते हैं। यह वह ज्ञान है जिसके प्राप्त होनेपर मनुष्य मनके अज्ञानमय मोहमें तथा केवल इंद्रिय-ज्ञानकी और वासनाओं और तृष्णाओंकी निम्नतर चेष्टाओंमें अब और नहीं फंसता। यह वह ज्ञान है जिसमें सब कुछ परिसमाप्त होता है। उसके प्राप्त होनेपर "तू सब भूतोंको अशेषतः आत्माके अंदर और तब मेरे अंदर देखेगा।" कारण आत्मा वही एक, अक्षर, सर्वगत, सर्वाधार, स्वतःसिद्ध सद्वस्तु या ब्रह्म है जो हमारी मन-बुद्धिके पीछे छिपा हुआ है और जिसमें हमारी चेतना अहंभावसे मुक्त होनेपर विशालताको प्राप्त होती है और तब हम जीवों-को उसी एक सत्के अंदर भूतरूपमें देख पाते हैं।

परंतु यह आत्मतत्त्व या अक्षरब्रह्म हमारी वास्तविक अंतश्चेतनाके सामने उन परम पुरुषके रूपमें भी प्रकट होता है जो हमारी सत्ताके उद्गम स्थान हैं और क्षर या अक्षर सब जिनका ही प्राकट्य है। वे ही हैं ईश्वर, भगवान्, पुरुषोत्तम। उन्हींको हम हर एक चीज यज्ञरूपसे समर्पित करते हैं, उन्हींके हाथोंमें हम अपने सब कर्म सौंप देते हैं; उन्हीं-की सत्तामें हम जीते और चलते-फिरते हैं; अपने स्वभावमें उनके साथ एक होकर और उन्हींके अंदर जो यह सारी सृष्टि है उसके साथ एक होकर, हम उनके साथ और प्राणीमात्रके साथ एक जीव, सत्ताकी एक शक्ति हो जाते हैं; हम अपनी आत्म-सत्ताको उनकी परम सत्ताके साथ

तादात्म्य और एक कर लेते हैं। कामवर्जित यज्ञार्थ कर्मोंके करनेसे हमें ज्ञान होता है और आत्मा अपने-आपको पा लेता है; आत्मज्ञान और परमात्मज्ञानमें स्थित होकर कर्म करनेसे हम मुक्त हो जाते और भागवत सत्ताकी एकता, शांति और आनंदमें प्रवेश करते हैं।

---

# यज्ञके अधीश्वर

अब आगे बढ़नेके पहले, यहांतक जो कुछ कहा जा चुका है उसके मूल सिद्धांतोंका हम लोग सिंहावलोकन कर लें। गीताका संपूर्ण कर्म-सिद्धांत उसकी यज्ञसंबंधी भावनापर अवलंबित है और ईश्वर, जगत् और कर्मके बीच सनातन योगसूत्ररूप जो सत्य है, वह इसमें समाया हुआ है। मानव-मन साधारणतया जीवनके बहुमुखी सनातन सत्यकी केवल आंशिक धारणाओं और दृष्टिकोणोंको पकड़ पाता है और उन्हींके आधार-पर जीवन, सदाचार और धर्मसंबंधी अपने नाना प्रकारके सिद्धांतोंको गढ़ डालता है, तथा उनके इस या उस प्रकार या रूपपर जोर देने लगता है, किंतु जब कभी वह किसी उदार प्रकाशके युगमें उसके जगत्-ज्ञानके साथ उसके ईश्वर-ज्ञान और आत्म-ज्ञानका पूर्ण समन्वय साधन करनेके लिये वापस आता है तब सदा ही सत्यकी किसी पूर्णताकी ओर उसका पुनर्जागृत होना अनिवार्य है। गीताकी शिक्षा वेदांतके इस मूल सत्यपर आश्रित है कि सारी आत्मसत्ता एक ब्रह्मसत्ता ही है और सारी भूतसत्ता उसी ब्रह्मका चक्र है; एक ऐसी दिव्य संसृति है जिसकी प्रवृत्ति भगवान्से होती और भगवान्में ही जिसकी निवृत्ति होती है। सब प्रकृतिका ही प्राकटय-कर्म है और प्रकृति भगवान्की वह शक्ति है जो अपने कर्मोंके

स्वामी और अपने रूपोंके अंतर्यामी भागवत पुरुषकी चेतना और इच्छाको ही कार्यमें परिणत किया करती है। उसी अंतर्यामीकी प्रसन्नताके लिये ही वह नाम-रूपकी लीलामें और प्राण तथा मनके कर्मोंमें अवतीर्ण होती है और फिर मन-बुद्धि और आत्म-ज्ञानके द्वारा वह उस आत्माको सचेतन रूपसे पुनः प्राप्त कर लेती है जो उसके अंदर निवास करता है। पहले आत्मा, जो कुछ भी वह है तथा नामरूपकात्मक विकाससे उसका जो कुछ भी अभिप्राय है वह सब, प्रकृतिमें समा जाता है; इसके बाद फिर आत्माका विकास होता है, अर्थात् जो कुछ भी वह है, जो कुछ भी उसका अभिप्राय है, जो कुछ भी छिपा हुआ है पर नाम-रूपकात्मक सृष्टि जिसकी सूचना करती है, वह सब प्रकट होता है। प्रकृतिका जो यह चक्र है वह कभी भी संभव नहीं होता यदि पुरुष अपनी तीन शाश्वत अवस्थाओंको एक साथ धारण करके बनाये नहीं रखता; क्योंकि प्रत्येक अवस्था ही इस कर्मकी समग्रताके लिये आवश्यक है। पुरुषका क्षररूपमें अपने-आपको प्रकट करना अपरिहार्य है, और इस क्षर-रूपमें हम देखते हैं कि पुरुष परिच्छिन्न है, अनेक है, 'सर्वभूतानि' है। अब हम उसको अनंत वैचित्र्य और नानाविध संबंधोंसे युक्त जो असंख्य प्राणी हैं उनके परिच्छिन्न व्यक्तित्वके रूपमें देखते हैं, फिर हमें वह इन सब प्राणियोंके पीछे हो रही देवताओंकी क्रियाओंका मूलतत्त्व और उनकी शक्तिके रूपमें दिखायी देता है—अर्थात् भगवान्‌की उन विश्वशक्तियों और गुणोंके रूपमें जिनके द्वारा जगत्-जीवन संचालित होता है और जहां हमें वह एक सत्ता अपने विविध विश्व-रूपोंमें दिखायी देती है, अथवा यह कहिये कि एक ही परम पुरुषकी विभूतिके ये विविध आत्म-आविर्भाव हैं। फिर, इन सब रूपों और सत्ताओंके पीछे और इनके अंदर हमें यह भी प्रतीति होती है कि एक गूढ़, अक्षर, अनंत, देशकालातीत,

नैर्व्यक्तिक, अव्यय सत् विद्यमान है, जो यह सब जो कुछ है उसका एक ही अखंड आत्मभाव है, जिसमें सृष्टिके ये सब बहुभाव यथार्थमें एक हो जाते हैं। अतएव उस एक पुरुष-भावमें लौट आनेपर व्यष्टिगत पुरुष-का सक्रिय सांत व्यक्तित्व यह देख पाता है कि इस अखंड अनंतसे जो कुछ निःसृत होता और इसके द्वारा जो कुछ धारित होता है उसके अक्षर और अलिप्त ऐक्यकी शांति और समस्थितिमें तथा विश्वव्यापकताकी प्रशांत विशालतामें वह मुक्त हो सकता है। अथवा चाहे तो इसमें जा-कर वह व्यष्टिसत्तासे भी छुटकारा पा सकता है। परंतु सबसे परम गुह्य, 'उत्तमं रहस्यं' जो है वह है पुरुषोत्तम-तत्त्व। पुरुषोत्तम परब्रह्म परमेश्वर हैं, जो अनंत और सांत दोनों अवस्थाओंको ही अपने अंदर धारण किए हुए हैं और जिनमें व्यक्ति और निर्व्यक्ति, एक ब्रह्म और अनेक भूत, आत्मसत्ता और भूतभाव, संसार-कर्म और विश्वातीत शांति, प्रवृत्ति और निवृत्ति, ये सब-के-सब मिलकर एकत्वको प्राप्त होते हैं, एक साथ और अलग-अलग भी धारण किये जाते हैं। सभी वस्तुओंका गुह्य सत्य और निरपेक्ष समन्वय परमेश्वरके अंदर ही होता है।

कर्मोंका सारा सत्य सत्ताके सत्यपर ही निर्भर करता है। सारा सक्रिय जीवन अपने अंतरतम सत् स्वरूपमें प्रकृतिका पुरुष-प्रीत्यर्थ कर्म-यज्ञके सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। यह प्रकृतिका अपने अंदर रहनेवाले सांत बहुपुरुषकी कामनाको उस एक परम और अनंत पुरुषके चरणोंमें भेंट चढ़ाना है। जीवन एक यज्ञवेदी है जिसपर प्रकृति अपने सब कर्मों और कर्मफलोंको ले आती और उन्हें भगवान्‌के उस रूपके सामने रखती है जिस रूपतक उसकी चेतना उस समय पहुंच पायी हो और इस यज्ञसे उसी फलकी कामना भी की जाती है जिसे शरीर-मन-प्राणमें रहनेवाला जीव अपना तात्कालिक या परम श्रेय मान बैठा हो।

प्रकृतिस्थ पुरुष अपनी चेतना और आत्मसत्ताके जिस स्तरतक पहुंचा हुआ होता है तदनुसार ही उसके ईश्वरका वह स्वरूप होता है जिसे वह पूजता है, तदनुसार ही उसके आनंदका वह स्वरूप होता है जिसे वह ढूंढ़ता है और तदनुसार ही उसकी वह आशा होती है जिसके लिये वह यज्ञ करता है। प्रकृतिगत क्षर पुरुषकी प्रवृत्तिमें सारा व्यवहार परस्पर आदान-प्रदान है, इसके सिवाय और कुछ हो भी नहीं सकता। कारण सारा जीवन एक है और इसके जो विभाजन हैं वे स्वभावतः ही परस्पर अवलंबनके किसी ऐसे विधानपर ही स्थापित हो सकते हैं जिसमें प्रत्येक विभाजन एक दूसरेके सहारे बढ़ता रहे और सबके सहारे जीता रहे। जो कोई इस यज्ञमें अपना भाग स्वेच्छासे नहीं देता उससे प्रकृति जबरदस्ती वसूल करती है और इस प्रकार अपने जीवनके विधानकी रक्षा करती है। परस्पर आदान-प्रदान ही जीवनका नियम है जिसके बिना एक क्षण भी कोई जी नहीं सकता, और यह तथ्य सृष्टिकर्त्ता परमेश्वरकी इच्छाकी उस संसारपर छाप है जिसे उसने अपनी आत्मसत्तामें प्रकट किया है, यही प्रमाण है इस बातका कि यज्ञके साथ, यज्ञको सदाके लिये उनका साथी बनाकर प्रजापतिने प्रजाओंकी सृष्टि की। यज्ञका यह विश्वव्यापक विधान इस बातका सुस्पष्ट चिह्न है कि यह संसार ईश्वरका है और ईश्वरका ही उसपर दखल है और जीवन उसीका राज्य है और उसीका अर्चना-मंदिर है, किसी स्वतंत्र अहंकारकी आत्म-तुष्टिका साधन-क्षेत्र नहीं। अहंकारकी पुष्टि हम लोगोंका स्थूल और असंस्कृत जीवनारंभमात्र है, जीवनका परम हेतु तो भगवान्की प्राप्ति है, अनंत देवेशकी पूजा और खोज है, इसका साधन निरंतर उदार हो चलनेवाला वह यज्ञ है जिसकी परि-पूर्णता पूर्ण आत्मज्ञानपर प्रतिष्ठित पूर्ण आत्म-दानमें होती है। जीवनमें जो अनुभव प्राप्त होते हैं उनका हेतु अंतमें भगवान्की ओर ले जाना ही है।

परंतु व्यष्टिभूत जीवका जीवनारंभ अज्ञानके साथ ही होता है और वह बहुत कालतक अज्ञानमें ही रहता है। अपने-आपपर ही दृष्टि रहनेके कारण वह भगवान्‌को नहीं बल्कि अहंकारको ही जीवनका मूल कारण और एकमात्र अर्थ समझता है। वह अपने कर्मोंका कर्त्ता अपने-आपको ही जानता है और यह नहीं देख पाता कि जगत्‌के सारे कर्म जिनमें उसके अपने आंतर और बाह्य सब कर्म भी शामिल हैं, एक ही विश्वप्रकृति-द्वारा होनेवाले कर्म हैं, और कुछ भी नहीं। वह अपने-आपको ही सब कर्मोंका भोक्ता समझता और यह कल्पना करता है कि यह सारा प्रपंच मेरे भोगके लिये ही तो है और इसलिये यही चाहता है कि प्रकृति मेरी व्यष्टिगत इच्छाओंको माने और तृप्त करे; उसे यह नहीं सूझता कि उसकी इच्छाओंको तृप्त करनेसे प्रकृतिका कुछ भी वास्ता नहीं है, उसकी अपनी क्या इच्छाएं हैं यह जाननेकी उसे कुछ भी परवा नहीं है, प्रकृति-को जिस इच्छाका पालन करना है वह महती विश्वव्यापिनी इच्छा है और जिस ईश्वरकी तृप्ति साधन करना उसका सारा प्रयास है वह वह ईश्वर है जो उससे, उसके कर्मों और उसकी सृष्टियोंसे अतीत है; उसकी परिसीमित सत्ता, उसकी इच्छा और उसकी इच्छाकी तृप्ति उसकी अपनी नहीं, बल्कि प्रकृतिकी है और प्रकृति इन सब चीजोंको प्रति क्षण उन भगवान्‌को यज्ञ-रूपसे अर्पण किया करती है जिनके प्रकृतिगत हेतुको सिद्ध करनेके लिये वह इन सब चीजोंको अज्ञात, अप्रकट साधनमात्र बनाया करती है। इस अज्ञानके कारण ही, जिसकी मुहरछाप है अहं-कार, जीव यज्ञके विधानकी उपेक्षा करता है और संसारमें सब कुछ अपने लिये ही बटोरना चाहता है और देता है केवल उतना ही जितना प्रकृति अपनी भीतरी और बाहरी जबरदस्तीसे उससे दिलाती है। यथार्थमें वह ले सकता है उतना ही जितना उसके हिस्सेमें बदा है, जितना प्रकृति

उसे लेने देती है, जितना प्रकृतिमें स्थित ईश्वरी शक्तियां उसकी कामना पूरी करनेपर राजी होती हैं। यज्ञमय इस संसारमें अहंकारविमूढ़ जीव ऐसा है जैसे कोई चोर या लुटेरा हो जो इन दैवी शक्तियोंका दिया हुआ सब कुछ लेता तो है, पर बदलेमें कुछ भी देनेकी नीयत नहीं रखता। वह जीवनके वास्तविक अभिप्रायको जाननेसे रह जाता है और चूंकि वह अपने जीवन तथा कर्मोंका उपयोग यज्ञके द्वारा अपनी सत्ताको उदार, विशाल और उन्नत बनानेमें नहीं करता, इसलिये वह व्यर्थ ही जीता है।

जब व्यष्टिभूत जीव अपने सब व्यवहारोंमें दूसरोंमें स्थित आत्माके महत्त्वको उतना ही अनुभव करने और मानने लगता है जितना कि वह अपने अहंकारकी ताकत और आवश्यकताओंको मानता है, जब वह अपने सब कार्योंके पीछे विश्वप्रकृतिको अनुभव करने लगता और विश्वदेवताओंके रूपमें उस अखंड अनंत एककी झलक पाता है तब वह अहंकारकी बद्धताको पार करने और अपने आत्मस्वरूपको पा लेनेके रास्तेपर आ जाता है। इस रास्तेपर आनेपर वह एक ऐसे धर्मको, एक ऐसे विधानको जानने लगता है जो उसकी कामनाओंके विधानसे भिन्न होता है, जिसके अधिकाधिक अधीन और अनुगत उसकी कामनाओंको होना चाहिये। अबतक जहां उसकी सत्तामें केवल अहंकार ही अहंकार दिखायी देता था वहां अब समझ और नैतिकता विकसित हो जाती है। अब वह दूसरोंके आत्माकी मांगोंको अधिक महत्त्व देने लगता है और अपने अहंकारकी मांगोंको महत्त्व देना कम कर देता है; अहकार और परोपकारके बीच जो संघर्ष है उसे वह ग्रहण करता और अपनी परोपकारवृत्तिको बढ़ाकर अपनी चेतना और सत्ताके विस्तारका साधन करता है। प्रकृति और प्रकृतिमें स्थित दैवी शक्तियोंको वह अनुभव करने लगता और यह मानता है कि मुझे इनका यजन-पूजन करना चाहिये, इनकी आज्ञाओंका

पालन करना चाहिये, क्योंकि इन्हींके द्वारा और इन्हींके विधानके द्वारा मनोमय और अन्नमय, दोनों जगत् नियंत्रित होते हैं और वह यह समझने लगता है कि इन्हींकी उपस्थिति और महत्ताको अपने विचार, संकल्प और प्राणमें संवर्द्धित करनेसे मैं अपनी शक्ति, ज्ञान और सत्कर्मको तथा इनसे प्राप्त होनेवाली तुष्टि-पुष्टिको बढ़ा सकता हूं। इस प्रकार वह जीवनविषयक अपने जड़प्राकृतिक और अहमात्मक भावमें धार्मिक और अतिभौतिक भावको जोड़ देता और सांतसे होकर अनंतमें ऊपर उठ जाने के लिये अपने-आपको प्रस्तुत करता है।

परंतु यह केवल एक बीचकी पर बहुत दिनोंतक रहनेवाली अवस्था है। यह अवस्था भी अभी कामनाके विधानके, उसके अहंकारकी आवश्यकता और धारणाकी प्रधानताके तथा उसकी सत्ता और कर्मोंपर उसकी प्रकृतिका जो नियंत्रण है उसके अधीन है, यद्यपि यह कामना संयत और नियंत्रित है, यह अहंकार परिमार्जित अहंकार है और यह प्रकृति सत्त्वगुणके द्वारा अधिकाधिक मात्रामें सूक्ष्मीभूत और प्रकाशमान है। पर यह सब जो कुछ होता है वह अभी भी क्षर, सांत व्यष्टि बुद्धिके क्षेत्रमें, अवश्य ही उसके बहुत अधिक व्यापक क्षेत्रमें, होता है। वास्तविक आत्मज्ञान और फलतः सच्चा कर्ममार्ग इसके परे है; क्योंकि ज्ञानयुक्त होकर किया जानेवाला यज्ञ ही सबसे श्रेष्ठ यज्ञ है और ज्ञानयुक्त ऐसे श्रेष्ठ यज्ञके द्वारा ही सिद्ध कर्म बनता है। यह अवस्था तभी आ सकती है जब मनुष्य यह अनुभव करता है कि मेरे अंदर जो आत्मा है और दूसरोंके अन्दर जो आत्मा है, वह एक ही सत्ता है और यह आत्मा अहंकारसे कोई ऊँची चीज है, यह अनंत है, नैर्व्यक्तिक है, एक विश्वव्यापी सत् है, जिसमें ही सब प्राणी चलते-फिरते और जीते-जागते हैं, जब वह यह अनुभव करता है कि समस्त विश्व-देवता, जिनके लिये वह इन सब यज्ञोंको करता है,

एक ही अनंत परमेश्वरके विभिन्न रूप हैं और जब वह उस एक परमेश्वर-संबंधी अपनी मर्यादित और मर्यादित करनेवाली धारणाओंको परित्याग कर उन्हें वही एक अनिर्वचनीय परमदेव जानता है जो एक साथ सांत भी है और अनंत भी, जो एक पुरुष है और साथ ही अनेक भी, जो प्रकृतिके परे होकर भी प्रकृतिके द्वारा अपने-आपको प्रकट करता है, जो त्रिगुणके बंधनोंके परे होकर भी अपने अनंत गुणोंके द्वारा अपनी सत्ताकी शक्तिको नामरूपान्वित किया करता है। वही पुरुषोत्तम हैं जिन्हें यज्ञ-मात्र समर्पित करना होता है, किसी क्षणिक वैयक्तिक कर्मफलके लिये नहीं, बल्कि इसलिये कि भगवान् हमें मिलें और भगवान्‌के साथ तारमें तार मिलाकर हम रहें और एकता लाभ करें।

दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि उत्तरोत्तर बढ़नेवाली नैर्व्यक्तिताके द्वारा ही मनुष्यको मुक्ति और सिद्धिका मार्ग मिलता है। मनुष्यका यह पुरातन और सतत अनुभव है कि जितना ही अधिक वह नैर्व्यक्तिक और अनंत पुरुषकी ओर अपने-आपको उद्घाटित करता है, उसकी ओर जो विशुद्ध, ऊर्ध्व और सब वस्तुओं और सत्ताओंमें एक और सम है, जो प्रकृतिमें नैर्व्यक्तिक और अनंत है, जो जीवनमें नैर्व्यक्तिक और अनंत है, जो उसकी अंतरंगतामें नैर्व्यक्तिक और अनंत है, उतना ही कम वह अपने अहंकारसे तथा सांतके दायरेसे बंधता है, और उतना ही अधिक वह विशालता, शांति और निर्मल आनंदको अनुभव करता है। जो आमोद, सुख और चैन उसे केवल सांतसे मिल सकता है या उसका अहंकार अपने ही अधिकारसे प्राप्त कर सकता है, वह क्षणिक, क्षुद्र और अरक्षित होता है। अहंभावमें और उसकी संकुचित धारणाओं, शक्तियों और सुखोंमें ही डूबे रहना इस संसारको सदाके लिये 'अनित्यं असुखं' बना देना है; सांत जीवन सदा ही व्यर्थताके भावसे व्यथित रहता है और

इसका मूल कारण यह है कि सांतता जीवनका समग्र या उच्चतम सत्य नहीं है; जीवन तबतक पूर्णतया प्रकृत जीवन ही नहीं होता जबतक वह अनंतकी भावनाकी ओर खुल नहीं जाता। यही कारण है कि गीताने अपनी कर्मयोगकी शिक्षाके आरंभमें ही ब्राह्मी स्थितिपर, नैर्व्यक्तिक जीवनपर इतना जोर दिया है, जो प्राचीन मुनियोंकी साधनाका महान् लक्ष्य था। कारण जिस नैर्व्यक्तिक अनंत एकके अंदर विश्वकी चिरंतन क्षरणशील नानाविध कर्मण्यताओंको स्थायित्व, संरक्षण और शांति प्राप्त होती है वह अचल अविनाशी आत्मा, अक्षर, ब्रह्म ही है, जो उसके ऊपर है। यदि इस बातको हम लोग समझ लें तो हम यह भी समझ लेंगे कि अपनी चेतना और आत्मस्थितिको सीमाबद्ध व्यष्टिगत भावसे निकालकर इस अनंत नैर्व्यक्तिक ब्रह्ममें ऊपर उठा ले जाना सबसे पहली आध्यात्मिक आवश्यकता है। इस एक आत्माके अंदर सब सत्ताओंको अनुभव करना ही वह ज्ञान है जो जीवको अहंभावजनित अज्ञान और उसके कर्मों तथा कर्मफलोंसे ऊपर उठा देता है; इस ज्ञानमें रहना ही शांति लाभ करना और दृढ़ आध्यात्मिक नींवकी प्रतिष्ठा कर डालना है।

इस महान् रूपांतरका जो मार्ग है वह द्विविध है; एक है ज्ञानका मार्ग और दूसरा कर्मका। गीता इन दोनोंका सुदृढ़ समन्वय करती है। ज्ञानका मार्ग है बुद्धिको मन और इंद्रियोंके व्यापारमें रत होनेवाली निम्न वृत्तिसे फेरना और उसे एक आत्मा, पुरुष या ब्रह्मकी ओर ऊर्द्ध्व-मुखी कर देना, उसे सदा एक पुरुषकी एक ही भावनामें ले जाकर रख देना और उसे मनकी अनेक शाखा-प्रशाखाओंवाली धारणाओं और काम-नाओंके नानाविध प्रवाहोंसे बाहर निकाल लाना। केवल इतना ही यदि लिया जाय तो ऐसा दिखायी देगा कि यह मार्ग पूर्ण कर्मसंन्यास, निश्चल निश्चेष्टता और प्रकृतिसे पुरुषके विच्छेदका ही मार्ग है। परंतु यथार्थमें

इस प्रकारका निरपेक्ष कर्मसंन्यास, निश्चेष्टता और प्रकृति-पुरुष-विच्छेद संभव नहीं है। पुरुष और प्रकृति सत्ताके युगल तत्त्व हैं जो एक दूसरेसे अलग नहीं किये जा सकते, और जबतक प्रकृतिमें हमारा निवास है तब-तक प्रकृतिमें हमारा कर्म भी निरंतर होता ही रहेगा, तब अज्ञानी मनुष्य जिस प्रकार कर्म करता है उससे ज्ञानी मनुष्यका कर्म दूसरे ही प्रकारका और दूसरे ही अर्थमें होगा। संन्यास तो करना ही होगा, पर वास्तविक संन्यास कर्मसे भागना नहीं, बल्कि अहंकार और कामका वध है। और इसका मार्ग है कर्म करते हुए कर्मफलके संगका त्याग करना और प्रकृति-को कर्मकी कर्त्री जानना और उसको अपने कर्म करने देना तथा साक्षी और भर्तारूपसे पुरुषके अंदर वास करके प्रकृतिके कर्मोंको देखते रहना, उन्हें संभाले रहना, पर प्रकृतिके कर्मों या उनके फलोंसे आसक्त न होना। इससे अहंकार अर्थात् सीमाबद्ध विक्षुब्ध व्यष्टिभाव शांत होता और एक नैर्व्यक्तिक आत्माके चैतन्यमें निमज्जित हो जाता है और हमारी दृष्टिके आगे प्रकृतिके कर्म इस समय हमें जीते-जागते, चलते-फिरते और काम करते रहते हुए दिखाई देनेवाले इन सब भूत प्राणियोंके द्वारा सर्वथा प्रकृतिकी ही प्रेरणासे उस एक अनंत आत्मसत्ताके अंदर होते रहते हैं; हमारा अपना सांत जीवन भी इन्हीं भूतसत्ताओंमेंसे एक है, ऐसा देख पड़ता और अनुभूत होता है और इसके द्वारा होनेवाले कर्म अपने उस सदात्माके बोध नहीं होते जो सदा निश्चल-नीरव नैर्व्यक्तिक एकत्व है, बल्कि ऐसा दिखायी देता और अनुभूत होता है कि वे प्रकृतिके ही हैं। अहंकार पहले यह दावा किया करता था कि ये हमारे कर्म हैं और इसलिये इन कर्मोंको हम अपने कर्म समझते थे; पर अहंकार तो अब मर गया और इसलिये कर्म भी अब हमारे नहीं रहे बल्कि प्रकृतिके हो गये। अहंकारका वध करके हमने अपनी सत्ता और चेतनामें नैर्व्यक्तित्वको सिद्ध किया; और

कामका संन्यास करके अपनी प्रकृतिके कर्मोंमें नैर्व्यक्तित्वको सिद्ध किया। अब हम मुक्त हैं केवल अकर्ममें ही नहीं, बल्कि कर्ममें भी; हमारी मुक्ति शरीर और मनकी निश्चलता और शून्यतापर निर्भर नहीं करती, न कर्म करते ही हम अपनी मुक्तिसे च्युत होते हैं। स्वाभाविक कर्मके पूर्ण प्रवाहमें भी हमारा नैर्व्यक्तिक आत्मा स्थिर शांत और मुक्त ही रहता है।

इस पूर्ण नैर्व्यक्तिकतासे प्राप्त होनेवाली मुक्ति सच्ची, पूरी और अनिवार्य होती है; परंतु क्या यही सब कुछ है, यही क्या इस विषयकी अंतिम बात है? सारा जीवन, सारा जगत्-कर्म, हम कह चुके हैं कि एक यज्ञ है जो प्रकृति उस पुरुषके प्रीत्यर्थ किया करती है जो प्रकृतिके अंदर सबका एक गूढांतरात्मा है, जिसके अंदर ही प्रकृतिके सब कर्म होते हैं; परंतु यज्ञके इस वास्तविक स्वरूपको हमारा अहंकार, हमारा काम, हमारा सीमित सक्रिय बहुभावापन्न व्यक्तित्व छिपा देता है। अहंकारसे और कामसे और सीमित व्यक्तित्वसे अब हम ऊपर उठ चुके हैं और इस अवस्थाका संशोधन करनेवाली जो नैर्व्यक्तिकता है उससे हमने नैर्व्यक्तिक ब्रह्मको पा लिया है; हमने अपनी सत्ताको उस एक आत्मा और पुरुषमें मिला दिया है जिसमें सब रहते हैं। कर्मोंका यज्ञ जारी है, पर इसके करनेवाले अब हम नहीं, बल्कि प्रकृति है जो हमारी सत्ताके क्षर-भागके द्वारा अर्थात् मन-बुद्धि, इंद्रिय और शरीरके द्वारा, कर्म करती है पर करती है हमारी अनंत सत्ताके अंदर ही। परंतु इस यज्ञको तब किसके अर्पण किया जाता और किस लिये किया जाता है? क्योंकि नैर्व्यक्तिक ब्रह्ममें कोई कर्तृत्व नहीं, कोई कामना-वासना नहीं, कोई प्राप्तव्य नहीं, प्राणियोंके इस जगत्के अंदर किसी चीजपर उसकी निर्भरता नहीं; वह अपने लिये, अपने ही आत्मानंदमें अपनी ही अक्षर अविनाशी अव्यय सत्तामें रहता है। इस नैर्व्यक्तिक आत्मस्थिति और आत्मरतितक पहुंचनेके

लिये साधनके तौरपर निष्काम कर्म करना आवश्यक हो सकता है, पर जब इस क्रियाके द्वारा हम इस अवस्थातक पहुंच गये तब तो कर्मका ध्येय पूरा हो गया; फिर यज्ञकी क्या आवश्यकता ? कर्म तब भी हो सकते हैं, क्योंकि प्रकृति मौजूद है और उसके कर्म हो रहे हैं; परंतु फिर इन कर्मोंसे प्राप्तव्य कुछ नहीं रहता। अर्थात् मुक्तिके बाद हमारे कर्म करते रहनेका एकमात्र कारण केवल अभावात्मक है; हमारी सत्ताके जो सांत भाग हैं, मन, प्राण और शरीर, उनसे प्रकृति इस प्रकार काम लिया करती है और यह प्रकृतिकी केवल जबरदस्ती है। परंतु यदि यही सब कुछ हो तो पहली बात यह है कि कर्मोंकी संख्या बहुत घटाकर उतने ही कम रखे जा सकते हैं जितने कम-से-कम आवश्यक हों, जितने प्रकृति हमारे शरीरसे जबरदस्ती कराके ही छोड़ती है; और दूसरी बात यह है कि कर्मोंको चाहे कम-से-कम न भी किया जाय—क्योंकि कर्मसे कुछ नहीं आता-जाता न अकर्मसे ही कुछ लेना-देना है—तो यह कोई बात नहीं है कि अमुक ही प्रकारका कर्म हो और अमुक प्रकारका न हो। अर्जुनको जहां ज्ञान प्राप्त हुआ कि वह अपने पुराने क्षत्रिय-स्वभावके अनुसार कुरु-क्षेत्रकी लड़ाई लड़ भी सकता है अथवा उसे छोड़कर अपनी नवीन निवृत्ति-मूलक प्रेरणाके अनुसार संन्यासीका जीवन व्यतीत कर सकता है। इन दो चीजोंमेंसे वह कुछ भी करे, उससे कुछ नहीं आता-जाता; बल्कि यह कहा जा सकता है कि युद्धकर्मकी अपेक्षा संन्यासीका जीवन ही अधिक अच्छा है, क्योंकि इससे यह होगा कि उसके पूर्व कर्मोंकी प्रवृत्तिके कारण उसके मनपर प्रकृतिकी जिन प्रेरणाओंका अभीतक दखल जमा हुआ है वे शीघ्र क्षीण हो जायंगी और वह शरीर छूटनेपर निर्विघ्न रूपसे अनंत नैर्व्यक्तिक ब्रह्ममें चला जायगा, उसे इस 'अनित्यं असुखं लोकं' के दुःख-मय प्रमादमय जीवनमें लौट आनेकी कोई आवश्यकता न रहेगी।

यदि यही होता तो गीताका कोई मतलब ही न रह जाता; क्योंकि इस बातसे गीताका प्रथम और प्रधान उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। परंतु गीता इस बातपर जोर देती है कि कर्मका स्वभाव भी एक महत्त्वपूर्ण सवाल है और कर्मको जारी रखनेके संबंधमें एक निश्चयात्मक आदेश है और इस विषयका जो सर्वथा अभावात्मक और यांत्रिक कारण दिखाया जाता है कि यह प्रकृतिकी मात्र उद्देश्यहीन जबरदस्ती है, सो यह बात इतनीसी ही नहीं है। अहंकारके जीते जानेके बाद भी भगवान् तो रह ही जाते हैं जो सब यज्ञोंके भोक्ता हैं (भोक्तारं यज्ञ तपसां) और इसलिये यज्ञका उद्देश्य फिर भी है ही। नैर्व्यक्तिक ब्रह्म ही अंतिम वचन या हमारी सत्ताका सर्वोत्तम रहस्य नहीं है; कारण नैर्व्यक्तिक और व्यक्तिक, सांत और अनंत, ये दो विपरीत पर सहवर्त्ती पहलूमात्र हैं उस एक ही भगवत्सत्ताके जो इन भेदोंसे सीमित नहीं है और जो एक ही साथ यह भी है और वह भी। परमेश्वर एक चिर-अव्यक्त अनंत हैं और वे अपने-आपको सांतमें अभिव्यक्त करनेके लिये सदा स्वतःप्रेरित हैं; वे वह महान् नैर्व्यक्तिक पुरुष हैं सब व्यक्तित्व जिनके आंशिक रूप हैं; वे वह भगवान् हैं जो मानव-प्राणीमें अपने-आपको प्रकट करते हैं, वह प्रभु हैं जो मनुष्यके हृद्देशमें निवास करते हैं। ज्ञान हमें उन्हीं एक नैर्व्यक्तिक ब्रह्ममें ही सब प्राणियोंको देखनेकी शिक्षा देता है, क्योंकि यही उपाय है जिससे हम पृथकीभूत अहंभावसे मुक्त होते हैं और तब मुक्तिदायक नैर्व्यक्तित्वके द्वारा उनको इन प्रभुके अंदर देखते हैं, 'आत्मनि अथो मयि,' 'आत्माके अंदर और तब मेरे अंदर।' हमारा अहंकार, हमारे बंधनकारक व्यष्टि-भाव ही हमारे उन प्रभुको पहचाननेका रास्ता रोके हुए रहते हैं जो सबके अंदर हैं और सब जिनके अंदर हैं; क्योंकि व्यष्टिभावके अधीन होनेसे हम उनके ऐसे ही खंड-खंड स्वरूपोंको देख पाते हैं जो वस्तुओंके सांत

रूपोंके द्वारा हमारे सामने आते हैं। हमें उनके पास पहुंचना होगा अपने इस निम्न व्यष्टिभावके द्वारा नहीं, बल्कि अपनी सत्ताके उच्च अनंत और नैर्व्यक्तिक अंगसे; और यह आत्मा बनकर ही, जो सबके अंदर एक है और जिसकी सत्तामें ही सारा जगत् अवस्थित है, हम उन प्रभुको पा सकते हैं। यह अनंत जो सब सांत रूपोंको शामिल किये हुए है, उन्हें विलग किये हुए नहीं, यह नैर्व्यक्तिक जो समस्त व्यष्टित्वों और व्यक्तित्वों-को अपने अंदर लिये हुए है, उनका त्याग किये हुए नहीं, यह अक्षर जो प्रकृतिकी सारी हलचलका पोषण किये हुए है, उसमें व्याप्त है और उसको धारण किये हुए है, उससे अलग नहीं—यही वह स्वच्छ दर्पण है जिसमें भगवान् अपनी सत्ताको प्रकट करेंगे। इसलिये पहले नैर्व्यक्तिक ब्रह्मकी प्राप्ति करनी होगी; विश्वदेवताओंके द्वारा, सांतके विभिन्न अंगोंके द्वारा ही भगवान्का पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। पर जैसी कि एक धारणा है कि शांत, अचल, नैर्व्यक्तिक ब्रह्म अपने-आपमें बंद है और जिनका वह पोषण करता, जिनको वह धारण करता तथा जिनमें वह व्याप्त रहता है उनसे उसका कोई वास्ता नहीं है, उनसे वह सर्वथा अलग रहता है,—ऐसे इस नैर्व्यक्तिक ब्रह्मकी नीरव अचलता भी भगवान्का सर्वप्रकाशक और पूर्ण संतोषप्रद सत्य नहीं है। उसके लिये हमें इस नैर्व्यक्तिक ब्रह्मकी अचल शांतिको प्राप्त होकर उन पुरुषोत्तमको देखना होगा जो अपनी भागवत महिमाके अंदर अक्षर और क्षर दोनोंको धारण किये हुए हैं। अचलतामें वे स्थित हैं, पर विश्वप्रकृतिकी सारी प्रवृत्ति और कर्ममें वे अपने-आपको अभिव्यक्त करते हैं। मुक्त होनेके बाद भी प्रकृतिमें होने-वाले कर्मोंके द्वारा उनका यजन बराबर होता रहता है।

इसलिये भगवान् पुरुषोत्तमके साथ जीती-जागती और स्वतःपरि-पूरक एकता ही योगका वास्तविक लक्ष्य है, केवल अक्षर ब्रह्ममें आत्म-

निर्वापन करनेवाला लय नहीं। अपने सारे जीवनको उन्हींमें ऊपर उठा ले जाना, उन्हींमें निवास करना, उनके साथ एक हो जाना, उनकी चेतनाके साथ अपनी चेतनाको एक कर देना, अपनी खंड प्रकृतिको उनकी पूर्ण प्रकृतिका प्रतिबिंब बना देना, अपने विचार और इंद्रियोंको संपूर्ण रूपसे भागवत ज्ञानके द्वारा अनुप्राणित करना, अपने संकल्प और कर्मको सर्वथा और निर्दोषतया भागवत संकल्पके द्वारा प्रवृत्त करना, उन्हींके प्रेमानंदमें अपनी कामना-वासनाको खो देना—यही मनुष्यकी पूर्णता है, इसीको गीताने गुह्यतम रहस्य कहा है। मनुष्य-जीवनका यही वास्तविक लक्ष्य है, यही उसके जीवनकी चरितार्थता है और यही हमारे प्रगतिशील कर्म-यज्ञकी सबसे ऊंची सीढ़ी है। कारण वे ही अंततक कर्मोंके प्रभु और यज्ञके अंतरात्मा बने रहते हैं।

---

# दिव्य कर्मका सिद्धांत

सो यही है गीताकी यज्ञविषयक शिक्षाका अभिप्राय। इसका पूर्ण मर्म पुरुषोत्तम-तत्त्वकी भावनापर निर्भर करता है, जिसका विवेचन अभीतक अच्छी तरह नहीं हुआ है—गीताके १८ अध्यायोंके शेष भाग-में ही इस तत्त्वका वर्णन स्पष्ट रूपसे आया है—और इसीलिये हमें गीताकी प्रगतिशील वर्णनशैलीकी मर्यादाका अतिक्रम करके भी इस केंद्रीभूत शिक्षाकी चर्चा पहलेसे ही करनी पड़ी। अभी भगवान् गुरुने पुरुषोत्तमकी परम सत्ताका और ब्राह्मीस्थिति को प्राप्त कर जिस अक्षर पुरुष-के अंदर पूर्ण शांति और समताकी अवस्थामें अपने-आपको स्थिर करना हमारा पहला काम है, हमारी अति आवश्यक आध्यात्मिक मांग है, उस अक्षर पुरुषके साथ उनका क्या संबंध है इसका, एक संकेतमात्र किया है, एक हलकी-सी झलकभर दिखायी है। अभी वे पुरुषोत्तम-भावकी स्पष्ट भाषामें नहीं बोल रहे हैं, बल्कि 'मैं' कृष्ण, नारायण, अवताररूपसे बोल रहे हैं—वह अवतार, वे नरमें नारायण जो इस विश्वमें भी परम प्रभु हैं और जो कुरुक्षेत्रके सारथीके रूपमें अवतरित हुए हैं। "पहले आत्मामें पीछे मुझमें (आत्मनि अथो मयि)," यही सूत्र वे यहां बतलाते हैं जिसका अभिप्राय यह है कि व्यष्टिबद्ध पुरुषभावको स्वतःस्थित नैर्व्यक्तिक ब्रह्म-

भावका ही एक 'भूतभाव' जानकर इस व्यष्टिबंधनसे मुक्त होकर इसके परे पहुंचना, उन गुह्यतम नैर्व्यक्तिक परम पुरुषको प्राप्त होनेका एक साधनमात्र है जो परम पुरुष इस प्रकार निश्चल, स्थिर और प्रकृतिके परे होकर नैर्व्यक्तिक ब्रह्ममें आसीन हैं, पर इसके साथ ही इन असंख्य भूत-भावोंकी प्रकृतिमें भी विद्यमान और क्रियाशील हैं। अपने निम्नतर व्यष्टिबद्ध पुरुषभावको नैर्व्यक्तिक ब्रह्ममें लय करके हम अंतमें उन परम पुरुषके साथ एकत्व लाभ करते हैं जो कोई पृथक् या व्यष्टिभाव न होते हुए भी सब व्यष्टि बने हुए हैं। त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृतिको पार कर और अंतरात्माको त्रिगुणातीत अक्षर पुरुषमें स्थित कर, हम अंतको उन अनंत परमेश्वरकी परा प्रकृतिमें पहुंच सकते हैं जो प्रकृतिद्वारा कर्म करते हुए भी त्रिगुणमें आबद्ध नहीं होते। शांत पुरुषके आंतर नैष्कर्म्यको प्राप्त होकर और प्रकृतिको अपना काम करनेके लिये छोड़ देकर हम कर्मोंके परे उस परम पदको, उस दिव्य प्रभुत्वको प्राप्त कर सकते हैं जिसमें सब कर्म किये जा सकते हैं पर बंधन किसीका भी नहीं होता। इसलिये पुरुषोत्तम, जो यहां अवतीर्ण नारायण, कृष्णरूपमें दिखायी देते हैं, उनकी भावना ही कुंजी है। इस कुंजीके बिना निम्न प्रकृतिसे निवृत्त होकर ब्राह्मीस्थितिमें चले जानेका अर्थ हो जाता है मुक्त पुरुषका निष्क्रिय हो जाना, जगत्‌के कर्मोंसे उसका उदासीन हो जाना; और इस कुंजीके होनेसे यही अलग होना, यही निवृत्ति एक ऐसी प्रगति हो जाती है जिससे जगत्‌के कर्म भगवान्‌के स्वभावके साथ और भगवान्‌की स्वतंत्र सत्तामें आत्माके अंदर ले लिये जाते हैं। शांत ब्रह्मको अपना लक्ष्य बनाओ तो संसार और उसके समस्त कर्मोंका त्याग करना ही होगा; और उन ईश्वर, भगवान्, पुरुषोत्तमको अपना लक्ष्य बनाओ, जो कर्मके परे होनेपर भी कर्मके आंतर आध्यात्मिक कारण और ध्येय तथा मूल

संकल्प हैं, तो संसार उसके सारे कर्मोंके साथ जीत लिया जाता और पुरुष अपने जगतातीत दिव्य स्वरूपमें स्थित होकर उसपर अधिकार रखता है। संसार तब कारागार नहीं रहता, बल्कि वह 'समृद्ध राज्य' बन जाता है जिसे दैत्यराट् अहंकारकी सीमाको पारकर, कामरूपी जेलरके बंधनको काटकर और अपनी वैयक्तिक संपत्ति और भोगके कैदखानेको तोड़कर हमने आध्यात्मिक जीवन बितानेके लिये जीता है। तब सर्व-बंधविनिर्मुक्त विश्वात्मभूत अंतरात्मा ही स्वराट् सम्राट् हो जाता है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि यज्ञकर्म मुक्तिके साधक हैं और पूर्ण संसिद्धिके भी। "उस महान् प्राचीन योगके करनेवाले जनक और अन्य बड़े-बड़े कर्मयोगी बिना किसी अहंता ममताके सम और निष्काम कर्मको यज्ञरूपसे करके संसिद्धिको प्राप्त हुए (कर्मणैव हि संसिद्धिमा-स्थिताः जनकादयः)।" उसी प्रकार और उसी निष्कामताके साथ, मुक्ति और संसिद्धि प्राप्त होनेके पश्चात् भी हम विशाल भागवत भावसे तथा आध्यात्मिक प्रभुत्वसे युक्त अचला परा प्रकृतिसे कर्म कर सकते हैं। "लोकसंग्रहार्थ, अर्थात् जनताको एक साथ रखनेके लिये भी तुझे कर्म करना चाहिये (लोक संग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि)। श्रेष्ट पुरुष जो कुछ करते हैं उसीका इतर लोग अनुसरण करते हैं; उन्हींके निर्माण किये हुए प्रमाणको मानकर ही सर्वसाधारण लोग चलते हैं। हे पार्थ, इस त्रिलोकमें मेरे लिये कुछ भी ऐसा काम नहीं है जिसे करनेकी मुझे कोई जरूरत हो, कोई चीज ऐसी नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो और जिसको प्राप्त करना अभी बाकी हो, फिर भी मैं कर्म करता ही हूं, (वर्त्त एव च कर्मणि)"। 'एव' पद का फलितार्थ यह है कि मैं कर्म करता ही रहता हूं और उन संन्यासियोंकी तरह कर्मको छोड़ नहीं देता जो यह समझते हैं कि कर्मोंका त्याग तो हमें करना ही पड़ेगा। "यदि मैं कर्ममार्गमें अतंद्र होकर

लगा न रहूं तो लोग तो हर तरहसे मेरे ही पीछे चलते हैं, वे मेरे कर्म न करनेपर ध्वंसको प्राप्त हो जायंगे और मैं संकरका कारण और इन प्राणियोंका हंता बनूंगा। जो जानते नहीं, वे कर्ममें आसक्त होकर कर्म करते हैं पर जो जानता है उसे लोकसंग्रहका हेतु रखकर अनासक्त होकर कर्म करना चाहिये। कर्ममें आसक्त रहनेवाले अज्ञानियोंका वह बुद्धिभेद न करे, बल्कि स्वयं ज्ञानयुक्त और योगस्थ होकर कर्म करके उन्हें सब कर्मोंमें लगावे।" इन सात श्लोकोंसे अधिक महत्त्वपूर्ण श्लोक गीतामें कम ही हैं।

परंतु इस बातको हम लोग अच्छी तरहसे समझ लें कि आधुनिक कर्मवाद इन श्लोकोंका जैसा अर्थ लगानेका प्रयास करता है—कारण वह किसी उच्च और दूरस्थ आध्यात्मिक संभावनाकी अपेक्षा जगत्‌की वर्त्तमान अवस्थासे ही मतलब रखता है—और इन श्लोकोंका उपयोग वह जैसा समाजसेवा, देशसेवा, जगत्‌सेवा, मानवसेवा तथा आधुनिक बुद्धिको आकर्षित करनेवाली सैकड़ों प्रकारकी समाजसुधारकी योजनाओं और स्वप्नोंका ही दार्शनिक और धार्मिक समर्थन करनेके काममें करता है, वैसा नहीं करना चाहिये। यहां इन श्लोकोंमें जिस विधानकी घोषणा की गयी है वह किसी व्यापक नैतिक और बौद्धिक परोपकारनिष्ठाका नियम नहीं, बल्कि ईश्वरके साथ और जो ईश्वरमें रहते तथा जिनमें ईश्वर रहता है उन प्राणियोंके इस जगत्‌के साथ आध्यात्मिक एकताका विधान है। यह व्यक्तिको समाज और मानव-जातिके अधीन बना देने या समग्र मानव-जातिकी वेदीपर अहंकारकी बलि चढ़ा देनेकी आज्ञा नहीं, बल्कि ईश्वरमें व्यक्तिको परिपूर्ण करने और अहंकारको सर्वग्राही भागवत सत्ताकी एक-मात्र सच्ची वेदीपर बलि चढ़ानेकी आज्ञा है। गीता भावनाओं और अनुभूतियोंकी एक ऐसी भूमिकापर विचरण करती है जो आधुनिक मनकी भावनाओं और अनुभूतियोंकी भूमिकासे ऊंची है। आधुनिक

मन अभी जिस अवस्थामें है उसमें वह अहंकारके फंदोंको ही काटनेका प्रयास कर रहा है, इसमें संदेह नहीं; परंतु उसकी दृष्टि अभी भी लौकिक है और उसका भाव आध्यात्मिक नहीं बल्कि बौद्धिक और नैतिक है। देशप्रेम, विश्वबंधुत्व, समाजसेवा, समष्टिसेवा, मानवसेवा, मानव-जाति-का आदर्श या धर्म, ये सब सराहनीय साधन हैं व्यष्टिगत, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय अहंकाररूपी हमारी जो पहली अवस्था है उससे निकलकर एक दूसरी ही अवस्थामें हमारे चले जानेके, जिस अवस्थामें पहुंचकर व्यष्टि, जहांतक कि बौद्धिक, नैतिक और भावावेगमय भूमि-काओंपर संभव है, यह अनुभव करता है कि मेरा अस्तित्व दूसरे सब प्राणियोंके अस्तित्वके साथ एक है। यहांपर यह जान लेना चाहिये कि इन भूमिकाओंपर वह इस अनुभवको पूरे तौरपर और ठीक-ठीक तथा अपनी सत्ताके पूर्ण सत्यके अनुसार नहीं प्राप्त कर सकता। परंतु गीताके विचार इस दूसरी अवस्थाके भी परे जाकर हमारी विकसनशील आत्म-चेतनाकी एक तीसरी ही अवस्थाका दिग्दर्शन कराते हैं जिसमें पहुंचनेके लिये यह दूसरी अवस्था केवल एक आंशिक प्रगति मात्र है।

भारतका सामाजिक झुकाव व्यक्तिको समाजके दावोंके अधीन रखनेकी ओर रहा है, किन्तु भारतके धार्मिक चिंतन और आध्यात्मिक अनुसंधानका लक्ष्य सदा ही उदार रूपसे वैयक्तिक रहा है। गीता-जैसा भारतीय दर्शनशास्त्र व्यक्तिके विकासको, उसकी उच्चतम आवश्यकताको अपनी विशालतम आध्यात्मिक स्वतंत्रता, महानता, गौरव और प्रभुत्व-का विकास कर उन्हें उपयोगमें लानेका उसका जो दावा है उसको और आध्यात्मिक अर्थमें जिसको द्रष्टा और स्वराट् कहा जाता है वैसे प्रकाश-मान द्रष्टा और स्वराट् पदमें विकसित होनेके उसके लक्ष्यको—और यहां प्राचीन वैदिक ऋषियोंकी आदर्श मानव-जातिके संबंधमें पहली

महान् सनद थी—सबसे पहला स्थान दिये बिना नहीं रह सकता। व्यक्तिके लिये वैदिक ऋषियोंका यही लक्ष्य था कि वह जो कुछ है उसके आगे बढ़े, अपने वैयक्तिक उद्देश्योंको किसी सुसंगठित मनुष्य-समाजके उद्धेश्यके पीछे खोके नहीं, बल्कि ईश्वरकी चेतनामें अपने-आपको फैलाके, ऊंचा करके और बढ़ाके। गीता यहां जिस नियमका विधान कर रही है वह नियम मानव-श्रेष्ठके लिये, अतिमानवके लिये, दिव्यीकृत मानव-सत्ताके लिये है। गीताका अतिमानव या मानव-श्रेष्ठ एकांगी नहीं है, बेढंगा नहीं है, यह अतिमानवता नीतशेकी अतिमानवता नहीं है, यह अतिमानवता यूनानी आलिम्पस[1], अपोलो[2] या डायोनीसियस[3] जैसी अथवा देवदूत और दैत्यके जैसी अतिमानवता नहीं है। गीताका अतिमानव वह मनुष्य है जिसका सारा व्यक्तित्व एकमेवाद्वितीय परात्पर विश्वव्यापी भगवान्‌की सत्ता, प्रकृति और चेतनापर उत्सर्ग हो गया है और जिसने अपने क्षुद्र भावको खोकर अपने महत्तर आत्माको अपने दिव्य स्वरूपको पा लिया है।

निम्नतर अपूर्ण प्रकृतिसे, त्रैगुण्यमयी मायासे अपने-आपको ऊपर उठा ले जाना और भागवत सत्ता, चेतना और प्रकृतिके साथ* एक हो

---

१. एक यूनानी पर्वत जो हिमालयकी तरह देवताओंकी वासभूमि माना जाता है।

२. प्राचीन यूनानी पुराणोंमें वर्णित एक देवता जो काव्य, संगीत, आयुर्वेद, धनुर्वेद और शकुन-शास्त्रका अधिष्ठाता माना गया है।

३. यूनानी सुरा-देवता, कोई-कोई इस देवताको नहुप और परशुरामके समान मानते हैं।

* सायुज्य, सालोक्य और सादृश्य या साधर्म्य। भगवान्‌के स्वरूप और कर्मके साथ एक होना साधर्म्य है।

जाना (मद्भावमागताः),—यही योगका लक्ष्य है। परंतु जब यह लक्ष्य प्राप्त हो जाता है, जब मनुष्य ब्राह्मीस्थितिमें पहुंच जाता और अपने-आपको तथा जगत्‌को मिथ्या अहंकारकी दृष्टिसे नहीं देखता, बल्कि प्राणिमात्रको आत्मामें, ईश्वरमें देखता है और आत्माको, ईश्वरको प्राणिमात्रमें देखता है तब उसका वह कर्म क्या होगा—क्योंकि कर्म तो फिर भी रहेगा ही—जो उसके ब्राह्मीस्थितिके ज्ञानसे उद्‌भूत होता है, और फिर उसके सब कर्मोंमें विश्वगत या व्यक्तिगत हेतु क्या होगा? यही अर्जुनका प्रश्न* है, किंतु अर्जुनने जिस दृष्टिबिंदुसे प्रश्न किया था उससे एक दूसरी ही दृष्टिबिंदुसे उसको उत्तर दिया गया। अब बौद्धिक, नैतिक, भावावेगमय स्तरकी कोई वैयक्तिक कामना उसके कर्मका हेतु नहीं हो सकती, क्योंकि वह तो छोड़ी जा चुकी,—नैतिक हेतु भी छोड़ा जा चुका, क्योंकि मुक्त पुरुष पाप-पुण्यके भेदसे ऊपर उठ चुका, अब वह उस महिमान्वित पवित्रतामें रहता है जो शुभ और अशुभके परे है। निष्काम कर्मके द्वारा पूर्ण आत्म-विकास करनेके लिये कोई आध्यात्मिक आवाहन भी अब उसके कर्मका हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि इस आवाहनका तो उत्तर दिया जा चुका, उसका आत्म-विकास सिद्ध और पूर्ण हो चुका। तब उसके कर्मका एकमात्र हेतु लोकसंग्रह ही हो सकता है, (चिकीर्षुर्लोक संग्रहम्)। ये सब लोग जो किसी अति दूरस्थ भागवत आदर्शकी ओर जा रहे हैं, उन्हें एक साथ रखना होगा, उन्हें मोहमें गिरनेसे, बुद्धिभेद और बुद्धिभ्रंशमें जा पड़नेसे बचाना होगा; नहीं तो ये लोग उत्सन्न और नष्ट-भ्रष्ट हो जायंगे—दुनिया जो अपने अज्ञानकी अंधेरी रात या अंधेरे अर्धप्रकाशमें आगे बढ़ती चली जा रही है वह इस गर्तमें जा गिरेगी, यदि श्रेष्ठ पुरुषोंके ज्ञानालोक, बल, आचरण, उदाहरण

---

* किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्?

और दृश्य मानदंड तथा अदृश्य प्रभावके द्वारा इसे एक साथ न रखा जायगा, इसे वह रास्ता न दिखाया जायगा जिसपर चलनेसे ही इसका कल्याण है। श्रेष्ठ पुरुष अर्थात् वे व्यक्ति जो जनसमूह की सर्वसाधारण पंक्ति और सर्वसाधारण भूमिकासे आगे बढ़े हुए हैं, वे ही मनुष्यजातिके स्वभावसिद्ध नेता हैं, क्योंकि वे ही जातिको उसके चलनेका रास्ता दिखा सकते हैं और वह पैमाना या आदर्श उसके सामने रख सकते हैं जिसके अनुसार वह अपना जीवन बनावे। परंतु देवमनुष्यकी यह श्रेष्ठता ऐसी-वैसी नहीं है; इसका प्रभाव, इसका उदाहरण इतना सामर्थ्यवान् होता है कि सामान्यतः हम जिसे श्रेष्ठ कहते हैं उसमें वह प्रभाव या बल नहीं हो सकता। तब वह जो उदाहरण लोगोंके सामने रखेगा, वह क्या होगा? किस विधान या प्रमाणको मानकर वह चलेगा?

अपने आशयको और भी अच्छी तरहसे स्पष्ट करनेके लिये भगवान्, गुरु, अवतार अपना ही उदाहरण, अपना ही प्रमाण अर्जुनके सामने रखते हैं। वे कहते हैं, "मैं कर्ममार्गपर चलता हूं, उस मार्गपर जिसका सब मनुष्य अनुसरण करते हैं; तुझे भी कर्ममार्गपर चलना होगा। जिस प्रकार मैं कर्म करता हूं उसी प्रकार तुझे भी कर्म करना होगा। मैं कर्मोंकी आवश्यकतासे परे हूं, क्योंकि मुझे उनसे कुछ पाना नहीं है; मैं भगवान् हूं और जगत्के सारे पदार्थ और प्राणी मेरे ही हैं और मैं खुद जगत्के परे और जगत्के अंदर भी हूं, किसी अर्थकी प्राप्तिके लिये मैं इस त्रिलोकमें किसी भी पदार्थ या प्राणीका आश्रित नहीं हूं; तथापि मैं कर्म करता हूं। कर्म करनेका यही तरीका और यही भाव तुझे भी ग्रहण करना होगा। मैं परमेश्वर ही नियम और मान हूं; मैं ही वह मार्ग बनाता हूं जिसपर लोग चलते हैं; मैं ही मार्ग हूं और मैं ही गंतव्य स्थान हूं। पर यह सब मैं उदार रूपसे, व्यापक रूपसे, केवल अंशतः

ही दृष्ट रूपसे पर उससे कहीं अधिक अदृष्ट रूपसे किया करता हूं; मनुष्य यथार्थ रूपसे मेरे कर्म करनेकी रीतिको नहीं जानते। तुझे जब ज्ञान और दृष्टि होगी, तू जब देवमनुष्य बनेगा तब तू ईश्वरकी ही एक व्यष्टि-शक्ति हो जायगा, मनुष्यके लिये मनुष्य-रूपमें एक दिव्य दृष्टांत बन जायगा, वैसे ही जैसे मैं अवताररूपमें हूं। अधिकांश मनुष्य अज्ञानमें रहते हैं, ईश्वरद्रष्टा ज्ञानमें रहता है; पर उसका यह काम नहीं कि अपनी श्रेष्ठताके वश वह संसारके कर्मोंका त्याग कर दे और इस तरह मनुष्योंके सामने ऐसा खतरनाक उदाहरण रखे जिससे उनका बुद्धिभेद हो; कर्मके सूतको पूरा कात लेनेके पहले ही वह उसे बीच ही में न काट दे, जिन मार्गोंको मैंने बनाया है उनकी चढ़ती-उतरती अवस्थाओं और श्रेणियोंको वह गड़बड़ न करे, उन्हें वह खोटा न बना दे। इस सारे मानव कर्म-क्षेत्रकी व्यवस्था मैंने इसलिये की है कि मनुष्य अपरा प्रकृतिसे परा प्रकृतिमें पहुंच जाय और अपने बाह्य अभागवत रूपसे सचेतन भागवत स्वरूपको प्राप्त हो जाय। ईश्वरवेत्ता मानव-कर्मोंके सारे क्षेत्रमें विचरण करता रहेगा। उसकी सारी व्यष्टिगत और सामाजिक क्रिया, उसकी बुद्धि, हृदय और शरीरके सारे कर्म अभी भी उसीके होंगे, पर अपने पृथक् व्यक्तित्वके लिये किये हुए नहीं बल्कि संसारमें स्थित उन ईश्वरके लिये किये हुए जो सब प्राणियोंमें विराज रहे हैं, और इसलिये कि वे सब प्राणी, जैसे वह स्वयं उन्नत हुआ है वैसे ही, कर्ममार्गपर चलकर उन्नत हों और अपने अंदर रहनेवाले भगवान्‌को खोज लें। बाह्यतः यह हो सकता है कि उसके कर्मोंमें अन्य मनुष्यके कर्मोंसे कोई मूलगत अंतर न हो; जैसा ही युद्धकर्म और शासनकर्म वैसा ही शिक्षादान और ज्ञानचर्चा, तात्पर्य मनुष्यके साथ मनुष्यके जितने विभिन्न प्रकारके आदान-प्रदान हो सकते हैं वे सभी उसके हिस्से पड़ सकते हैं; पर जिस भावसे वह इन

कर्मोंको करेगा वह भाव अवश्य ही भिन्न होगा और उसी भावका य
प्रभाव होगा कि लोग उसकी ऊंची स्थितिकी ओर खिंचे हुए चले आवेंगे
मानवसमूहका जो आरोहण हो रहा है उसमें वह एक बड़े भारी सहारे
का काम करेगा।"

मुक्त मनुष्यके लिये भगवान्ने जो अपना दृष्टांत रखा वह गंभी
अर्थपूर्ण है; क्योंकि इस दृष्टांतसे दिव्य कर्मोंके संबंधमें गीताका जो आधा
है वह संपूर्ण रूपसे प्रकट हो जाता है। मुक्त पुरुष वही है जिसने अपने
आपको भागवत प्रकृतिमें उठा लिया है और उसी भागवत प्रकृतिके अनु
सार ही सब कर्म करता है। पर यह भागवत प्रकृति है क्या? यह केवल
अचल, अकर्त्ता, नैर्व्यक्तिक अक्षर ब्रह्मकी ही प्रकृति नहीं है; क्योंकि केवल
यही भाव तो मुक्त पुरुषको निष्क्रिय निश्चलताकी ओर ले जायगा। य
केवल विविध, व्यष्टिगत, प्रकृतिबद्ध क्षर पुरुषकी प्रकृति भी नहीं है, क्योंकि
ऐसा ही हो तो मुक्त पुरुष फिरसे अपने व्यष्टित्वके तथा अपरा प्रकृति औ
उसके गुणोंके अधीन हो जायगा। यह भागवत प्रकृति उन पुरुषोत्तमकी
प्रकृति है जो अक्षर भाव और क्षर भाव दोनोंको एक साथ धारण करते
और अपनी परम दिव्यताके द्वारा एक भागवत सामंजस्यमें इनका
समन्वय करते हैं। यही भगवत्सत्ताका परम रहस्य है, 'रहस्यं ह्येतदुत्त-
मम्'। प्रकृतिसे बंधे हुए लोग जिस व्यष्टिगत भावसे कर्म किया करते
हैं उस अर्थमें भगवान् कर्मोंके कर्त्ता नहीं हैं; कारण भगवान् अपनी शक्ति,
माया, प्रकृतिके द्वारा कर्म करते हैं, पर फिर भी उससे ऊपर रहते हैं,
उसमें फंसे हुए नहीं, उसके अधीन नहीं, ऐसे नहीं जो उसके बनाये हुए
नियमों, कार्य-प्रणालियों और कर्म-संस्कारोंसे ऊपर न उठ सकें और उन्हीं-
में आसक्त या बंधे रहें तथा हम लोगोंकी तरह मन-प्राण-शरीरकी क्रियाओंसे
अपने-आपको अलग न कर सकें। वे कर्मोंके ऐसे कर्त्ता हैं जिन्हें अकर्त्ता

समझना चाहिये—"कर्त्तारम् अकर्त्तारम्"। भगवान् कहते हैं कि "चातुर्वर्ण्यका कर्त्ता मैं हूं पर मुझे अविनाशी अकर्त्ता जान। कर्म मुझे लिप्त नहीं करते, न कर्मफलोंकी मुझे कोई स्पृहा है।" फिर भी भगवान् कोई निष्क्रिय, उदासीन और निर्बल साक्षीमात्र नहीं हैं; क्योंकि उनकी शक्तिके जो पदक्षेप और कार्यमान हैं उनमें कर्म करनेवाले वे ही हैं; प्रकृतिकी प्रत्येक गतिमें, प्राणिजगत्के प्रत्येक अणु-रेणुमें उन्हींकी सत्ता व्याप्त है, उन्हींकी चेतना भरी हुई है, उन्हींका संकल्प काम कर रहा है, उन्हींका ज्ञान रूपान्वित हो रहा है।

फिर वे ऐसे निर्गुणी हैं जिनमें सब गुण हैं। उपनिषद् उन्हें 'निर्गुणो-गुणी' कहते हैं। वे प्रकृतिके किसी गुणसे या कर्मसे बंधे नहीं हैं, न वे हमारे व्यक्तित्वकी तरह प्रकृतिके गुणधर्मोंके समूहोंसे तथा मानसिक, नैतिक, भावावेगमय, प्राणमय और भौतिक सत्ताकी लाक्षणिक क्रियाओंसे ही बने हुए हैं बल्कि वे तो समस्त धर्मों और गुणोंके मूल हैं और किसी भी गुण या धर्मको अपनी इच्छाके अनुसार जब चाहें, जितना चाहें, जिस प्रकार चाहें विकसित करनेकी क्षमता रखते हैं, वे वह अनंत सत्ता हैं जिसके ये सब भूतभाव हैं, वह अपरिमेय प्राचुर्य और असीम अनिर्वचनीय हैं जिसके ही ये सब परिमाण, संख्या और प्रतीक हैं जिनको वे विश्वके मानदंडके अनुसार छंदोबद्ध और संख्याबद्ध करते हैं। फिर भी वे कोई नैर्व्यक्तिक अनिर्दिष्ट सत्ता ही नहीं हैं, न केवल ऐसी सचेतन सत्ता ही हैं जहांसे समस्त निर्देश और व्यष्टिभाव अपना उपादान प्राप्त करते रहें, बल्कि वे परम सत्ता हैं, अद्वितीय मूल चिन्मय सत् हैं, पूर्ण पुरुष हैं जिनके साथ अत्यंत स्थूल और घनिष्ट सभी प्रकारके मानव-संबंध स्थापित किये जा सकते हैं; क्योंकि वे सुहृद, सखा, प्रेमी, खेलके संगी, पथके दिखानेवाले, गुरु, प्रभु, ज्ञानदाता, आनंददाता हैं और इन सब संबंधोंमें

रहते हुए भी इनसे अलिप्त, मुक्त और निरपेक्ष हैं। देवनर भी, अपनी यथा-प्राप्त सिद्धिके अनुसार व्यक्तिभावमें रहते हुए भी नैर्व्यक्तिक ही, सांसारिक जनोंके साथ सब प्रकारके अत्यंत वैयक्तिक और घनिष्ठ संबंध रखते हुए भी गुण या कर्मसे सर्वथा अलिप्त ही, किसी भी धर्मका बाह्यतः आचरण करते हुए भी किसी भी धर्मसे अनासक्त ही, रहता है। न तो कर्मप्रधान मनुष्यकी कर्मण्यता और न संन्यासी, वैरागी या निवृत्तिमार्गीका कर्म-विहीन आलोक, न तो कर्मी मनुष्यका प्रचंड व्यक्तित्व और न तत्त्वज्ञानी ऋषिका उदासीन नैर्व्यक्तित्व, इनमेंसे कोई भी संपूर्ण भागवत आदर्श नहीं है। ये संसारी जनोंके तथा संन्यासी, वैरागी या निवृत्तिमार्गीके दो परस्पर-विरोधी सर्वथा भिन्न मानदंड हैं। इनमेंसे एक क्षरके कर्ममें डूबे रहते हैं और दूसरे सर्वथा अक्षरकी शांतिमें निवास करनेका प्रयास करते हैं; परंतु समग्र भागवत आदर्श पुरुषोत्तमकी उस प्रकृतिकी चीज है जो इस परस्पर-विरोधके परे है और जिसमें सभी भागवत संभावनाओं-का समन्वय होता है।

कर्मी मनुष्य किसी ऐसे आदर्शसे संतुष्ट नहीं होता जो इस विश्व-प्रकृतिकी, इसकी इस त्रिगुणक्रीड़ाकी, मन-बुद्धि-हृदय-शरीरके इस मानव-कर्मकी परिपूर्णतापर अवलंबित न हो। वह यह कह सकता है कि इस कर्मकी चरम परिपूर्णता ही मेरी समझमें मनुष्यकी परम सिद्धि है, मनुष्य-की भागवत संभावनासे मैं जो कुछ समझता हूं वह यही है; जिस आदर्शसे मानव-प्राणीको संतोष हो सकता है वह कोई ऐसा आदर्श होना चाहिये जो मनुष्यकी बुद्धिको, उसके हृदयको, उसकी नैतिक सत्ताको संतुष्ट कर सके, वह कोई ऐसा आदर्श होना चाहिये जो कर्मरत मानव-प्रकृतिका हो; वह यह कह सकता है कि मेरे सामने तो कोई ऐसी चीज होनी चाहिये जिसे मैं अपने मन, प्राण और शरीरकी क्रियामें पा सकूं। कारण यही

उसकी प्रकृति है, उसका धर्म है और जो चीज उसकी प्रकृतिके बाहरकी हो उसके अंदर वह अपने-आपको कैसे परिपूर्ण कर सकता है? क्योंकि प्रत्येक जीव अपनी प्रकृतिसे बंधा है और उसे अपनी सिद्धिको इस दायरेके अंदर ही ढूंढ़ना होगा। हमारी मानव-प्रकृतिके अनुसार ही हमारी मानव-सिद्धि हो सकती है और इसलिये प्रत्येक मनुष्यको उसके लिये अपने व्यष्टिधर्म अर्थात् स्वधर्मके अनुसार ही यत्न करना चाहिये, और वह भी अपने जीवन और कर्ममें ही, जीवन और कर्मके बाहर नहीं। इस बातका गीता यह उत्तर देती है कि, हां, इसमें भी एक सत्य है; मनुष्यके अंदर ईश्वरकी पूर्ण अभिव्यक्ति, जीवनमें भगवान्‌की लीला अवश्य ही आदर्श सिद्धिका एक अंश है। परंतु यदि तुम उसे केवल बाहर ही ढूंढ़ोगे, जीवनमें और कर्मके सिद्धांतमें ही उसकी खोज करते रहोगे तो तुम उसे कभी नहीं पा सकते; क्योंकि तब तुम केवल इतना ही नहीं करोगे कि अपनी प्रकृतिके अनुसार ही कर्म करो,—जो अपने-आपमें तो सिद्धिका ही एक विधान है—बल्कि सदा उसके गुणोंके अधीन रहोगे (और यह असिद्धिका एक लक्षण है), सदा ही राग-द्वेष और सुख-दुःखके द्वंद्वोंमें धक्के खाते रहोगे, विशेषतः प्रकृतिकी उस राजसी प्रवृत्तिके वश हो जाओगे जो कामका चंचल सर्वग्रासी तत्त्व है और क्रोध, शोक और लालसा जिसके जाल हैं, जो वह दुष्पूर हुताशन है जिससे तुम्हारा सारा सांसारिक कर्म घिरा रहता है, ज्ञानका जो चिरशत्रु है और जिससे ज्ञान तुम्हारे स्वभावके अंदर वैसे ही ढंका रहता है, जैसे आग धुएंसे ढंकी रहती है या दर्पण धूलसे। उस कामको मार ही डालना होगा यदि तुम आत्मस्वरूपके शांत, स्वच्छ और प्रकाशमय सत्यमें रहना चाहते हो। इन्द्रियां, मन और बुद्धि अपूर्णताके इस अनादि कारण कामके अधिष्ठान हैं और यह होते हुए भी तुम इन्हीं इंद्रिय, मन और बुद्धिके

अंदर ही, इस निम्न प्रकृतिकी क्रीड़ाके अंदर ही सिद्धिकी खोज करना चाहते हो। तुम्हारा यह प्रयास व्यर्थ है। तुम्हारी प्रकृतिका जो कर्म पार्श्व है उसे पहले निवृत्तिकी शांतिको भी अपने अंदर ले आना होगा तुम्हें अपने-आपको निम्न प्रकृतिके ऊपर उठाकर उस प्रकृतिमें ले जाना होगा जो त्रिगुणके ऊपर है, जो परमतत्त्वमें आत्मतत्त्वमें प्रतिष्ठित है। जब तुम्हें वह आत्मप्रसाद लाभ होगा तभी तुम मुक्त भागवत कर्म करनेमें समर्थ होगे।

इसके विपरीत शांतिप्रार्थी, वैरागी या संन्यासी जहां कहीं भी जीवन और कर्मका प्रवेश देखते हैं वहां ही उन्हें सिद्धिकी कोई संभावना नहीं दिखायी देती। वे कहते हैं कि जीवन और कर्म ही क्या अपूर्णता और बंधनके घर नहीं हैं? अपूर्णता क्या कर्मके साथ ही लगी हुई नहीं है, वैसे ही जैसे अग्निके साथ धुआं लगा हुआ है? कर्मका स्वयं धर्म ही क्या राजसिक नहीं है? इस रजोगुणसे ही तो काम पैदा होता है और जिसका फल होता है ज्ञानको ढांक देना, कामना तथा सफलता और विफलताके अंदर चक्कर काटते रहना, हर्ष और शोकमें डोलते रहना, पुण्य और पापके द्वंद्वमें फंसे रहना? परमेश्वर संसारमें हो सकते हैं, पर वे संसारके नहीं हैं; वे त्यागके ईश्वर हैं, हमारे कर्मोंके प्रभु या कारण नहीं। हमारे कर्मोंका स्वामी तो काम है और कर्मका कारण है अज्ञान। यदि यह जगत्, यह क्षर सृष्टि किसी प्रकार भगवान्‌की अभिव्यक्ति या लीला कही भी जाय तो यह अज्ञ मूढ़ प्रकृतिके साथ उनकी असिद्ध क्रीड़ा है, उनकी यह अभिव्यक्ति नहीं बल्कि उनका ढंकाव ही है। संसारकी प्रकृतिके प्रथम दर्शनमें ही यह बात स्पष्ट ही देख पड़ती है और फिर जगत्‌का जब पूर्ण अनुभव होता है तब भी क्या इसी सत्यकी शिक्षा नहीं मिलती। क्या यह अज्ञानका वह चक्र नहीं है जो जीवको काम और कर्मकी प्रेरणा-

के द्वारा बार-बार जन्म लेनेके लिये विवश करता है और क्या यह जन्म लेना तभी बंद नहीं होता जब अंतको इस प्रेरणाका या तो क्षय हो जाता या यह त्याग दी जाती है ? केवल काम ही नहीं, किंतु कर्म भी छोड़ देना आवश्यक है, तभी तो निश्चल आत्मामें प्रतिष्ठित होकर जीव गतिहीन, कर्महीन, क्षोभहीन, केवल ब्रह्ममें चला जायगा । संसारी मनुष्यकी, कर्मी मनुष्यकी आपत्तियोंका उत्तर देनेमें गीताने जो परिश्रम किया है उससे कहीं अधिक मेहनत उसने निर्गुणब्रह्मवादी, शांतिप्रार्थी, वैरागी या संन्यासीकी आपत्तियोंका उत्तर देनेमें की है । इसका कारण यह है कि निवृत्तिमार्ग एक उच्चतर और बलवत्तर सत्यका आश्रय लिये हुए है—अवश्य ही यह सत्य भी अभी समग्र या परम सत्य नहीं है—और यदि इस धर्मको मनुष्यजीवनका एक विश्वव्यापी, पूर्ण और उच्चतम आदर्श कहकर इसका प्रचार किया जाय तो इसका परिणाम मानव-जातिके अपने लक्ष्यकी ओर आगे बढ़नेमें मात्र कर्मवादकी भूलकी अपेक्षा कहीं अधिक बुद्धिभेद और अनिष्ट करनेवाला हो सकता है । जब कोई भी बलवान् एकांगी सत्य पूर्ण सत्यके रूपमें सामने रखा जाता है तब उसका प्रकाश बहुत तीव्र होता है, पर साथ ही उससे बहुत तीव्र संकर भी होता है; क्योंकि उसमें जो सत्यांश है उसकी तीव्रता ही उसके प्रमादवाले अंशको बढ़ानेवाली होती है । कर्मवादियोंके आदर्शमें जो भूल है उससे केवल अज्ञानमें पड़े रहनेकी अवधि लंबी हो जाती और मानव-उन्नतिका क्रम रुक जाता है, क्योंकि यह कर्मवाद मनुष्योंको पूर्णता या सिद्धिका अनुसंधान करनेके लिये ऐसे मार्गमें प्रवृत्त करता है जहां सिद्धि या पूर्णता है ही नहीं; परंतु निवृत्तिमार्गके आदर्शमें जो भूल है उसमें तो संसारके नाशका ही बीज है । श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि इस आदर्शको सामने रखकर मैं कर्म करूं तो मैं इन सब प्राणियोंका खातमा कर दूं और संकरका कर्त्ता बनूं; और

यद्यपि किसी व्यष्टि-पुरुषकी भूलसे, चाहे वह देवतुल्य पुरुष ही क्यों न हो, सारी मानवजाति नष्ट नहीं हो सकती तथापि उससे कोई ऐसी विस्तृत विश्रृंखला हो सकती है जो मानव-जीवनके मूल तत्त्वको ही काटने-वाली और उसकी उन्नतिके सुनिश्चित क्रमको बिगाड़नेवाली हो।

इसलिये मनुष्यके अंदर जो निवृत्तिका झुकाव है उसे अपनी अपूर्णताको जान लेना होगा और प्रवृत्तिके झुकावके पीछे जो सत्य है, अर्थात् मनुष्यके अंदर भगवान्‌की पूर्णता और मानव-जातिके कर्मोंमें भगवान्‌की उपस्थिति, उसको भी अपनी बराबरीका स्थान देना होगा। भगवान् केवल नीरवतामें ही नहीं हैं, कर्ममें भी हैं। जिसपर प्रकृतिका कोई असर नहीं पड़ता ऐसे निष्कर्म पुरुषकी निवृत्ति और जो अपने-आपको इसलिये प्रकृतिके हवाले कर देता है कि यह महान् विश्वयज्ञ जिसे पुरुषयज्ञ कहते हैं संपन्न हो ऐसे कर्मी पुरुषकी प्रवृत्ति, ये दोनों बातें—निवृत्ति और प्रवृत्ति—कोई ऐसी चीज नहीं हैं जिनमेंसे एक सच्ची हो और दूसरी झूठी और इन दोनोंका सदासे सदाके लिये संग्राम चला आया हो, अथवा यह भी नहीं है कि ये एक दूसरेकी विरोधी हों, एक श्रेष्ठ हो और दूसरी कनिष्ठ और दोनों एक दूसरेके लिये घातक हों; बल्कि भागवत प्राकट्यका यह द्विविध भाव है। अक्षर अकेला ही इनकी परिपूर्णताकी कुंजी या परम रहस्य नहीं है। इन दोनोंकी परि-पूर्णताको, इनके समन्वयको खोजना होगा पुरुषोत्तम-भावमें, जो यहां श्रीकृष्णरूपसे उपस्थित हैं और जो एक साथ परमपुरुष, जगत्प्रभु और अवतार हैं। देवनर उन्हींकी दिव्य प्रकृतिमें प्रवेश कर वैसे ही कर्म करेगा जैसे वे करते हैं; वह अकर्मकी शरण नहीं लेगा। अज्ञानी और ज्ञानी दोनों ही मनुष्योंमें भगवान् कार्य कर रहे हैं। उन भगवान्‌का ज्ञान हो, यही है जीवका परम कल्याण और उसकी सिद्धिकी शर्त, किंतु उन्हें विश्वातीत

शांति और निश्चल-नीरवताके रूपमें जानना और उपलब्ध करना ही सब कुछ नहीं है; जिस रहस्यको जानना है वह तो अज अव्यय परमात्मा और उनके दिव्य जन्म-कर्म, इन दोनोंको एक साथ जानना है (जन्म कर्म च मे दिव्यम्)। इस ज्ञानसे जो कर्म निःसृत होता है वह सब बंधनोंसे मुक्त होता है, "इस प्रकार जो मुझे जानता है," भगवान् कहते हैं कि, "वह कर्मोंसे नहीं बंधता।" यदि कर्म और वासनाके बंधनसे और पुनर्जन्मके चक्रसे छूटना उद्देश्य और आदर्श हो तो ऐसे ज्ञानको ही सच्चा ज्ञान, मुक्तिका प्रशस्त पथ जानना होगा; कारण गीताका कथन है कि, "जो तत्त्वतः मेरे दिव्य जन्म-कर्मको जानता है, वह इस शरीरको छोड़नेपर, पुनर्जन्मको नहीं बल्कि, हे अर्जुन, मुझे प्राप्त होता है।" दिव्य जन्मको जान और अधिकृत कर वह अज अव्यय भगवान्को, जो सकलांतरात्मा हैं, प्राप्त होता है; और दिव्य कर्मोंके ज्ञान और आचरणसे कर्मोंके अधीश्वरको, जो "भूतानां ईश्वरः" हैं, प्राप्त होता है। तब वह अज अविनाशी सत्तामें ही रहता है; उसके कर्म उस सर्वलोकमहेश्वरके कर्म ही होते हैं।

---

# अवतारकी संभावना और हेतु

जिस योगमें कर्म और ज्ञान एक हो जाते हैं, जिस योगमें कर्म-यज्ञयोग और ज्ञानयोग एक हो जाते हैं, जिस योगमें कर्मकी परिपूर्णता ज्ञानमें होती है और ज्ञान कर्मका पोषण करता, उनका रूप बदल देता और उन्हें आलोकित कर देता है और फिर ज्ञान और कर्म दोनों ही उन परम भगवान् पुरुषोत्तमको समर्पित किये जाते हैं जो हमारे अंदर नारायणरूपसे आविर्भूत होते, जो हमारी सत्ता और कर्मके अधीश्वररूपसे सदा हमारे हृदयोंमें गुप्त भावसे विराजमान हैं, जो मानव-आकारमें भी अवताररूपसे प्रकट होते हैं और जो दिव्य जन्म ग्रहण कर हमारी मानवताको अपने अधिकारमें ले लेते हैं, उस योगका वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण बातों-बातोंमें यह कह गये कि यही वह सनातन आदि योग है जो मैंने सूर्यदेव विवस्वान्‌को प्रदान किया और विवस्वान्‌ने जिसे मनुष्योंके जनक मनुको और मनुने जिसे सूर्यवंशके आदि पुरुष इक्ष्वाकुको दिया और इस प्रकार यह योग एक राजर्षिसे दूसरे राजर्षिको मिला और इसकी परंपरा चली और फिर बहुत काल बीत चुकनेके बाद इस योगको लोग भूल गये। वही योग भगवान् कहते हैं कि आज मैं तुझे दे रहा हूं, क्योंकि तू मेरा प्रेमी और भक्त, सखा और साथी है। भगवान्‌ने इस योगको

परम रहस्य कहकर इसे अन्य सब योगोंसे श्रेष्ठ बताया, क्योंकि अन्य योग या तो निर्गुण ब्रह्मको या सगुण साकार इष्टदेवको ही प्राप्त करानेवाले, या निष्कर्मज्ञानस्वरूप मोक्ष अथवा आनंदनिमग्न मुक्तिके ही दिलानेवाले हैं, किंतु यह योग परम रहस्य और संपूर्ण रहस्यको खोलकर दिखानेवाला, दिव्य शक्ति और दिव्य कर्मको प्राप्त करानेवाला तथा पूर्ण स्वतंत्रतासे युक्त दिव्य ज्ञान, कर्म और परमानंदको देनेवाला है। जैसे भगवान्‌की परम सत्ता अपनी व्यक्त सत्ताकी सब परस्पर विभिन्न और विरोधी शक्तियों और तत्त्वोंका समन्वय कर उन्हें अपने अंदर एक कर लेती है वैसे ही इस योगमें भी सब योगमार्ग मिलकर एक हो जाते हैं। इसलिये गीताका यह योग केवल कर्मयोग नहीं है जैसा कि कुछ लोगोंका आग्रह है, जो इसे तीन मार्गोंमेंसे सबसे कनिष्ठ मार्ग बतलाते हैं, बल्कि यह परम योग है, पूर्ण समन्वयात्मक और अखंड है, जिसमें जीवके सब अंग-प्रत्यंगोंकी सारी शक्तियां भगवन्मुख की जाती हैं।

इस योगको विवस्वान् आदिको दिये जानेकी बातको अर्जुनने अत्यंत स्थूल अर्थमें ग्रहण किया (इस बातको दूसरे अर्थमें भी लिया जा सकता है) और पूछा कि सूर्यदेव जो जीवसृष्टिमें अग्रजन्माओंमेंसे एक हैं, जो सूर्यवंशके आदि पुरुष हैं उन्होंने मनुष्यरूप श्रीकृष्णसे, जो अभी-अभी जगत्‌में उत्पन्न हुए, यह योग कैसे ग्रहण किया। इस प्रश्नका उत्तर श्रीकृष्ण यह दे सकते थे कि संपूर्ण ज्ञानके मूलस्वरूप जो भगवान् हैं उस भगवद्रूपसे मैंने यह उपदेश उन सविताको किया था जो भगवान्‌के ही ज्ञानके व्यक्त रूप हैं और जो समस्त अंतर्बाह्य दोनों ही प्रकाशके देनेवाले हैं—भर्गो सवितुर्देवस्य यो नो धियः प्रचोदयात् । परंतु यह उत्तर उन्होंने नहीं दिया। उन्होंने इस प्रश्नके प्रसंगसे अपने छिपे हुए ईश्वर-रूपकी वह बात कही जिसकी भूमिका वे तभी बांध चुके थे जब

उन्होंने कर्म करते हुए भी कर्मोंसे न बंधनेके प्रसंगमें अपना दिव्य दृष्टांत सामने रखा था। पर वहां उन्होंने उस बातको अच्छी तरहसे स्पष्ट नहीं किया था। अब वे अपने-आपको स्पष्ट शब्दोंमें अवतार घोषित करते हैं।

भगवान् गुरुकी चर्चाके प्रसंगमें वेदांतकी दृष्टिसे अवतारतत्त्वका प्रतिपादन संक्षेपमें किया जा चुका है। गीता भी इस तत्त्वको वेदांतकी ही दृष्टिसे हमारे सामने रखती है। अब हम लोग इस तत्त्वको जरा और अंदर पैठकर देखें और उस दिव्य जन्मके वास्तविक अभिप्रायको समझें जिसके बाह्य रूपको ही अवतार कहते हैं, क्योंकि गीताकी जो शिक्षा है उसमें यह चीज एक ऐसी लड़ी है जिसके बिना इस शिक्षाकी श्रृंखला पूरी नहीं होती। सबसे पहले हम श्रीगुरुके उन शब्दोंका अनुवाद करके सामने रख दें जिनमें अवतारके स्वरूप और हेतुका संक्षेपमें वर्णन किया गया है और उन श्लोकों या वचनोंको भी ध्यानमें ले आवें जो उससे संबंध रखते हैं। "बहुतसे जन्म, हे अर्जुन, मेरे और तेरे भी बीत चुके; मैं उन सबको जानता हूँ, पर तू नहीं जानता। हे परंतप, मैं अपनी सत्तासे यद्यपि अज और अविनाशी हूं, सब भूतोंका स्वामी भी हूं, तो भी मैं अपनी प्रकृतिको अपने अधीन रखकर आत्म-मायासे जन्म लिया करता हूं। जब-जब धर्मकी ग्लानि होती है और अधर्मका उत्थान, तब-तब मैं अपना सृजन करता हूं। साधु पुरुषोंको उबारने और पापात्माओंको संहारने और धर्मकी संस्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें जन्म लिया करता हूं। मेरे दिव्य जन्म और दिव्य कर्मको जो कोई तत्त्वतः जानता है, वह इस शरीरको छोड़नेपर पुनर्जन्मको नहीं बल्कि, हे अर्जुन, मुझको प्राप्त होता है। राग, भय और क्रोधसे मुक्त, मेरे ही भावमें लीन, मेरा ही आश्रय करनेवाले, ज्ञानतपसे पुनीत अनेकों पुरुष मेरे भावको (पुरुषोत्तमके भावको) प्राप्त हुए हैं। जो जिस प्रकार मेरी ओर आते हैं,

उन्हें मैं उसी प्रकारसे प्रेमपूर्वक ग्रहण करता हूं (भजामि); हे पार्थ, सब मनुष्य सब तरहसे मेरे ही पथका अनुसरण करते हैं।"

परंतु बहुतसे मनुष्य, गीता अपना कथन जारी रखते हुए बतलाती है कि, अपने कर्मोंकी सिद्धि चाहते हुए, देवताओंके अर्थात् एक परमेश्वर-के विविध रूपों और व्यक्तित्वोंके प्रीत्यर्थ यज्ञ करते हैं, क्योंकि कर्मोंसे—ज्ञानरहित कर्मोंसे—होनेवाली सिद्धि मानव-जगत्में सुगमतासे प्राप्त होती है; पर वह केवल उसी जगत्की होती है। परंतु दूसरी सिद्धि, अर्थात् पुरुषोत्तमके प्रीत्यर्थ किये जानेवाले ज्ञानयुक्त यज्ञके द्वारा मनुष्यकी दिव्य आत्मपरिपूर्णता, उसकी अपेक्षा अधिक कठिनतासे प्राप्त होती है; इस यज्ञके जो फल होते हैं वे सत्की उच्चतर भूमिकाके होते हैं और जल्दी पकड़में नहीं आते। इसलिये मनुष्योंको अपने गुण-कर्मके अनुसार चतुर्विध धर्मका पालन करना पड़ता है और सांसारिक कर्मके इस क्षेत्रमें वे भगवान्को उनके विविध गुणोंमें ही ढूंढ़ते हैं। परंतु भगवान् कहते हैं कि यद्यपि मैं चतुर्विध कर्मोंका कर्त्ता और चातुर्वर्ण्यका स्रष्टा हूं तो भी मुझे अकर्त्ता, अव्यय, अक्षर आत्मा भी जानना चाहिये। "कर्म मुझे लिप्त नहीं करते, न कर्मफलकी मुझे कोई स्पृहा है।" कारण भगवान् नैर्व्यक्तिक हैं और इस अहंभावापन्न व्यक्तित्वके तथा प्रकृतिके गुणोंके इस द्वंद्वके परे हैं, और अपने पुरुषोत्तम-स्वरूपमें भी, जो उनका नैर्व्यक्तिक पुरुषभाव है, वे कर्मके अंदर रहते हुए भी अपनी इस परम स्वतंत्रतापर अधिकार रखते हैं। इसलिये दिव्य कर्मोंके कर्त्ताको चातुर्वर्ण्यका पालन करते हुए भी उसीको जानना और उसीमें रहना होता है जो परे है, जो नैर्व्यक्तिक है और फलतः जो परमेश्वर है। "इस प्रकार जो मुझे जानता है," भगवान् कहते हैं कि, "वह अपने कर्मोंसे नहीं बंधता। यही जानकर मुमुक्षु लोगोंने पुराकालमें कर्म किया; इसलिये तू भी उसी पूर्वतर प्रकारके कर्मका

आचरण कर जो पूर्वपुरुषोंद्वारा आचरित हुआ है।"

जिन श्लोकोंका अनुवाद ऊपर दिया जा चुका, उनमें पीछेके श्लोक, जिनका सारांशमात्र दिया गया है, 'दिव्यकर्म' का स्वरूप बतलानेवाले हैं जिनका निरूपण हम लोग पिछले अध्यायमें कर चुके हैं; और इनमें जो पहलेके श्लोक हैं, जिनका संपूर्ण अनुवाद दिया गया है, वे 'दिव्य जन्म' अर्थात् अवतारतत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले हैं। पर यहां हमें एक बात बड़ी सावधानीके साथ कह देनी है कि अवतारका आना—जो मानव-जातिके अंदर भगवान्‌का व्यक्त परम रहस्य है—केवल धर्मकी संस्था-पना करनेके लिये ही नहीं होता; क्योंकि धर्मसंस्थापन स्वयं कोई इतना बड़ा और पर्याप्त हेतु नहीं है, कोई ऐसा महान् लक्ष्य नहीं है जिसके लिये ईसा या कृष्ण या बुद्धको उतर आना पड़े, धर्मसंस्थापन तो किसी और भी महान्, परतर और भागवत संकल्पसिद्धिकी एक सहचरी अवस्था-मात्र है। कारण दिव्य जन्मके दो पहलू हैं; एक है अवतरण, मानव-जातिमें भगवान्‌का जन्मग्रहण, मानव आकृति और प्रकृतिमें भगवान्‌का प्राकट्य, यही सनातन अवतार है; दूसरा है आरोहण, भगवान्‌के भावमें मनुष्यका जन्मग्रहण, भागवत प्रकृति और भागवत चैतन्यमें उसका उत्थान (मद्भावमागताः), यह जीवका नवजन्म, द्वितीय जन्म है। भगवान्‌-का अवतार लेना और धर्मकी संस्थापना करना इसी नव-जन्मके लिये होता है। अवतारविषयक गीतासिद्धांतके इस द्विविध पहलूकी ओर उन लोगोंका ध्यान नहीं जाता जो गीताको सरसरी तौरपर पढ़ जाते हैं और अधिकांश पाठक ऐसे ही होते हैं जो इस ग्रंथकी गंभीर शिक्षाकी ओर न जाकर इसके ऊपरी अर्थसे ही संतुष्ट हो जाते हैं। और वे भाष्यकार भी जो अपनी सांप्रदायिक चहारदीवारीके अंदर बंद रहते हैं, इसको नहीं देख पाते। इसलिये अवतारतत्त्वसंबंधी गीताका जो सिद्धांत है उसके

संपूर्ण अर्थको समझनेके लिये अवतारके इस द्विविध पहलूको जान लेना आवश्यक है। इसके विना अवतारकी भावना एक मतविशेष भर, एक प्रचलित मूढ-विश्वास भर रह जायगी अथवा यह हो जायगा कि ऐतिहासिक या पौराणिक अतिमानवोंको कल्पनाके जोरसे या रहस्यमय तरीकेसे भगवान् बना दिया जायगा और यह भावना वह नहीं रह जायगी जो गीताकी शिक्षा है, जो गंभीर दार्शनिक और धार्मिक सत्य है और जो "उत्तमं रहस्यं" को प्राप्त करानेका एक आवश्यक अंग या पदक्षेप है।

यदि परमेश्वर-सत्तामें मनुष्यके आरोहणकी सहायता करना मनुष्य-रूपमें परमेश्वरके अवतीर्ण होनेका प्रकृत हेतु न हो तो धर्मके लिये भगवान्‌का अवतार लेना एक निरर्थकसा व्यापार प्रतीत होगा; कारण धर्म, न्याय और सदाचारकी रक्षाका कार्य तो भगवान्‌की सर्वशक्तिमत्ता अपने सामान्य साधनोंके द्वारा, अर्थात् महापुरुषों और महान् आंदोलनोंके द्वारा तथा ऋषियों, राजाओं और धर्माचार्योंके द्वारा सदा कर ही सकती है, उसके लिये अवतारकी कोई प्रकृत आवश्यकता नहीं। अवतारका आना होता है मानव-प्रकृतिमें भागवत प्रकृतिको प्रकटानेके लिये, ईसा, कृष्ण और बुद्धकी भगवत्ताको प्रकटानेके लिये, जिससे कि मानव-प्रकृति अपने सिद्धांत, विचार, अनुभव, कर्म और सत्ताको ईसा, कृष्ण और बुद्धके सांचेमें ढालकर स्वयं भागवत प्रकृतिमें रूपांतरित हो जाय। अवतार जो धर्म संस्थापित करते हैं उसका मुख्य हेतु भी यही होता है; ईसा, बुद्ध, कृष्ण इस धर्मके तोरणद्वार बनकर स्थित होते हैं और अपने अंदरसे होकर ही वह मार्ग निर्माण करते हैं जिसका अनुवर्तन करना मनुष्योंका धर्म होता है। यही कारण है कि प्रत्येक अवतार मनुष्योंके सामने अपना ही दृष्टांत रखते और अपने-आपको ही एकमात्र मार्ग और तोरणद्वार घोषित करते हैं; अपनी मानवताको ईश्वरकी सत्ताके साथ एक बतलाते और यह भी

प्रकट करते हैं कि मैं जो मानव पुत्र हूं वह और जिस ऊर्ध्वस्थित पितासे मैं अवतरित हुआ हूं वह, दोनों एक ही हैं,–मनुष्यशरीरमें जो श्रीकृष्ण हैं वे (मानुषीं तनुमाश्रितम्) और परमेश्वर तथा सर्वभूतोंके सुहृत् जो श्रीकृष्ण हैं वे, ये दोनों उन्हीं भगवान् पुरुषोत्तमके ही प्रकाश हैं, वहां वे अपनी ही सत्तामें प्रकट हैं, यहां मानव-आकारमें प्रकट हैं।

अवतारके होनेका यह जो दूसरा और वास्तविक उद्देश्य है, यही गीताके समग्र प्रतिपादनका मुख्य विषय है। यह बात उस श्लोकसे ही, यदि उसका यथार्थ रूपसे विचार किया जाय तो प्रकट है। पर केवल उस एक श्लोकसे ही नहीं—क्योंकि ऐसा करना गीताके श्लोकोंका ठीक अर्थ लगानेका गलत रास्ता है—बल्कि अन्य श्लोकोंके साथ उसका जो संबंध है उसका पूरा ध्यान रखते हुए और समग्र प्रतिपादनके साथ उसका मेल मिलाते हुए विचार किया जाय तो यह बात और भी अच्छी तरहसे स्पष्ट हो जाती है। गीताका यह जो सिद्धांत है कि सबमें एक ही आत्मा है, फिर जो यह सिद्धांत भी है कि प्रत्येक प्राणीके हृद्देशमें भगवान् विराजमान हैं और साथ ही सृष्टिकर्त्ता प्रजापति और उनकी सृष्ट की हुई प्रजा, इन दोनोंका जैसा परस्पर-संबंध गीता बतलाती तथा विभूतितत्त्वका प्रतिपादन जिस जोरदार आग्रहके साथ करती है, इन सभी बातोंको हमें ध्यानमें रखना होगा और एक साथ विचारना होगा। भगवान् अपने निष्काम कर्मका जो उदाहरण देते हैं, जो मानव श्रीकृष्णपर उतना ही घटता है जितना कि सर्वलोकमहेश्वरपर, उसकी भाषाको भी ध्यानमें रखना होगा और नवें अध्यायके इस वचनको भी उसका प्राप्य स्थान देना होगा कि, "मूढ़ लोग मानुषी तनुमें आश्रित मेरा तिरस्कार करते हैं क्योंकि वे मेरे सर्व-लोकमहेश्वर परम भावको नहीं जानते;" और इन विचारोंको सामने रख-कर तब इस वचनका अभिप्राय निकालना होगा जो इस समय हमारे

सामने है कि उनके दिव्य जन्म और दिव्य कर्मके ज्ञानद्वारा मनुष्य भगवान्‌के पास आता है और भगवन्मय होकर तथा उनका आश्रित होकर वह उनके भावको प्राप्त होता है (मद्भावम्)। तब हम लोग दिव्य जन्म और उसके हेतुको तत्त्वतः समझ सकेंगे कि यह कोई सबसे न्यारी अचरजभरी विलक्षणसी चीज नहीं है, बल्कि जगत्-प्राकट्यका जो संपूर्ण क्रम है उसमें इसका भी एक विशिष्ट स्थान है; इसके बिना हम अवतारके इस दिव्य रहस्यको समझ ही नहीं सकेंगे, और तब या तो उसे एक फालतू-सी चीज समझकर छोड़ देंगे या बिना समझे ही अंध-श्रद्धासे मान लेंगे अथवा इसके बारेमें आधुनिक मनके उन क्षुद्र और बाहरी विचारोंमें जा फँसेंगे जिससे इसका जो आंतरिक और उपकारी अर्थ है वह नष्ट हो जायगा।

कारण आधुनिक मनके लिये अवतारतत्त्व तर्कबद्ध मानव-चेतनापर पूर्वकी ओरसे आ गिरनेवाली विचारधाराओंमेंसे एक विचार है और इस भावको स्वीकार करना या समझना उसके लिये बहुत ही कठिन है। यदि वह अवतारतत्त्वको उदार भावसे ले तो वह कहेगा कि यह मानव शक्तिका, स्वभावका, प्रतिभाका, जगत्‌के लिये या जगत्में किये गये किसी महान् कर्मका एक प्रतीकमात्र है और यदि वह इसको अनुदार भावसे ग्रहण करे तो वह कहेगा कि यह एक कुसंस्कार या मूढ़-विश्वासमात्र है। नास्तिकके लिये यह एक मूर्खतापूर्ण विचार है और यूनानीके लिये मार्गका रोड़ा। जड़वादी तो इस विचारको अपने ध्यानमें भी नहीं ला सकते, क्योंकि वे ईश्वरकी सत्ताको ही नहीं मानते; युक्तिवादी या भागवत भावत्वको न माननेवाले ईश्वरवादी इसे मूर्खता और उपहासका एक विषयमात्र ही समझ सकते हैं; कट्टर द्वैतवादियोंकी दृष्टिमें मानव-स्वभाव और देव-स्वभावके बीचका अंतर कभी मिट ही नहीं सकता, इसलिये

प्रकट करते हैं कि मैं जो मानव पुत्र हूं वह और जिस ऊर्ध्वस्थित पितासे मैं अवतरित हुआ हूं वह, दोनों एक ही हैं,-मनुष्यशरीरमें जो श्रीकृष्ण हैं वे (मानुषीं तनुमाश्रितम्) और परमेश्वर तथा सर्वभूतोंके सुहृत् जो श्रीकृष्ण हैं वे, ये दोनों उन्हीं भगवान् पुरुषोत्तमके ही प्रकाश हैं, वहां वे अपनी ही सत्तामें प्रकट हैं, यहां मानव-आकारमें प्रकट हैं।

अवतारके होनेका यह जो दूसरा और वास्तविक उद्देश्य है, यही गीताके समग्र प्रतिपादनका मुख्य विषय है। यह बात उस श्लोकसे ही, यदि उसका यथार्थ रूपसे विचार किया जाय तो प्रकट है। पर केवल उस एक श्लोकसे ही नहीं—क्योंकि ऐसा करना गीताके श्लोकोंका ठीक अर्थ लगानेका गलत रास्ता है—बल्कि अन्य श्लोकोंके साथ उसका जो संबंध है उसका पूरा ध्यान रखते हुए और समग्र प्रतिपादनके साथ उसका मेल मिलाते हुए विचार किया जाय तो यह बात और भी अच्छी तरहसे स्पष्ट हो जाती है। गीताका यह जो सिद्धांत है कि सबमें एक ही आत्मा है, फिर जो यह सिद्धांत भी है कि प्रत्येक प्राणीके हृद्देशमें भगवान् विराजमान हैं और साथ ही सृष्टिकर्त्ता प्रजापति और उनकी सृष्ट की हुई प्रजा, इन दोनोंका जैसा परस्पर-संबंध गीता बतलाती तथा विभूतितत्त्वका प्रतिपादन जिस जोरदार आग्रहके साथ करती है, इन सभी बातोंको हमें ध्यानमें रखना होगा और एक साथ विचारना होगा। भगवान् अपने निष्काम कर्मका जो उदाहरण देते हैं, जो मानव श्रीकृष्णपर उतना ही घटता है जितना कि सर्वलोकमहेश्वरपर, उसकी भाषाको भी ध्यानमें रखना होगा और नवें अध्यायके इस वचनको भी उसका प्राप्य स्थान देना होगा कि, "मूढ़ लोग मानुषी तनुमें आश्रित मेरा तिरस्कार करते हैं क्योंकि वे मेरे सर्व-लोकमहेश्वर परम भावको नहीं जानते;" और इन विचारोंको सामने रख-कर तब इस वचनका अभिप्राय निकालना होगा जो इस समय हमारे

सामने है कि उनके दिव्य जन्म और दिव्य कर्मके ज्ञानद्वारा मनुष्य भग-वान्के पास आता है और भगवन्मय होकर तथा उनका आश्रित होकर वह उनके भावको प्राप्त होता है (मद्भावम्)। तब हम लोग दिव्य जन्म और उसके हेतुको तत्त्वतः समझ सकेंगे कि यह कोई सबसे न्यारी अच-रजभरी विलक्षणसी चीज नहीं है, बल्कि जगत्-प्राकट्यका जो संपूर्ण क्रम है उसमें इसका भी एक विशिष्ट स्थान है; इसके बिना हम अवतारके इस दिव्य रहस्यको समझ ही नहीं सकेंगे, और तब या तो उसे एक फालतू-सी चीज समझकर छोड़ देंगे या बिना समझे ही अंध-श्रद्धासे मान लेंगे अथवा इसके बारेमें आधुनिक मनके उन क्षुद्र और बाहरी विचारोंमें जा फंसेंगे जिससे इसका जो आंतरिक और उपकारी अर्थ है वह नष्ट हो जायगा।

कारण आधुनिक मनके लिये अवतारतत्त्व तर्कबद्ध मानव-चेतनापर पूर्वकी ओरसे आ गिरनेवाली विचारधाराओंमेंसे एक विचार है और इस भावको स्वीकार करना या समझना उसके लिये बहुत ही कठिन है। यदि वह अवतारतत्त्वको उदार भावसे ले तो वह कहेगा कि यह मानव शक्तिका, स्वभावका, प्रतिभाका, जगत्के लिये या जगत्में किये गये किसी महान् कर्मका एक प्रतीकमात्र है और यदि वह इसको अनुदार भावसे ग्रहण करे तो वह कहेगा कि यह एक कुसंस्कार या मूढ़-विश्वासमात्र है। नास्तिकके लिये यह एक मूर्खतापूर्ण विचार है और यूनानीके लिये मार्गका रोड़ा। जड़वादी तो इस विचारको अपने ध्यानमें भी नहीं ला सकते, क्योंकि वे ईश्वरकी सत्ताको ही नहीं मानते; युक्तिवादी या भागवत प्राकट्यको न माननेवाले ईश्वरवादी इसे मूर्खता और उपहासका एक विषयमात्र ही समझ सकते हैं; कट्टर द्वैतवादियोंकी दृष्टिमें मानव-स्वभाव और देव-स्वभावके बीचका अंतर कभी मिट ही नहीं सकता, इसलिये

उनकी दृष्टिमें तो ऐसी बात कहना ईश्वरकी ही निंदा करना है। युक्ति-वादियोंका पक्ष यह है कि ईश्वर यदि है तो वह विश्वातीत है, विश्वके परे है, संसारके मामलोंमें वह दखल नहीं देता, बल्कि संसारका अनुशासन एक सुनिश्चित विधानके बने-बनाये यंत्रके द्वारा होने देता है—यथार्थमें वह विश्वसे दूर रहनेवाला कोई वैधानिक राजासा या कोई आध्यात्मिक राजा जड़भरतसा है, उसकी अधिक-से-अधिक प्रशंसा यही हो सकती है कि वह प्रकृतिके पीछे रहनेवाला, सांख्यवर्णित साधारण और वस्तुनिरपेक्ष साक्षीपुरुषकासा अकर्त्ता आत्म-तत्त्व है; वह विशुद्ध आत्मा है; वह शरीर धारण नहीं कर सकता ; वह अपरिच्छिन्न अनंत है, मनुष्यकी तरह सांत परिच्छिन्न नहीं हो सकता; वह अजन्मा सृष्टिकर्त्ता है, संसारमें जन्मा हुआ सृष्ट प्राणी नहीं हो सकता—ये बातें उसकी निरपेक्ष शक्तिमत्ताके लिये भी असंभव हैं। कट्टर द्वैतवादी इन बातोंमें अपनी तरफसे इतनी बात और जोड़ देगा कि ईश्वर हैं पर उनका स्वरूप, उनकी कर्मभूमिका और उनका स्वभाव मनुष्यसे भिन्न और पृथक् हैं; वे पूर्ण हैं और मनुष्यकी अपूर्णताको अपने ऊपर नहीं ओढ़ सकते; अज अविनाशी पुरुष परमेश्वर मनुष्य नहीं बन सकते; सर्वलोकमहेश्वर प्रकृतिसे बंधे हुए मानवकर्ममें और नाशमान मानव-शरीरमें सीमाबद्ध नहीं हो सकते। ये आक्षेप जो पहली नजरमें बड़े प्रबल मालूम होते हैं, गीताके वक्ता भगवान् गुरुकी दृष्टिके सामने मौजूद रहे होंगे जब वे कहते हैं कि, यद्यपि मैं अपनी आत्म-सत्तामें अज हूं, अव्यय हूं, प्राणिमात्रका ईश्वर हूं, फिर भी मैं अपनी प्रकृतिको अधिष्ठान करके अपनी आत्म-मायाके द्वारा जन्म लिया करता हूं; और जब वे यह कहते हैं कि मूढ़ लोग मनुष्य-शरीरमें होनेके कारण मुझे तुच्छ गिनते हैं पर यथार्थमें अपनी परम सत्ताके अंदर मैं प्राणिमात्रका ईश्वर हूं, और यह कि मैं अपनी भागवत चेतनाकी

क्रियामें चातुर्वर्ण्यका स्रष्टा हूं तथा जगत्के कर्मोंका कर्त्ता हूं और यह होते हुए भी अपनी भागवत चेतनाकी नीरवतामें उसी समय मैं अपनी प्रकृतिके कर्मोंका उदासीन साक्षी हूं, क्योंकि मैं सदा कर्म और अकर्म दोनोंके ही परे हूं, परम प्रभु हूं, पुरुषोत्तम हूं। और इस तरह गीता अवतार-तत्त्वके विरुद्ध किये जानेवाले आक्षेपोंका पूरा जवाब दे देती है और इन सब परस्पर-विरोधोंका समन्वय करनेमें समर्थ होती है, क्योंकि ईश्वर और जगत्के संबंधमें वेदांतशास्त्रका जो सिद्धांत है उसीसे गीताका उपक्रम होता है।

वेदांतकी दृष्टिमें ये आपातप्रबल आक्षेप प्रारंभसे ही निस्सार और निरर्थक हैं। वेदांतकी योजनाके लिये अवतारकी भावना अनिवार्य नहीं है सही, पर फिर भी यह भावना उसके अंदर सर्वथा युक्तियुक्त और न्यायसंगत धारणाके रूपमें सहज भावसे आ जाती है। कारण, यहां जो कुछ है सब ईश्वर, आत्मा, एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ही तो है और दूसरी कोई भी चीज नहीं जो उससे भिन्न हो, कोई चीज हो ही नहीं सकती जो उससे इतर और भिन्न हो; प्रकृति भागवत चेतनाकी ही एक शक्ति होनेके अतिरिक्त न कुछ है न हो सकती है; सब प्राणी एक ही भागवत सत्ताके आंतर और बाह्य, अहं और इदं, जीवरूप और देह-रूपके अतिरिक्त न कुछ हैं न हो सकते हैं, ये उसी भागवत चेतनाकी शक्तिसे उत्पन्न होते और उसीमें स्थित रहते हैं, अनंत ईश्वर सांत भावको नहीं धारण कर सकता, यह सवाल ही नहीं उठता जब कि यह सारा जगत् उस अनंतके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं; इस समग्र विशाल जगत्में, जहां कि हम रहते हैं, हम चाहे जिधर दृष्टि उठाकर देखें, चाहे जैसे देखें, पर देखेंगे उसीको और किसीको नहीं। आत्माका साकार न हो सकना अथवा अन्नमय या मनोमय रूपके साथ संबंध जोड़ने और

परिच्छिन्न स्वभाव या शरीर धारण करनेसे घृणा करना तो दूर रहा, यहां तो जो कुछ है वही है, उसी संबंधसे, उसी परिच्छिन्न स्वभाव और शरीरको धारण करनेसे ही इस जगत्का अस्तित्व है। यह तो कोई बात ही नहीं कि जगत् कोई यंत्रवत् चलनेवाला विधानमात्र है जिसकी शक्तियोंकी गतियोंमें या जिसके मनप्राणशरीरसे होनेवाले कर्मोंमें हस्तक्षेप करनेवाला कोई आत्मा या पुरुष नहीं; यह भी नहीं कि किसी मूल तटस्थ आत्मतत्त्वकी कोई सत्ता अगर हो भी तो वह इस जगत्में नहीं, कहीं इसके बाहर या ऊपर निष्क्रिय रूपसे रहती होगी, बल्कि यह सारा जगत् और इसका प्रत्येक अणु-रेणु कर्मरत भागवत शक्ति ही है और उसकी प्रत्येक गतिका निर्द्धारण और नियमन उसी भागवत शक्तिके द्वारा होता है, इसके प्रत्येक रूपमें उसीका निवास है, प्रत्येक जीव और उसका अंतःकरण उसीका है; सब कुछ ईश्वरमें है और उसीमें सब कुछ होता रहता है, सबमें वही है, वही कर्म करता और अपनी सत्ता दरसाता है; प्रत्येक प्राणी छद्मवेशमें नारायण ही है।

अजन्मा जन्म नहीं ले सकता ऐसी तो कोई बात ही नहीं, बल्कि बात तो यह है कि प्रत्येक जीव अपने व्यक्तित्वके अंदर रहते हुए भी वही अजन्मा आत्मा है, वही सनातन है जिसका न कोई आदि है न अंत। और अपने मूल अस्तित्व और अपनी विश्वव्यापकतामें सभी जीव वही एक अजन्मा आत्मा है, जिसके आकार-ग्रहण और आकार-परिवर्तनका नाम ही जन्म और मृत्यु है। इस जगत्का सारा रहस्यमय व्यापार यही तो है कि पूर्ण अपूर्णताको कैसे धारण किये हुए है? पर यह अपूर्णता धारण किये हुए मन और शरीरके रूप और कर्ममें ही प्रकट होती है, यहांके प्रपंचमें ही रहती है; जो इसे धारण करता है उसमें कोई अपूर्णता नहीं होती; जैसे सूर्य, जो सबको आलोकित करता है उसमें प्रकाश या

दर्शनशक्तिकी कोई कमी नहीं होती, कमी होती है व्यक्तिविशेषके दर्शनेंद्रियकी क्षमतामें ही। फिर, यह भी कोई बात नहीं है कि भगवान् बहुत दूर किसी स्वर्गमें बिराजे इस जगत्का राज करते हों, बल्कि उनका राज तो उनकी अपनी निगूढ़ सर्वव्यापकतासे हुआ करता है; प्रत्येक परिच्छिन्न सांत गुणकर्म अपरिच्छिन्न अनंत शक्तिका ही एक कार्य है, किसी पृथक् परिच्छिन्न स्वयंभू क्रियाशक्तिका नहीं जो अपने ही बलसे कोई परिश्रम कर रही हो; मन-बुद्धिके संकल्प और ज्ञानकी प्रत्येक परिच्छिन्न क्रियामें हम अपरिच्छिन्न अखिल संकल्प और अखिल ज्ञानके किसी कर्मका आश्रयरूपसे होना ढूंढ़कर देख सकते हैं। भगवान्का राज कोई ऐसा राज नहीं है जहांका शासक अनुपस्थित रहता हो, विदेशी हो या बाहरी हो; वे इसलिये सबका शासन करते हैं कि वे सबके परे हैं, पर साथ ही इसलिये भी कि वे सब क्रियाओंमें स्वयं रहते हैं और वे ही उन क्रियाओंके एकमात्र प्राण और आत्मा हैं। इसलिये अवतारकी संभावनाके विरुद्ध जो-जो आक्षेप हमारी तर्क-बुद्धिमें आया करते हैं वे सिद्धांततः नहीं टिक सकते क्योंकि यह सब हमारे बौद्धिक तर्कद्वारा उपस्थित किया हुआ एक ऐसा व्यर्थका विभेद है जिसे जगत्का सारा व्यापार और उसकी सारी वास्तविकता दोनों ही प्रतिक्षण खंडित और अप्रमाणित कर रहे हैं।

परंतु अवतारकी संभावनाके प्रश्नको छोड़कर एक और प्रश्न है और वह यह कि क्या भगवान् सचमुच ही इस प्रकार कर्म करते हैं, क्या सचमुच ही भागवत चेतना परदेके बाहर निकलकर इस सांत, मनोमय, अन्नमय, परिच्छिन्न, अपूर्ण बाह्य जगत्में सीधे कर्म करती है? यह सांत बाह्य परिच्छिन्न रूप आखिर क्या है—यह अनंतके ही विभिन्न चिद्-भावोंके सामने अनंतकी ही अपनी अभिव्यक्तियोंका एक सुनिश्चित बाह्य रूप, उनका एक बाहरी मूल्य है; प्रत्येक सांत बाह्य रूपका वास्तविक

मूल्य तो यह है कि यह बाह्य व्यापार भी आत्म-स्थितिमें एक अनंत ही है, फिर चाहे उसकी बाह्य प्रकृतिके कर्ममें, उसकी सांसारिक आत्म-अभिव्यक्तिमें वह कैसा ही क्यों न हो। यदि हम अधिक गौरसे देखें तो मनुष्य सर्वथा अकेला नहीं है, वह सर्वथा पृथक् रहनेवाला कोई स्वतः-स्थित व्यक्ति नहीं है, बल्कि वह किसी मनविशेष और शरीरविशेषके अंदर स्वयं मानव-जाति ही है; और स्वयं मानव-जाति भी कोई स्वतः-स्थित सबसे पृथक् जाति नहीं है, बल्कि भूमा विश्वपति ही मानवजातिके रूपमें मूर्तिमान हैं; इस रूपमें वे कतिपय संभावनाओंको क्रियान्वित करते हैं, आधुनिक भाषामें यों कहिये कि अपनी अभिव्यक्तिकी शक्तियोंको प्रस्फुटित और विकसित करते हैं, पर जो कुछ विकसित होकर आता है वह स्वयं अनंत ही होता है, स्वयं आत्मा ही होता है।

आत्मासे हमारा अभिप्राय है उस स्वयंभू सत्तासे जिसमें चेतनाकी अनंत शक्ति और अपार आनंद निहित हैं; आत्मा यही है और यदि यह न हो तो कुछ भी नहीं है अथवा कम-से-कम मनुष्य और जगत्के साथ उसका कुछ भी संबंध नहीं है और इसलिये मनुष्य और जगत्को भी उससे कुछ लेना-देना नहीं है। स्थूल, द्रव्य, शरीर तो सचेतन सत्ताकी शक्तिका ही पुंजीभूत कर्ममात्र है, चेतनाकी इंद्रियशक्तिद्वारा क्रियान्वित होनेवाले चेतनाके परिवर्तनशील संबंधोंको काममें लानेके लिये प्रारंभिक साधनके तौरपर यह उपयोगमें लाया जाता है। यथार्थमें स्थूल कहीं भी चेतनासे खाली नहीं है; क्योंकि एक-एक अणु-रेणु और छिद्र-रंध्रमें भी कोई संकल्पशक्ति, कोई बुद्धि कर्म कर रही है, यह बात अब आधुनिक सायंसको भी मजबूरन स्वीकार करनी पड़ी है। परंतु यह संकल्पशक्ति या बुद्धि उस आत्मा या ईश्वरकी ही तो है जो उसके अंदर है, यह किसी जड़ छिद्र या अणु-रेणुका अपना, अपनेसे ही उपजा हुआ कोई पृथक्

संकल्प या विचार नहीं है। स्थूलमें अंतर्लीन यह विराट् संकल्प और बुद्धि एकके बाद एक रूपोंके अंदरसे होकर अपनी शक्तियोंका विकास करते रहते हैं और अंतमें पृथ्वीपर मनुष्यके अंदर पहुंचकर यह होता है कि ये पूर्ण भागवत शक्तिके एकदम पास पहुंच जाते हैं और यहां ही इनको, इनकी बहिर्गत और रूपगत बुद्धिमें भी, पहले-पहल अपनी दिव्यताका कुछ-कुछ धुंधलासा आभास मिलता है। परंतु यहांकी भी एक सीमा होती है, कारण यह प्राकट्य भी अभी अपूर्ण है और इसलिये निम्नतर रूपोंको भगवान्‌के साथ अपने तादात्म्यका ज्ञान नहीं हो पाता। क्योंकि प्रत्येक ससीम प्राणीमें बाह्य जगत्‌की क्रियाकी एक सीमा बंधी होती है और उसके साथ-साथ उसकी जो बाह्य चेतना है उसकी भी एक सीमा लगी रहती है जो जीवके स्वभावका निरूपण करती और एक-एक जीवके अंदर एक आंतरिक भेद उत्पन्न कर देती है। अवश्य ही भगवान् इस सबके पीछे रहकर कर्म करते हैं और इस बाह्य अपूर्ण चेतना और संकल्पके द्वारा उनकी जो विशेष-विशेष अभिव्यक्तियां होती हैं उनका नियमन करते हैं, किंतु, जैसा कि वेदमें कहा गया है, वे अपने-आपको गुहामें छिपाये रहते हैं। गीता इसी बातको यों कहती है कि "ईश्वर सब प्राणियोंके हृदयमें वास करते हैं और सबको मायासे यंत्रारूढवत् चलाते रहते हैं।" हृदयमें छिपे हुए भगवान्, अहमात्मक प्राकृत चेतनाके द्वारा जिस प्रकार कर्म करते हैं वही ईश्वरकी कार्य-प्रणाली है जगत्‌के प्राणियोंके साथ। जब ऐसा ही है, तब हमें यह माननेकी क्या आवश्यकता है कि, वे किसी रूपमें, यानि प्राकृत चेतनामें भी सामने आकर प्रकट होते और प्रत्यक्षमें अपने विशुद्ध चैतन्यके साथ अपना कार्य करते हैं? इसका उत्तर यही है कि यदि भगवान् इस तरह आते हैं तो मनुष्य और अपने बीचके परदेको फाड़नेके लिये आते हैं जिस परदेको अपनी

प्रकृतिसे बंधा हुआ मनुष्य उठातक नहीं सकता।

गीता कहती है कि जीव साधारणतया जो अपूर्ण रूपसे कर्म करता है उसका कारण यह है कि वह प्रकृतिकी यांत्रिक क्रियाके वशमें होता है और मायाके रूपोंसे बंधा होता है। प्रकृति और माया भागवत चैतन्यकी कार्यशक्तिके ही दो परस्पर-पूरक पहलू हैं। माया यथार्थमें भ्रम नहीं है,—भ्रमका भाव या आभास केवल अपरा प्रकृतिके अज्ञानसे अर्थात् त्रिगुणात्मिका मायासे उत्पन्न होता है—बल्कि भागवत चैतन्यमें अपनी सत्ताकी विविध आत्म-अभिव्यक्तियोंको करनेकी जो शक्ति है, उसी-को माया कहते हैं, और प्रकृति उसी चैतन्यकी वह कार्यशक्ति है जो भग-वान्‌के प्रत्येक अभिव्यक्त रूपका उसके स्वभाव और स्वधर्मके अनुसार, उसके गुण-कर्मके अनुसार उसके जगत्-अभिनयमें परिचालन करती है। भगवान् कहते हैं कि, "मैं अपनी प्रकृतिपर उठंगकर, उसको चांपकर इन विविध प्राणियोंको, जो प्रकृतिके वशमें अवश हैं, सिरजता हूं।" जो लोग मानुष शरीरमें निवास करनेवाले भगवान्‌को नहीं जानते, वे इस बातको भी नहीं जानते, क्योंकि वे सर्वथा प्रकृतिकी यांत्रिकताके वशमें, उसके मनोमय बंधनोंमें अवश रूपसे बंधे हुए और उन्हींको मानकर चलने-वाले होते हैं और उस आसुरी प्रकृतिमें वास करते हैं जो कामसे मनको मोहती और अहंकारसे बुद्धिको भरमाती है (मोहिनीं प्रकृतिं श्रिताः)। क्योंकि अंतःस्थित भगवान् पुरुषोत्तम हर किसीके सामने सहसा प्रकट नहीं होते; वे अपने-आपको किसी घने काले मेघके अंदर या किसी उजले बादलके अंदर छिपाये, अपनी योगमायाका आवरण ओढ़े रहते हैं (नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः)। गीता बतलाती है कि, "यह सारा जगत् प्रकृतिके त्रिगुणमय भावोंसे विमोहित हुआ मुझे नहीं पहचानता; क्योंकि मेरी यह दैवी गुणमयी माया बड़ी दुस्तर है; वे ही इसे तर

जाते हैं जो मेरे प्रपन्न होते हैं ; पर जो लोग आसुरी प्रकृतिका आश्रय किये रहते हैं उनका ज्ञान माया हर लेती है।" तात्पर्य, सबके अंदर ही भागवत चैतन्य निहित है, क्योंकि सबमें ही भगवान् निवास करते हैं; परंतु भगवान्का यह निवास उनकी मायासे आवृत है और इस कारण इन प्राणियोंका मूल आत्म-ज्ञान इनसे अपहृत हो जाता है और मायाकी क्रियासे, प्रकृतिकी यंत्रवत् क्रियासे, अहंकाररूप भ्रममें पर्यवसित हो जाता है। तथापि प्रकृतिकी इस यांत्रिकतासे पीछे हटकर उसके जो आंतर और गुप्त स्वामी हैं उनकी ओर जानेसे मनुष्यको अंतर्यामी भगवान्का प्रत्यक्ष बोध होता है।

अब यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि गीता भगवान्के सामान्य प्राणिजन्म करानेका कर्म और स्वयं अवताररूपसे जन्म लेनेका कर्म, इन दोनों ही कर्मोंका शब्दोंके सामान्यसे पर महत्त्वपूर्ण फेरफारके साथ एकसा ही वर्णन करती है। "अपनी प्रकृतिको चांपकर (प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य) मैं इन प्राणियोंके समूहको जो प्रकृतिके वशमें हैं उत्पन्न करता हूं (विसृजामि)।" फिर, "अपनी प्रकृतिके ऊपर स्थित होकर मैं अपनी आत्ममायासे जन्म लेता हूं (प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय...आत्ममायया)–अपनेआपको उत्पन्न करता हूं (आत्मानं सृजामि)।" 'अवष्टभ्य' पदसे चांपना सूचित करते हैं जिससे अधिकृत वस्तु परवश, परपीड़ित, अपनी क्रियामें अवरुद्ध या परिसीमित और वशीके वशमें (अवशं वशात्) होती है; इस क्रियामें प्रकृति यंत्रवत् जड़ होती है और प्राणिसमूह उसकी इस यांत्रिकतामें केवल फंसे रहते हैं, अपने कर्मके स्वामी नहीं। 'अधिष्ठाय' पद इसके विपरीत, अंदर स्थित होना तो सूचित करता ही है, पर साथ ही प्रकृतिके ऊपर स्थित होना भी सूचित करता है जिससे यह अभिप्राय निकला कि इसमें भगवान् अंतर्यामी अधिष्ठातृ देवता होकर प्रकृतिका

सचेतन नियंत्रण और शासन करते हैं, यहां पुरुष अज्ञानके वशमें विवश होकर प्रकृतिके चलाये नहीं चलता, बल्कि प्रकृति ही पुरुषके प्रकाश और संकल्पसे परिपूर्ण होती है। इसलिये सामान्य प्राणिजन्मरूप जो विसर्ग है वह प्राणियों या भूतोंकी सृष्टि है जिसे गीता 'भूतग्रामं' कहती है और दिव्य जन्मरूप जो सर्ग या आत्मसृष्टि है वह स्वात्म-सचेतन स्वयंभू आत्माका जन्म है जिसे गीता 'आत्मानं' कहती है। यहांपर यह बात जान लेनी चाहिये कि 'आत्मानं' और 'भूतानि'का वेदांतशास्त्रमें वही भेद माना गया है जो भेद पाश्चात्य दर्शन सत्ता (being) और उसकी संभूति (becoming) में करता है। दोनों जन्मोंमें माया ही सृष्टि या अभिव्यक्तिका साधन है, पर दिव्य जन्ममें यह 'आत्ममाया' है, अज्ञानकी निम्नतर मायामें संवेष्टन नहीं, बल्कि उस स्वतःस्थित परमेश्वरका प्रकृतिरूपमें अपने-आपको प्रकट करनेका सचेतन कर्म है जिसे अपनी क्रिया और अपने हेतुका पूरा बोध है। इसी कर्मशक्तिको गीताने अन्यत्र योगमाया कहा है। सामान्य प्राणिजन्ममें भगवान् इस योगमायाके द्वारा अपने-आपको निम्नतर चेतनासे ढांके और छिपाये रहते हैं, इसलिये यही हमारे अज्ञानका कारण बनती है, यही अविद्या-माया है; परंतु फिर इसी योगमायाके द्वारा हमारी चेतनाको भगवान्‌की ओर पलटाकर हमें आत्म-ज्ञानकी प्राप्ति करायी जाती है, वहां यह ज्ञानका कारण बनती और विद्या-माया कहाती है; और दिव्य जन्ममें इसकी क्रिया यह होती है कि जो कर्म सामान्यतः अज्ञानमें किये जाते हैं उनको यह स्वयं ज्ञानस्वरूप रहकर संयत और आलोकित करती है।

इसलिये गीताकी भाषासे यह स्पष्ट होता है कि दिव्य जन्ममें भगवान् अपनी अनंत चेतनाके साथ मानव-जातिमें जन्म लेते हैं और यह मूलतः सामान्य जन्मका उलटा प्रकार है—यद्यपि जन्मके साधन वे

ही हैं जो सामान्य जन्मके होते हैं---क्योंकि यह अज्ञानमें जन्म लेना नहीं, बल्कि यह ज्ञानका जन्म है, कोई भौतिक घटना नहीं बल्कि यह आत्माका जन्म है। यह आत्माका स्वतःस्थित पुरुषरूपसे जन्मके अंदर आना है, अपने भूत भावको सचेतन रूपसे नियंत्रित करना है, अज्ञानके बादलमें अपने-आपको खो देना नहीं। यह पुरुषका प्रकृतिके प्रभुरूपसे शरीरमें जन्म लेना है। यहां प्रभु अपनी प्रकृतिके ऊपर खड़े स्वेच्छासे स्वच्छंदतापूर्वक उसके अंदर कार्य करते हैं, उसके अधीन होकर, बेबस, भवचक्ररूपी यंत्रमें फंसे भटकते नहीं रहते, क्योंकि उनका कर्म ज्ञानकृत होता है सामान्य प्राणियोंकासा अज्ञानकृत नहीं। यह सब प्राणियोंके अंदर छिपे हुए अंतर्यामी अंतरात्माका ही परदेकी आड़से बाहर निकल आना और मानवरूपमें पर भगवान्‌की भांति, उस जन्मको अधिकृत करना है जिसे वह सामान्यतः परदेकी आड़में ईश्वररूपसे अधिकृत किये रहता है, जब कि परदेके बाहरकी जो बहिर्गत चेतना है वह अधिकारी होनेकी अपेक्षा स्वयं ही अधिकृत रहती है, क्योंकि वहां वह आंशिक सचेतन सत्ता-रूपसे आत्म-विस्मृत जीव है और प्रकृतिके अधीन जो यह जगत्-व्यापार है उसके द्वारा अपने कर्ममें बंधा है। इसलिये अवतार*का अर्थ है भागवत पुरुष श्रीकृष्णका पुरुषके दिव्य भावको मानवताके अंदर प्रत्यक्ष रूपसे प्रकट करना। भगवान् गुरु अर्जुनको, जो मानव-आत्मा है, मानव-प्राणीका श्रेष्ठतम नमूना है, विभूति है, उसी दिव्य भावमें ऊपर उठनेके लिये निमंत्रित करते हैं जिस भावमें वह तभी पहुंच सकता है जब

---

* अवतार शब्दका अर्थ है उतरना; यह भगवान्‌का उस रेखाके नीचे उतर आना है जो भगवान्‌को मानव-जगत् या मानव-अवस्थासे पृथक् करती है।

वह अपनी सामान्य मानवताके अज्ञान और सीमाको पार कर चुका होता है। यह ऊपरसे उसी तत्त्वका नीचे आकर आविर्भूत होना है जिसे हमें नीचेसे ऊपर चढ़ा ले जाना है; यह मानव सत्ताके उस दिव्य जन्ममें भगवान्‌का अवतरण है जिसमें हम मर्त्य प्राणियोंको आरोहण करना है; यह मानव-प्राणिके सम्मुख, मनुष्यके ही आकार और प्रकारके अंदर तथा मानव-जीवनके सिद्ध आदर्श नमूनेके अंदर, भगवान्‌का एक आकर्षक दिव्य उदाहरण है।

---

# भगवान्‌की अवतरण-प्रणाली

हम यह देखते हैं कि मनुष्यमें परमेश्वरका अवतरण अर्थात् परमेश्वरका मानव-रूप और मानव-स्वभाव धारण एक ऐसा रहस्य है जो गीताकी दृष्टिमें स्वयं मानव-जन्मके ही चिरंतन रहस्यका केवल एक दूसरा पहलू है; क्योंकि मानव-जन्म मूलतः, बाह्यतः न सही, ऐसा ही एक आश्चर्यमय व्यापार है। प्रत्येक मनुष्यका सनातन और विराट् आत्मा परमेश्वर है; उसका व्यष्टिपुरुष भी परमेश्वरका ही अंश है (ममैवांशः) जो निश्चय ही परमेश्वरसे कटकर अलग हुआ कोई टुकड़ा नहीं,—कारण परमेश्वरके संबंधमें कोई ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती कि वे छोटे-छोटे टुकड़ोंमें बँटे हुए हों,—बल्कि वह एक ही चैतन्यका आंशिक चैतन्य है, एक ही शक्तिका शक्त्यंश है, एक ही भूमानंदके द्वारा जगत्-सत्ताका आंशिक आनंद उपभोग है, और इसलिये व्यक्त रूपमें या यह कहिये कि प्रकृतिमें यह जीव उसी एक अनंत अपरिच्छिन्न पुरुषका एक सांत परिच्छिन्न भाव है। इस परिच्छिन्नताकी छाप जो उसपर पड़ी है वह एक ऐसा अज्ञान है जिससे वह न केवल उन परमेश्वरको जिनसे वह आया, बल्कि उन परमेश्वरको भी भूल जाता है जो सदा उसके अंतरमें विराजमान् हैं, उसकी अपनी प्रकृतिके गुह्य हृद्देशमें अवस्थित हैं और उसके अपने मानव-चैतन्यके देवालयकी अंतर्वेदीमें प्रच्छन्न अग्निके समान प्रज्वलित हैं।

मनुष्य उन्हें नहीं जानता, क्योंकि उसके अंतरात्माकी आंखोंपर और उसकी समस्त इंद्रियोंपर उस प्रकृतिकी, उस मायाकी छाप लगी हुई है जिसके द्वारा वह परमेश्वरकी सनातन सत्तासे बाहर निकालकर अभिव्यक्त किया गया है; प्रकृतिने उसे भागवत सत्वके अत्यंत मूल्यवान् धातुसे ही एक सिक्केके रूपमें ढाला है, पर उसपर अपने प्राकृत गुणोंके खादका इतना गहरा लेप चढ़ा दिया है, अपनी मुद्राकी और पाशविक मानवताके चिह्नकी इतनी गहरी छाप लगा दी है कि यद्यपि भागवत भाव-का गुप्त चिह्न वहां मौजूद है तो भी वह आरंभमें देख नहीं पड़ता, उसका बोध होना सदा ही दुस्तर होता है, उसका पता चलता है तो केवल अपने आत्म-स्वरूपके रहस्यकी उस दीक्षाके मिलनेसे ही जो दीक्षा बहिर्मुख मानवतासे ईश्वराभिमुख मानवताका पार्थक्य स्पष्ट दिखा देती है। अवतारमें अर्थात् भागवत जन्मजात मनुष्यमें वह भागवत सत्व बाह्य लेपके रहते हुए भी भीतरसे जगमगा उठता है; प्रकृतिकी मुहरछाप वहां केवल रूपभरके लिये है, उनकी दृष्टि होती है अंत:स्थित ईश्वरकी, उनकी जीवन-शक्ति होती है अंत:स्थित ईश्वरकी और अवतार धारण की हुई मानव-प्रकृतिकी मुहरछापको भेदकर बाहर निकल पड़ते हैं; ईश्वरका यह चिह्न और अंतरात्माका चिह्न कोई बाह्य या भौतिक चिह्न न होनेपर भी उन सबके लिये स्पष्ट बोधगम्य है जो उसे देखना चाहें या देख सकें; आसुरी प्रकृति अवश्य ही यह सब नहीं देख सकती, क्योंकि वह केवल शरीरको देखती है आत्माको नहीं, वह बाह्य सत्ताको देखती है अंत:सत्ताको नहीं, वह परदेको देखती है उसके भीतरके पुरुषको नहीं। सामान्य मानव-जन्ममें मानवरूप धारण करनेवाले जगदात्मा जगदीश्वरका प्रकृतिभाव ही मुख्य होता है; अवतारके मनुष्य-जन्ममें उनका ईश्वरभाव प्रकट होता है। एकमें ईश्वर मानव-प्रकृतिको अपनी आंशिक सत्तापर अधिकार और

शासन करने देते हैं और दूसरेमें वे अपनी अंशसत्ता और उसकी प्रकृतिको अपने अधिकारमें लेकर उसपर शासन करते हैं। गीता हमें बतलाती है कि साधारण मनुष्य जिस प्रकार विकासको प्राप्त होता हुआ या ऊपर उठता हुआ भागवत जन्मको प्राप्त होता है उसका नाम अवतार नहीं है, बल्कि भगवान् जब मनुष्यरूपमें प्रत्यक्ष उतर आते हैं और मनुष्यके ढांचेको पहन लेते हैं, तब वह अवतार कहाता है।

परंतु अवतार लेनेके लिये यह स्वीकृति या यह अवतरण मनुष्यके आरोहण या विकासको सहायता पहुंचानेके लिये ही होता है, इस बातको गीताने बहुत विशद करके कहा है। ऐसा कहा जा सकता है कि मानव-प्राणीके रूपमें भगवान्के प्राकट्यकी संभावनाको दृष्टांतरूपसे सामने रखनेके लिये यह होता है, जिससे कि मनुष्य देखे कि यह क्या चीज है और उसमें इस बातका साहस हो कि वह अपने जीवनको उसके जैसा बना सके। और यह इसलिये भी होता है कि पार्थिव प्रकृतिकी नसोंमें इस प्राकट्यका एक प्रभाव बहता रहे और उस प्राकट्यका आत्मा पार्थिव प्रकृतिके ऊर्ध्वगामी प्रयासका नेतृत्व करता रहे। यह मनुष्यको दिव्य मानवताके एक ऐसे आध्यात्मिक सांचेको देनेके लिये होता है जिसमें मनुष्यका जिज्ञासु अंतरात्मा अपने-आपको ढाल दे सके। यह एक ऐसे धर्मको देनेके लिये—किसी संप्रदाय या मतविशेषमात्रको नहीं, बल्कि आंतर और बाह्य जीवन-यापनकी एक प्रणालीको देनेके लिये—आत्म-संस्कारक एक मार्ग, एक नियम और विधानको देनेके लिये होता है जिसके द्वारा मनुष्य दिव्यताकी ओर बढ़ सके। चूंकि मनुष्यका इस प्रकार आगे बढ़ना, इस प्रकार आरोहण करना मात्र पृथकीभूत और वैयक्तिक व्यापार ही नहीं है, बल्कि भगवान्के समस्त जगत्-कर्मकी तरह एक सामूहिक व्यापार है, मानव-जातिमात्रके लिये किया गया एक कर्म है इसलिये

अवतारका आना मानव-यात्राकी सहायताके लिये, मानव-जातिके महान् संकट-कालके समय जनताको एक साथ रखनेके लिये, अधोगामी शक्तियां जब बहुत अधिक बढ़ जाती हैं तब उन्हें चूर्ण-विचूर्ण करनेके लिये, मनुष्यके अंदर जो भगवन्मुखी महान् धर्म है उसकी स्थापना या रक्षाके लिये, भगवान्‌के साम्राज्यको (फिर चाहे वह कितना ही दूर क्यों न हो) जमानेके लिये, प्रकाश और पूर्णताके साधकों (साधुनां) को विजय दिलानेके लिये और जो लोग अशुभ और अंधकारको बनाये रखनेके लिये युद्ध करते हैं उनके विनाशके लिये भी होता है। अवतारके आनेके ये सब सर्वमान्य हेतु हैं और अवतारके कर्मको देखकर ही जनसमुदाय उन्हें विशिष्ट पुरुष जानता और उन्हें पूजनेको तैयार होता है। केवल आध्यात्मिक मनुष्य ही यह देख पाते हैं कि अवतारका यह बाह्य पहलू सनातन आंतर परमेश्वरका ही मानव-जीवनके रूपमें एक चिह्न है, जो मनुष्यकी अपनी मनोभूमि और शरीरके क्षेत्रमें इसलिये प्रकट होते हैं कि मनुष्य उनके साथ एक हो जाय और उनके अधिकारमें आ जाय। बाह्य मानव-रूपमें ईसा, बुद्ध या कृष्णका जो दिव्य प्राकट्य होता है और मनुष्यके अपने अंदरमें भगवान्‌के चिरंतन अवतारका जो प्राकट्य होता है उसके मूलमें एक ही गूढ़ सत्य है। जो कुछ अवतारोंके द्वारा इस पृथ्वीपरके मानव-जीवनमें किया गया है वह समस्त मानव-प्राणियोंके अंदर दोहराया जा सकता है।

अवतार लेनेका यही उद्देश्य होता है, पर इसकी प्रणाली क्या है? सबसे पहले हम अवतारके संबंधमें उस यौक्तिक या संकीर्ण विचारको देखें जिसको केवल इतना ही दिखायी देता है कि अवतार किन्हीं उन नैतिक, बौद्धिक और क्रियात्मक दिव्यतर गुणोंकी असाधारण अभिव्यक्ति-मात्र होते हैं, जो गुण औसत दर्जेके मनुष्यमें नहीं पाये जाते। इस

विचारमें अवश्य ही कुछ सत्य है। अवतार विभूति भी हैं। ये श्रीकृष्ण जो अपनी अन्तःसत्तामें मानव-शरीरधारी स्वयं ईश्वर हैं, वे ही अपनी बाह्य मानव-सत्तामें अपने युगके नेता, वृष्णिकुलके महापुरुष हैं। प्रकृतिके दृष्टिकोणसे यह बात ऐसी ही है, आत्माकी दृष्टिसे नहीं। भगवान् अपनी प्रकृतिके अनंत गुणोंमें-से होकर अपने-आपको प्रकट करते हैं और इस प्राकट्यका तारतम्य उन गुणोंकी शक्ति और सिद्धिसे जाना जाता है। इसलिये भगवान्‌की विभूति, नैर्व्यक्तिक भावसे उनके गुणोंकी अभिव्यक्त शक्ति है, वह उनका बहिःप्रवाह है चाहे वह ज्ञानके रूपमें हो अथवा शक्ति, प्रेम या बल अथवा अन्य किसी भी रूपमें; और वैयक्तिक भावसे यह वह मनोमय रूप और सजीव सत्ता है जिसमें वह शक्ति सिद्ध होती और अपने महत् कर्म साधन करती है। इस आंतर और बाह्य सिद्धिको प्राप्त करनेमें कोई प्रधानता, भागवत गुणकी कोई महत्तर शक्ति, कोई पुरअसर ताकत—यही विभूतिका लक्षण है। भागवत सिद्धिको प्राप्त करनेके लिये मानव-जाति जो दारुण प्रयास कर रही है उसका जो अग्रणी नेता (Hero) होता है उसीका नाम है मानव-विभूति। पाश्चात्य विद्वान् कारलाइलने उसीको 'हीरो' कहा है, वह एक शक्ति होती है भगवान्‌की मनुष्यके अंदर। "वृष्णियोंमें मैं वासुदेव (श्रीकृष्ण) हूं, पांडवोंमें धनंजय (अर्जुन) हूं, मुनियोंमें व्यास और कवियोंमें उशना कवि हूं," अर्थात् प्रत्येक कोटि या कक्षामें जो सर्वोत्तम है, प्रत्येक समूहमें जो सबसे महान् है, जिन-जिन गुणों और कर्मोंके द्वारा उस समूहकी विशिष्ट आत्मशक्ति प्रकट हुआ करती है उन-उन गुणों और कर्मोंका प्रकाश जिसके द्वारा सर्वोत्तम रूपसे प्रकट होता है वह ईश्वरकी विभूति है। जीवकी शक्तियोंका यह उत्कर्ष भागवत प्राकट्यके क्रममें एक अत्यंत आवश्यक कार्य है। कोई भी महान् पुरुष जो हमारी औसत

कक्षाके ऊपर उठ जाता है वह अपने उस कर्मसे साधारण मानव-जातिको ऊपर उठा देता है; वह हमारी भागवत संभावनाओंका एक सजीव आश्वासन होता है, परमेश्वरकी एक प्रतिश्रुति होता है, भागवत प्रकाशकी एक प्रभा होता है, भागवत शक्तिका एक उच्छ्वास होता है।

मनुष्योंके अंदर महामनस्वी और वीर पुरुषोंको देवताकी तरह पूजनेकी जो एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है उसके मूलमें यही सत्य है। भारतवासियोंका मन तो सभी बड़े-बड़े संत-महात्माओं, आचार्यों और पंथप्रवर्त्तकोंको अनायास ही आंशिक अवतार मान लेनेमें अभ्यस्त है और दक्षिणके वैष्णव तो अपने कुछ संतोंको भगवान् विष्णुके प्रतीकात्मक सचेतन शस्त्रोंके अवतार ही मानते हैं, क्योंकि सचमुच ही जितने महान् आत्मा हैं वे सब भगवान्की सचेतन शक्तियां और शस्त्र ही तो हैं, जिनसे ऊपरकी ओर आगे बढ़ने और विघ्न-बाधाओंसे संग्राम करनेका काम लिया जाता है। जीवनकी ओर देखनेकी किसी भी उस आध्यात्मिक दृष्टिमें इस प्रकारकी भावना अनुस्यूत होती ही है—और उसका होना अपरिहार्य है—जो यह कहती है कि वहांकी भागवत सत्ता और भागवत प्रकृति तथा हमारी मानव-सत्ता और मानव-प्रकृतिके बीच कोई ऐसी रेखा नहीं है जो मिटायी न जा सके; यह भावना मानवताके अंदर भागवत सत्ताके होनेकी ही भावना है। परंतु फिर भी विभूति अवतार नहीं है; यदि विभूति और अवतार एक ही होते तो अर्जुन, व्यास, उशना सब वैसे ही अवतार होते जैसे श्रीकृष्ण थे, चाहे उनमें अवतारपनकी शक्ति इनसे कुछ कम ही होती। परंतु दिव्य गुणका होना ही पर्याप्त नहीं है; अवतार होना तो तब कहा जा सकता है जब कि अपने परमेश्वर और परमात्मा होनेका आंतरिक ज्ञान हो और यह ज्ञान हो कि हम अपनी भागवत सत्तासे मानव-प्रकृतिका शासन कर रहे हैं। गुणोंकी

शक्तिका उत्कर्ष संभूति (भूतग्राम) का अंश है, सामान्य अभिव्यक्तिमें यह ऊर्ध्वकी ओर आरोहण है। पर अवतारमें एक विशेष अभिव्यक्ति होती है, यह दिव्य जन्म ऊपरसे होता है, सनातन विश्वव्यापक विश्वेश्वर व्यष्टिगत मानवताके एक आकारमें उतर आते हैं 'आत्मानं सृजामि'; और वे केवल परदेके अंदर ही अपने स्वरूपसे सचेतन नहीं रहते बल्कि बाह्य प्रकृतिमें भी उन्हें अपने स्वरूपका ज्ञान रहता है।

अवतार और विभूतिके बीचकी एक अधिक रहस्यमय भावना भी है और इस भावनामें यह समझा जाता है कि कोई मानव-आत्मा अपने अंदर भगवान्‌का आवाहन करके यह अवतरण कराता है और तब वह भागवत चैतन्यके अधिकारमें हो जाता अथवा उसका पुरअसर प्रतिबिंब या स्रोत-मार्ग बन जाता है। यह विचार किन्हीं आध्यात्मिक अनुभवोंके सत्यपर ही अवलंबित है। भगवान्‌के भावमें मनुष्यका जन्म-ग्रहण, अर्थात् मनुष्यके आरोहणका अर्थ है मानव-चैतन्यका भागवत चैतन्यमें संवर्द्धन, और यह आरोहण जब अपनी चरम अवस्थाको प्राप्त होता है तब पृथकीभूत आत्माका भागवत चैतन्यके अंदर लय हो जाता है। तब मनुष्यका अंतरात्मा अपने व्यष्टिभावको उस एक अनंत और विश्वव्यापक सत्तामें मिला देता या परात्पर सत्ताकी परा स्थितिमें खो देता है; वह आत्माके साथ, ब्रह्मके साथ, भगवान्‌के साथ एक हो जाता है अथवा जैसा कि प्रायः और भी अधिक निश्चित रूपसे कहा जाता है—वह स्वयं ही एकमेवाद्वितीय आत्मा, ब्रह्म, भगवान् बन जाता है। जीवके 'ब्रह्मभूत' होने और उसी कारण भगवान्‌में, श्रीकृष्णमें निवास करनेकी बात स्वयं गीता भी कहती है, पर यह ध्यानमें रहे कि गीताने कहीं भी यह नहीं कहा है कि जीव भगवान् या पुरुषोत्तम हो जाता है। हां, जीवके संबंधमें गीताने इतना अवश्य कहा है कि जीव सदा ही ईश्वर है, भगवान्‌की अंश-

सत्ता है (ममैवांशः)। कारण यह जो महामिलन है, यह जो उच्चतम भाव है वह आरोहणका ही एक अंग है; और यद्यपि यह वह दिव्य जन्म है जिसे प्रत्येक जीव प्राप्त होता है, पर यह परमेश्वरका नीचे उतर आना नहीं है, न यह अवतार लेना ही है, अधिक-से-अधिक, बौद्ध सिद्धांतके अनुसार इसे हम बुद्धत्वकी प्राप्ति कह सकते हैं, यह जीवका अपने अभीके जागतिक व्यष्टिभावसे जागकर अनंत परचैतन्यको प्राप्त होना है। इसमें अपने अवतार होनेकी आंतरिक चेतना अथवा अवतारके विशिष्ट कर्म नहीं भी हो सकते हैं।

फिर, भागवत चैतन्यमें प्रवेश करनेके फलस्वरूप यह हो सकता है कि भगवान् हमारी सत्ताके मानव-अंगोंमें प्रवेश कर जायं या उनके सामने प्रकट हो जायं और अपने-आपको मनुष्यकी प्रकृति, उसकी कर्मण्यता, उसके मन और शरीरतकमें ढाल दें; और तब यह कम-से-कम एक अंशावतार तो कहा ही जायगा। गीता कहती है कि ईश्वर हृद्देशमें निवास करते हैं,—अवश्य ही गीताका अभिप्राय सूक्ष्म शरीरके हृदयसे है जो भावावेगों, संवेदनों और मनोमय चेतनाका ग्रंथिस्थान है और जहां व्यष्टि-पुरुष भी अवस्थित है,—पर यहां वे परदेकी आड़में ही रहते हैं, अपनी मायासे अपने-आपको ढांके रहते हैं। परंतु ऊपर, उस लोकमें, जो हमारे अंदर है पर जो अभी हमारी चेतनाके परे है और जिसे प्राचीन तत्त्वदर्शियोंने स्वर्ग कहा है, वहां ये ईश्वर और यह जीव दोनों एक साथ एक ही स्वरूपमें प्रत्यक्ष होते हैं। इन्हींको कुछ संप्रदायोंकी सांकेतिक भाषामें पिता और पुत्र कहा गया है—पिता हैं भागवत पुरुष और पुत्र हैं भागवत मनुष्य जो उन्हींसे उन्हींकी परा प्रकृतिसे, परा मायासे निम्न-प्रकृतिमें, मानव-प्रकृतिमें जन्म लेते हैं। इन्हीं परा प्रकृति, परा माया-को जिनके द्वारा यह जीव अपरा मानव-प्रकृतिमें उत्पन्न होता है, कुमारी

माता (Virgin Mother)* कहा गया है। ईसाइयोंके अवतारवादका यही भीतरी रहस्य प्रतीत होता है; उनके त्रिमूर्ति (Trinity) में जो पिता हैं वे ऊपर इसी अंतःस्वर्गमें हैं; पुत्र अर्थात् गीताकी जीवभूता परा प्रकृति वह हैं जो इस लोकमें, इस मानव-शरीरमें दिव्य या देव-मनुष्य-के रूपमें आते हैं; और विशुद्ध आत्मा या ब्रह्म चैतन्य (Holy Spirit) वह है जो इन दोनोंको एक बना देता है और इसीके अंदर इन दोनों-का परस्पर व्यवहार होता है; क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि वह विशुद्ध आत्म-चैतन्य (Holy Spirit) ईसामें उतर आया था और इसी अवतरण-के फलस्वरूप ईसाके शिष्योंमें भी, जो सामान्य मानव-कोटिके थे, उस महत् चैतन्यकी क्षमता आ गयी थी।

परंतु यह भी संभव है कि परम पुरुष पुरुषोत्तमका उच्चतर भागवत चैतन्य स्वयं भी मनुष्यके अंदर उतर आवे और जीव-चैतन्य उसमें लय हो जाय। श्रीचैतन्यके समकालीन लोग यह बतला गये हैं कि वे अपनी साधारण चेतनामें भगवान्‌के केवल एक प्रेमी और भक्त थे और यह नहीं चाहते थे कि कोई उन्हें भगवान् कहकर पूजे, किंतु कभी-कभी वे एक ऐसे विलक्षण भावमें आ जाते थे कि उस अवस्थामें वे स्वयं भगवान् ही हो जाते तथा भगवद्‌भावसे ही भाषण और कर्माचरण करते थे; और ऐसे समय उनके अंदरसे भगवत्-सत्ताके प्रकाश, प्रेम और शक्तिका अबाध प्रवाह उमड़ पड़ता था। अब, मान लीजिये कि,

---

* बौद्ध आख्यायिकामें गौतम बुद्धकी माताका जो नाम है वह इस सांकेतिक भाषाको खोल देता है; ईसाइयोंके यहां यह संबंध सुपरिचित पौराणिक कथाओंकी रचनाप्रणालीके अनुसार नाजारेथके ईसाकी मानुषी माताके साथ जोड़ दिया गया है।

जीवनकी यदि यही सामान्य अवस्था हो जाय और मनुष्य इस भागवत सत्ता और भागवत चैतन्यका केवल एक पात्र ही बना रहे तो अवतार-संबंधी इस मध्यवर्त्ती भावनाके अनुसार ऐसे पुरुषको अवतार कहनेमें क्या आपत्ति हो सकती है। मनुष्य-बुद्धिकी धारणाके अनुसार अवतारसंबंधी यह भावना ठीक ही तो जंचती है; क्योंकि यदि मानव-प्राणी अपनी प्रकृतिको इतना उन्नत कर ले कि उसे भागवत सत्ताके साथ एकत्व अनुभव हो और वह भगवान्‌के चैतन्य, प्रकाश, शक्ति और प्रेमका एक स्रोत-मार्गसा बन जाय, उसका अपना संकल्प और व्यक्तित्व भगवान्‌के ही संकल्प और भावमें घुलमिलकर अपना पृथकत्व खो दे—क्योंकि यह भी एक मानी हुई आध्यात्मिक अवस्था है—तो मानव-जीवके अंदर, उसके संपूर्ण व्यक्तित्वको अधिकार करके, भगवान्‌का ही संकल्प, भगवान्‌की ही सत्ता और शक्ति, उन्हींके प्रेम, प्रकाश और चैतन्य प्रतिबिंबित हो सकते हैं, और यह जरा भी असंभव नहीं है। और इस प्रकारकी अवस्था मनुष्यका केवल आरोहण कर दिव्य जन्म और दिव्य स्वभावको प्राप्त होना ही नहीं है, बल्कि उसमें दिव्य पुरुषका उतर आना भी है, यह एक अवतार ही है।

परंतु गीता इसके भी आगे चलती है। गीताका तो साफ-साफ यह कहना है कि भगवान् स्वयं जन्म लेते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरे बहुतसे जन्म बीत चुके और अपने शब्दोंसे यह स्पष्ट कर देते हैं कि वे ग्रहणशील मानव-प्राणीमें उतर आनेकी बात नहीं कह रहे हैं, बल्कि भगवान्‌के ही बहुतसे जन्म ग्रहण करनेकी बात कह रहे हैं, क्योंकि यहां वे ठीक सृष्टिकर्त्ताकी भाषामें बोल रहे हैं और इसी भाषाका प्रयोग वे वहां भी करेंगे जहां वे अपनी जगत्-सृष्टिकी बात कहेंगे। "यद्यपि मैं प्राणियोंका अज अविनाशी ईश्वर हूं, तो भी मैं अपनी मायासे अपने-आपको सृष्ट

करता हूँ" अपनी प्रकृतिके कार्योंका अधिष्ठाता होकर। यहां ईश्वर और मानव-जीव या पिता और पुत्रकी, दिव्य मनुष्यकी कोई बात नहीं है, बल्कि केवल भगवान् और उनकी प्रकृतिकी बात है। भगवान् अपनी ही प्रकृतिके द्वारा मानव-आकार और प्रकारमें उतरकर जन्म लेते और यद्यपि वे मनुष्यके आकार, प्रकार और सांचेके अंदर रहकर कर्म करना स्वेच्छासे स्वीकार करते हैं, तो भी वे उसके अंदर भागवत चेतना और भागवत शक्तिको ले आते हैं और शरीरके अंदर प्रकृतिके जो कर्म होते हैं उनका नियमन वे उसके अंतःस्थित और ऊर्ध्वस्थित आत्मा रहकर करते हैं, "प्रकृतिं स्वां अधिष्ठाय"। ऊपरसे वे सदा ही शासन करते हैं, क्योंकि इसी तरह वे समस्त प्रकृतिका शासन करते हैं, और मनुष्य-प्रकृति भी इसके अंतर्गत है; अंदरसे भी वे सारी प्रकृतिका सदा ही शासन करते हैं, पर स्वयं छिपे हुए रहकर; यहां जो कुछ अंतर है वह यह है कि अवतारमें वे अभिव्यक्त रहते हैं, प्रकृतिको ईश्वर-रूपमें भगवान्‌की सत्ताका, अंतर्यामीका सचेतन ज्ञान रहता है, यहां प्रकृतिका संचालन ऊपरसे उनकी गुप्त इच्छाके द्वारा 'स्वर्गस्थ पिताकी प्रेरणाके द्वारा' नहीं होता, बल्कि भगवान् अपने प्रत्यक्ष प्रकट संकल्पसे ही प्रकृतिका संचालन करते हैं। यहां किसी मनुष्यको मध्यस्थ बनानेके लिये कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि यहां 'भूतानां' ईश्वर अपनी प्रकृतिका आश्रय करके, किसी जीवकी विशिष्ट प्रकृतिका नहीं, मानव-जन्मके जामेको ओढ़ लेते हैं।

बात बड़ी विलक्षण है, जल्दी समझमें आनेवाली नहीं, मनुष्यकी बुद्धिके लिये इसे ग्रहण कर लेना आसान नहीं; इसका कारण भी स्पष्ट है—अवतार हैं तो स्पष्ट रूपसे मनुष्यके जैसे ही। अवतारके सदा दो रूप होते हैं—भागवत रूप और मानवरूप; भगवान् ओढ़ लेते हैं मानव-प्रकृतिको, उसकी सारी बाह्य सीमाओंको और उसीको बना लेते हैं भाग-

वत चैतन्य और भागवत शक्तिकी परिस्थिति, साधन और करण; दिव्य जन्म और दिव्य कर्मका एक पात्र । और यही तो होना चाहिये; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो अवतारके अवतरणका उद्देश्य ही पूर्ण नहीं हो सकता। अवतरणका उद्देश्य तो यही दिखलाना है कि मानव-जन्म मनुष्य-की सब सीमाओंके रहते हुए भी दिव्य जन्म और दिव्य कर्मका साधन और करण बनाया जा सकता है, अभिव्यक्त किये हुए दिव्य चैतन्यके साथ मानव-चैतन्यका मेल बैठाया जा सकता है, उसका धर्मांतर करके वह दिव्य चैतन्यका एक पात्र बनाया जा सकता है, और उसके सांचेको रूपां-तरित करके तथा उसके प्रकाश, प्रेम, सामर्थ्य और पवित्रताकी शक्तियोंको ऊपर उठा करके वह दिव्य चैतन्यके अधिक समीप लाया जा सकता है। और यह सब कैसे किया जा सकता है, यह दिखलाना भी अवतारके उद्देश्यमें शामिल है। यदि अवतारके द्वारा अद्भुत चमत्कार ही हुआ करें, जो मनुष्यके सामान्य जीवनमें संभव नहीं, तो इससे अवतरणका उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता। असाधारण अथवा अद्भुत चमत्काररूप अवतारके होनेका कुछ मतलब ही नहीं होता। तब यह भी जरूरी नहीं है कि अवतार असाधारण शक्तियोंका प्रयोग—जैसे कि ईसाके तत्कथित रोगियोंको आराम कर देनेवाले चमत्कार—करें ही नहीं, क्योंकि असा-धारण शक्तियोंका प्रयोग मानव-प्रकृतिकी संभावनाके बाहरकी बात नहीं है। परंतु इस प्रकारकी कोई शक्ति न भी हो तो उससे अवतारमें कोई कमी नहीं आती, न यह कोई मूल बात है, और यदि अवतारका जीवन केवल एक असाधारण आतशबाजीका खेल हो तो इससे भी काम नहीं चलेगा। अवतार कोई ऐंद्रजालिक जादूगर बनकर नहीं आते, प्रत्युत मनुष्य-जातिके भागवत नेता और भागवत मनुष्यके एक दृष्टांत होकर आते हैं। मनुष्योचित शोक और भौतिक दुःख भी उन्हें झेलने पड़ते

हैं और उनसे काम लेना पड़ता है जिससे कि वे यह दिखला सकें कि किस प्रकार इस शोक और दुःखको आत्मोद्धारका साधन बनाया जा सकता है। ईसाने दुःखोंको उठाकर यही दिखाया। फिर दूसरी बात उन्हें यह दिखलानी होती है कि मानव-प्रकृतिमें अवतरित भागवत आत्मा इस शोक और दुखको अपने ऊपर ओढ़ लेनेके बाद उसी प्रकृतिमें उसे किस प्रकार जीत सकता है। बुद्धने यही करके दिखाया था। जो बुद्धिवादी ईसासे यह कहकर चिल्लाया होता कि "अजी, तुम यदि ईश्वरके बेटे हो तो उतर आओ न इस सूलीपरसे," अथवा जो पंडितकी तरह यह बघार सकता है कि अवतार कोई ईश्वर नहीं थे क्योंकि उनकी तो मृत्यु हुई और सो भी रोगाक्रांत होकर—जैसे कोई पशु मरता है—वह बेचारा जानता ही नहीं कि वह क्या बक रहा है, क्योंकि उसे तो सारे विषयकी असलियतका ही पता नहीं लगा। भागवत आनंदके अवतारके आनेसे पहले शोक और दुःखको झेलनेवाले अवतारकी भी आवश्यकता होती है; मनुष्यकी सीमाको ओढ़ लेनेकी आवश्यकता होती है ताकि यह दिखाया जा सके कि इसे किस प्रकार पार किया जा सकता है। और यह सीमा किस प्रकार या कितनी दूरतक पार की जायगी, केवल आंतरिक रूपसे पार की जायगी या बाह्य रूपसे भी, यह बात मानव-जातिके उत्कर्षकी अवस्थापर निर्भर करेगी, यह सीमा किसी अमानव चमत्कारके द्वारा नहीं लांघी जायगी।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है और यही असलमें मनुष्यकी बुद्धिके लिये एकमात्र बड़ी समस्या है—क्योंकि यहांपर आकर मानव-बुद्धि अपनी ही सीमाके अंदर लुढ़कने-पुढ़कने लगती है—कि अवतारके द्वारा मानव मन-बुद्धि और शरीरका ग्रहण होता है तो कैसे? कारण इनकी सृष्टि अकस्मात् एक साथ इसी रूपमें नहीं हुई होगी, बल्कि भौतिक या

आध्यात्मिक या दोनों ही प्रकारके किसी विकासक्रमसे ही हुई होगी। इसमें संदेह नहीं कि अवतारका अवतरण दिव्य जन्मकी ओर मनुष्यके आरोहणके समान ही तत्त्वतः एक आध्यात्मिक व्यापार है; जैसा कि गीताके 'आत्मानं सृजामि' वाक्यसे जान पड़ता है,—यह आत्माका जन्म होता है। परंतु फिर भी इसके साथ एक भौतिक जन्म तो लगा ही रहता है। तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अवतारके मानव मन और शरीरका कैसे निर्माण होता है। यदि हम यह मान लें कि शरीर सदा ही वंशानुक्रमिक विकाससे निर्मित होता है, अचेतन प्रकृति और तदनुस्यूत प्राणशक्ति शरीर-निर्माणका यह कार्य किया करती है, इसमें व्यष्टिगत अंतरात्माके करनेकी कोई बात नहीं, तो मामला सीधा हो जाता है। तब यही मान लेना पड़ेगा कि किसी शुचि और महत् वंशके विकास-क्रमसे ही यह अन्नमय और मनोमय शरीर भगवत् अवतारके उपयुक्त तैयार होता है और तब अवतरित होनेवाले भगवान् उस शरीरको धारण कर लेते हैं। परंतु गीताके इसी अवतारवाले श्लोकमें ही पुनर्जन्मका सिद्धांत स्वयं अवतारके लिये भी हिम्मतके साथ घटाया गया है, और पुनर्जन्मके संबंधमें जो सामान्य मान्यता है वह यही है कि पुनर्जन्म ग्रहण करनेवाला जीव स्वयं ही अपने पिछले आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक विकासके अनुसार अपने मनोमय और भौतिक शरीरको निर्द्धारित करता या यों कहें कि तैयार करता है। जीव स्वयं ही अपना शरीर निर्माण करता है, उसका शरीर उससे पूछे बिना यों ही तैयार नहीं कर दिया जाता। तो क्या इससे हम यह समझ लें कि सनातन या सतत अवतार अपने अनुकूल अपना मनोमय और अन्नमय शरीर मानव-विकासकी आवश्यकता और गतिके अनुसार आप ही निर्माण करते और इस तरह युग-युगमें प्रकट हुआ करते हैं? इसी तरहके किसी एक भावसे

कुछ लोग विष्णुके दश अवतारोंकी व्याख्या करते हैं। पहले कई पशुमूर्ति, बादमें नरसिंहमूर्ति, तब वामनमूर्ति, उसके बाद दुर्द्धर्ष आसुरिक परशुराम, फिर देव-प्रकृति मानव महत्तर राम, इसके बाद सजग आध्यात्मिक बुद्ध, और कालके हिसाबसे पहले पर स्थानके हिसाबसे अंतिम, पूर्ण दिव्यभावापन्न मनुष्य श्रीकृष्ण—क्योंकि आखिरी अवतार कल्कि केवल श्रीकृष्णके द्वारा आरंभ किये हुए कर्मको ही संपन्न करते हैं, पहलेके अवतार समस्त संभावनाओंसे युक्त जिस महत् प्रयासको प्रस्तुत कर गये हैं, कल्कि उसीको शक्ति देकर सिद्ध करते हैं—इस प्रकार अवतारक्रम कुछ लोगोंके द्वारा बताया गया है। हमारी आधुनिक मनोवृत्तिके लिये इस व्याख्याको स्वीकार करना बहुत ही कठिन है, किंतु ऐसा मालूम होता है कि गीताकी भाषाका रुख इस ओर ही है। अथवा जब कि गीता इस समस्याका साफ तौरपर हल नहीं करती तब हम लोग अपने ही किसी दूसरे तरीकेसे इस प्रश्नको हल कर सकते और यह कह सकते हैं कि अवतारका शरीर तो जीवके द्वारा निर्माण होता है पर जन्मसे ही उसे धारण करते हैं भगवान्, अथवा यह भी कह सकते हैं कि इस शरीरको गीतोक्त 'चत्वारो मनवः' अर्थात् प्रत्येक मानव मन और शरीरके आध्यात्मिक पितर प्रस्तुत करते हैं। इस तरहसे कहना अवश्य ही गूढ़ रहस्यमय क्षेत्रकी गहराईमें प्रवेश करना है जिसकी बातें आधुनिक बुद्धिवादी लोग अभी तो सुनना ही नहीं चाहते; परंतु जब हमने अवतारका होना मान लिया तब रहस्यमय क्षेत्रमें तो प्रविष्ट हो ही गये और जब प्रविष्ट हो ही गये तब एक-एक कदम मजबूतीसे रखते हुए आगे बढ़ चलना ही उत्तम है।

सो ऐसा है गीताका अवतारविषयक सिद्धांत। भगवान्की अवतरण-प्रणालीका यहांतक जो विस्तार किया गया और इसी तरह इससे पहलेके अध्यायमें अवतारकी संभावनाके विषयमें जो आलोचना की गयी,

इसका कारण यही है कि इस प्रश्नको इसके सभी पहलुओंसे देखना और मनुष्यकी तर्कबुद्धिमें इस बारेमें जो कठिनाइयां खड़ी हो सकती हैं उनका सामना करना आवश्यक ही था। यह सही है कि भौतिक रूपमें ईश्वरके अवतार लेनेकी बातका गीतामें विशेष विस्तार तो नहीं है, पर गीताकी शिक्षाका जो क्रम है उसकी शृंखलामें इसका एक अपना विशिष्ट स्थान है जो गीताकी संपूर्ण योजनामें अनुस्यूत है। गीतारूपी चित्रका चौखटा तो यही है कि अवतार एक विभूतिको, उस मनुष्यको जो मात्र मानवताकी ऊंची-से-ऊंची अवस्थामें पहुंच चुका है दिव्य जन्म और दिव्य कर्मकी ओर ले जा रहे हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि मानव-जीवका उद्धार कर उसे अपने अंदर मिला लेनेके लिये मनुष्यके अपने अंदर भगवान्‌का अवतार लेना ही मुख्य बात है—इन्हीं आंतर कृष्ण, बुद्ध या ईसासे ही असली मतलब है। पर जिस प्रकार आंतर विकासके लिये बाह्य जीवन भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण साधन है, वैसे ही बाह्य अवतार भी इस महान् आध्यात्मिक अभिव्यक्तिके लिये किसी कदर कम महत्त्वकी वस्तु नहीं है। मानसिक और शारीरिक प्रतीककी परिपूर्णता आंतर सद्वस्तुके विकासमें सहायक होती है; पीछे यही आंतर सद्वस्तु और भी अधिक शक्तिमत्ताके साथ बाह्य जीवनके द्वारा अपने अधिक उत्कृष्ट रूपमें अपने-आपको प्रकट करती है। इस प्रकार आध्यात्मिक सद्वस्तु और मानसिक तथा भौतिक अभिव्यक्तिके बीच परस्पर सतत आदान-प्रदान चल रहा है और इन्हीं दो भावोंके द्वारा मानुषी तनुमें स्थित भगवान् कभी अपने गुह्य भावसे और कभी अपने प्रकट भावसे अपने प्राकट्यका विकास-साधन कर रहे हैं।

---

# दिव्य जन्म और दिव्य कर्म

भगवान्के जन्मके समान ही उनके उस कर्मका भी, जिसके लिये उनका अवतार हुआ करता है द्विविध भाव और द्विविध रूप होता है। क्रिया और प्रतिक्रियाके जिस विधानके द्वारा तथा उत्थान और पतनरूपी जिस सहज व्यवस्थाके द्वारा प्रकृति अग्रसर होती है उस विधान और व्यवस्थाके होते हुए भी भागवत धर्मकी रक्षा और पुनर्गठनके लिये इस बाह्य जगत्पर भागवत शक्तिकी जो क्रिया होती है, यही है दिव्य कर्मका बाह्य पहलू, और यह भागवत धर्म ही मानव-जातिके भगवन्मुख प्रयासको समस्त विघ्न-बाधाओंसे उबारकर निश्चित रूपसे आगे बढ़ाता रहता है। इसका आंतर पहलू यह है कि भगवन्मुख चैतन्यकी दिव्य शक्ति, व्यक्तिके और जातिके आत्मापर क्रिया करती है ताकि वह मानवरूपमें अवतरित भगवान्के नये-नये प्रकाशको ग्रहण कर सके और अपने ऊर्ध्वमुखी आत्म-विकासकी शक्तिको बनाये रख सके, उसमें एक नवजीवन ला सके और उसे समृद्ध कर सके। अवतारका अवतरण केवल किसी महान् बाह्य कर्मके लिये नहीं होता जैसा कि कर्मप्रवण मनुष्य समझा करते हैं। कर्म और बाह्य घटना स्वयं अपना कोई मूल्य नहीं रखते, उनका मूल्य उस शक्तिपर आश्रित है जिसकी ओरसे वे होते हैं और उस भावपर आश्रित

है जिसके वे प्रतीक होते हैं, और उस भावको सिद्ध करना ही उस शक्तिका काम होता है।

जिस संकटकी अवस्थामें अवतारका आविर्भाव होता है वह बाहरी नजरमें बाह्य घटनाओं और जड़ जगत्‌में महत् परिवर्तन करनेवाले कार्योंके होनेका एक असाधारणसा काल प्रतीत होता है। परंतु इसके वास्तविक मूल अभिप्रायको देखें तो यह मालूम होगा कि यह संकट मानव-चेतनामें तब आता है जब उस चेतनाका कोई महान् परिवर्तन, कोई नवीन विकास होनेवाला होता है। इस परिवर्तनको करनेके लिये किसी दिव्य शक्तिकी आवश्यकता होती है, किंतु शक्तिका यह नियम है कि जिस कोटिकी चेतनाको लेकर वह काम करती है, स्वयं भी उसी प्रकारकी बन जाती है; इस लिये भागवत शक्तिके द्वारा किसी कर्मके होनेके लिये यह आवश्यक है कि पहले मनुष्यके अंतःकरण और अंतरात्मामें भागवत चैतन्यका आविर्भाव हो। जहां कोई ऐसा परिवर्तन करना होता है जो मुख्यत: बौद्धिक और लौकिक है, वहाँ अवतारके आनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती; मानव-चेतना स्वयं ऊपर उठ जाती है, शक्तिकी एक महान् अभिव्यक्ति होती है जिसके फलस्वरूप मनुष्य अपनी साधारण अवस्थासे ऊपर उठ जाते हैं और चेतना और शक्तिकी यह लहर कुछ असाधारण व्यक्तियोंमें अपनी पराकाष्ठाको प्राप्त होती है और इन्हीं असाधारण व्यक्तियोंको विभूति कहते हैं; इन विभूतियोंका कर्म सर्वसाधारण मानव-जातिके कर्मका नेतृत्व करता है और यह उद्दिष्ट परिवर्तनके लिये पर्याप्त होता है। युरोपका धर्मविप्लव (Reformation) और फ्रांसकी राज्यक्रांति (French Revolution) इसी प्रकारके संकट थे; ये कोई महान् आध्यात्मिक घटनाएं नहीं बल्कि बौद्धिक और लौकिक परिवर्तन थे। एकमें धार्मिक तथा दूसरेमें सामाजिक और राजनीतिक भावनाओं,

रूपों और प्रेरक-भावोंका परिवर्तन हुआ और इसके फलस्वरूप जन-साधारणकी चेतनामें जो कुछ फेरफार हुआ वह बौद्धिक और लौकिक था, आध्यात्मिक नहीं। पर जब किसी संकटके मूलमें कोई आध्यात्मिक बीज या हेतु होता है तब मानव मन और अंतरात्मामें प्रवर्तक और नेताके रूपसे भागवत चैतन्यका पूर्ण या आंशिक प्रादुर्भाव होता है। यही अवतार है।

अवतारके बाह्य कर्मका वर्णन गीता में "धर्मसंस्थापनाय" कहकर किया गया है; जब-जब धर्मकी ग्लानि या ह्रास होता है, उसका बल क्षीण हो जाता है और अधर्म सिर उठाता, प्रबल होता और अत्याचार करता है तब-तब अवतार आते और धर्मको फिरसे शक्तिशाली बनाते हैं। जो बातें विचारके अंतर्गत होती हैं वे कर्मके द्वारा तथा विचारोंकी प्रेरणाका अनुगमन करनेवाले मानव-प्राणीके द्वारा प्रकट होती हैं, इसलिये सर्वथा मानव और लौकिक भाषामें अवतारका काम है प्रतिगामी अंधकारके राज्यके द्वारा सताये गये धर्मके अन्वेषकोंकी रक्षा करना (परित्राणाय साधूनां) और अधर्मको बनाये रखना चाहनेवाले दुष्टोंका नाश करना। परंतु इस बातको कहनेमें गीताने जिन शब्दोंका प्रयोग किया है उनकी ऐसी संकीर्ण और अधूरी व्याख्या भी की जा सकती है कि जिससे अवतारका आध्यात्मिक गभीर अर्थ जाता रहे। धर्म एक ऐसा शब्द है कि इसका नैतिक और व्यावहारिक, प्राकृतिक और दार्शनिक, धार्मिक और आध्यात्मिक, सब ही प्रकारका अर्थ होता है और इनमेंसे किसी भी अर्थमें इस शब्दका इस तरहसे प्रयोग किया जा सकता है कि उसमें अन्य अर्थोंकी गुंजायश न हो, उदाहरणार्थ इसका केवल नैतिक अथवा केवल दार्शनिक या केवल धार्मिक ही अर्थ किया जा सकता है। नैतिक रूपसे सदाचारके नियमको, जीवनचर्यासंबंधी नैतिक विधानको अथवा और भी बाह्य और व्यावहारिक अर्थमें सामाजिक और

राजनीतिक न्यायको या केवल सामाजिक नियमोंके पालनको धर्म कहा जाता है। यदि इसी अर्थमें हम इस शब्दको ग्रहण करें तो इसका यही अभिप्राय हुआ कि जब अनाचार, अन्याय और दुराचारका प्राबल्य होता है तब भगवान् अवतार लेकर सदाचारियोंको बचाते और दुराचारियोंको नष्ट करते हैं, अन्याय और अत्याचारको रौंद डालते और न्याय और सद्व्यवहारको स्थापित करते हैं।

कृष्णावतारका प्रसिद्ध पौराणिक वर्णन इसी प्रकारका है—कौरवोंका अत्याचार दुर्योधनादिके द्वारा इतना बढ़ा कि पृथिवीके लिये उसका भार असह्य हो उठा और पृथिवीको भगवान्से अवतार लेने और उसका भार हल्का करनेकी प्रार्थना करनी पड़ी; तदनुसार विष्णु कृष्णरूपसे अवतीर्ण हुए, उन्होंने अत्याचारपीड़ित पांडवोंका उद्धार किया और अन्यायी कौरवोंका संहार किया। इसके पूर्व अन्यायी अत्याचारी रावणका वध करनेके लिये विष्णुका जो रामावतार हुआ अथवा क्षत्रियोंकी उद्दंडताको नष्ट करनेके लिये जो परशुरामावतार हुआ या दैत्यराज बलिके राज्यको मिटानेके लिये जो वामनावतार हुआ उसका भी ऐसा ही वर्णन है। परंतु यह प्रत्यक्ष है कि पुराणोंके इस प्रसिद्ध वर्णनसे, कि अवतार इस प्रकारके किसी सर्वथा व्यावहारिक, नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक कर्मको करनेके लिये आते हैं, अवतारके कृत्यका सच्चा हिसाब नहीं मिलता। इस वर्णनमें अवतारके आनेका जो आध्यात्मिक हेतु है वह छूट जाता है; और यदि इस बाह्य प्रयोजनको ही हम सब कुछ मान लें तो बुद्ध और ईसाको हमें अवतारोंकी कक्षासे अलग कर देना होगा, क्योंकि इनका काम तो दुष्टोंको नष्ट करने और शिष्टोंको बचानेका नहीं; बल्कि अखिल मानव-समाजको एक नया आध्यात्मिक संदेश सुनाना तथा दिव्य विकास और आध्यात्मिक सिद्धिका एक नया विधान दे जाना था। धर्म शब्दको

फिर यदि हम केवल धार्मिक अर्थमें ही ग्रहण करें अर्थात् इसे धार्मिक और आध्यात्मिक जीवनका एक विधान मानें तो हम इस विषयके मूलमें तो जरूर पहुँचेंगे, किंतु इसमें भी यह भय है कि अवतारके एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्यको कहीं हम अपनी दृष्टिके ओट न कर दें। भगवद्-वतारोंके इतिहासमें सर्वत्र ही यह देख पड़ता है कि उनका कार्य द्विविध होता है और यह, अपरिहार्य है, और द्विविध होनेका कारण यह है कि अवतीर्ण भगवान् मानव-जीवनमें होनेवाले भगवत्-कार्यको ही अपने हाथमें उठा लेते हैं, जगत्में जो भगवत्-इच्छा और भगवत्-ज्ञान काम कर रहे हैं, उन्हींका अनुसरण कर अपना कार्य करते हैं और यह कार्य सदा ही आंतर और बाह्य दो प्रकारसे सिद्ध होता है—अंतरात्म-प्रदेशमें आंतरिक उन्नतिके द्वारा और जागतिक जीवनमें बाह्य परिवर्तनके द्वारा।

भगवान्का अवतार हो सकता है कि किसी महान् आध्यात्मिक गुरु या त्राताके रूपमें हो, जैसे बुद्ध और ईसा, किंतु सदा ही उनकी पार्थिव अभिव्यक्तिकी समाप्तिके बाद भी उनके कर्मके फलस्वरूप जातिके केवल नैतिक जीवनमें ही नहीं बल्कि उसके सामाजिक और बाह्य जीवन और आदर्शोंमें भी एक गभीर और शक्तिशाली परिवर्तन हो जाता है। दूसरी ओर, हो सकता है कि वे दिव्य जीवन, दिव्य व्यक्तित्व और दिव्य शक्तिके अवतार होकर आवें, अपने दिव्य कर्मको करनेके लिये, जिसका उद्देश्य बाहरसे सामाजिक, नैतिक और राजनीतिक ही दिखायी देता हो, जैसा कि राम और कृष्णकी कथाओंमें बताया गया है, फिर भी सदा ही यह अवतरण जातिके आत्माके अंदर उसके आंतरिक जीवनके लिये और उसके आध्यात्मिक नवजन्मके लिये एक स्थायी शक्तिका काम करता है। यह एक अनोखी बात है कि बौद्ध और ईसाई धर्मोंका स्थायी, जीवंत तथा विश्वव्यापक फल यह हुआ कि जिन मनुष्यों तथा कालोंने इनके धार्मिक

और आध्यात्मिक मतों, रूपों और साधनाओंका परित्याग कर दिया उन-पर भी इन धर्मोंके नैतिक, सामाजिक और व्यावहारिक आदर्शोंका शक्तिशाली प्रभाव पड़ा। पीछेके हिंदुओंने बुद्धदेव, उनके संघ और धर्मको अमान्य कर दिया, पर बुद्धधर्मके सामाजिक और नैतिक प्रभावकी अमिट छाप उनपर पड़ी हुई है और हिन्दूजातिका जीवन और आचार-विचार उससे प्रभावान्वित है। आधुनिक युरोप नाममात्रको ही ईसाई है, पर इसमें जो मानवदयाका भाव है वह ईसाई धर्मके आध्यात्मिक सत्यका ही नैतिक और सामाजिक रूपांतर है, और इसमें स्वाधीनता, समता और विश्वबंधुताकी जो अभीप्सा है वह ईसाई धर्मके ही आध्यात्मिक सत्यका सामाजिक और राजनीतिक रूपांतर है; और स्वाधीनता, समता और विश्वबंधुताकी यह अभीप्सा मुख्यतः उन लोगोंने की है जिन्होंने ईसाई धर्म और आध्यात्मिक साधनाको व्यर्थ तथा हानिकर बतलाकर त्याग दिया था और यह काम हुआ उस युगमें जिसने स्वतंत्रताके अपने बौद्धिक प्रयासमें ईसाई धर्मको धर्म मानना छोड़ देनेकी पूरी चेष्टा की थी। राम और कृष्ण-की जीवनलीला ऐतिहासिक कालके पूर्वकी है, काव्य और आख्यायिकाके रूपमें हमें प्राप्त हुई है और इसे हम चाहें तो केवल काल्पनिक कहानी भी कह सकते हैं; पर चाहे काल्पनिक कहानी कहिये या ऐतिहासिक तथ्य मानिये, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं; क्योंकि उनके चरित्रोंका जो शाश्वत सत्य और महत्त्व है वह तो इस बातमें है कि ये चरित्र जातिकी आंतरिक चेतना और मानवजीवके जीवनमें सदाके लिये एक आध्यात्मिक रूप, सत्ता और प्रभावके रूपमें अमर हो गये हैं। अवतार दिव्य जीवन और चैतन्यके एक तथ्य हैं; वे किसी बाह्य कर्ममें भी उतर सकते हैं, पर उस कर्मके हो चुकने और उनका कार्य पूर्ण होनेके बाद भी उस कर्मका आध्यात्मिक प्रभाव तो बना ही रहता है; अथवा वे किसी

आध्यात्मिक प्रभावको प्रकटाने और किसी धार्मिक शिक्षाको देनेके लिये भी प्रकट हो सकते हैं, किंतु उस हालतमें भी, उस नये धर्म या साधनाके क्षीण हो चुकनेपर भी, मानव-जातिके विचार, उसकी मनोवृत्ति और उसके बाह्य जीवनपर उनका स्थायी प्रभाव बना ही रहता है।

इसलिये अवतार-कार्यके गीतोक्त वर्णनको ठीक तरहसे समझनेके लिये यह आवश्यक है कि हम धर्म शब्दके अत्यंत पूर्ण, अत्यंत गभीर और अत्यंत व्यापक अर्थको ग्रहण करें, धर्मको वह आंतर और बाह्य विधान समझें जिसके द्वारा भागवत संकल्प और भागवत ज्ञान मानव-जातिका आध्यात्मिक विकास साधन करते और जातिके जीवनमें उसकी विशिष्ट परिस्थितियां और उनके परिणाम निर्माण करते हैं। भारतीय धारणाके हिसावसे धर्म केवल शुभ, उचित, सदाचार, न्याय और आचारनीति ही नहीं है, बलिक अन्य प्राणियोंके साथ, प्रकृति और ईश्वरके साथ मनुष्यके जितने भी संबंध हैं उन सबका संपूर्ण नियमन है और यह नियामक तत्त्व ही वह दिव्य धर्मतत्त्व है जो जगत्के सब रूपों और कर्मोंके द्वारा, आंतर और बाह्य जीवनके विविध आकारोंके द्वारा तथा जगत्में जितने प्रकारके भी परस्पर-संबंध हैं उनकी व्यवस्थाके द्वारा अपने-आपको सिद्ध करता रहता है। धर्म* वह है जिसे हम धारण करते हैं और वह भी जो हमारी सब आंतर और बाह्य क्रियाओंको एक साथ धारण किये रहता है। धर्म शब्दका प्राथमिक अर्थ हमारी प्रकृतिका वह मूल विधान है जो गुप्त रूपसे हमारे सब कर्मोंको नियत करता है और इसलिये इस दृष्टिसे प्रत्येक जीव, प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक जाति, प्रत्येक व्यक्ति और समूहका अपना-अपना एक विशिष्ट धर्म होता है। दूसरी बात यह है कि हमारे अंदर जो भागवत प्रकृति है उसे भी तो हमारे अंदर विकसित और व्यक्त होना है, और इस

*धर्म शब्द 'धृ' धातुसे बनता है जिसका अर्थ है धारण करना।

दृष्टिसे धर्म अंत:क्रियाओंका वह विधान है जिसके द्वारा भागवत प्रकृति हमारी सत्ताके अंदर विकसित होती है। फिर एक तीसरी दृष्टिसे धर्म वह विधान है जिससे हम हमारे बहिर्मुखी विचार, कर्म और पारस्परिक संबंधोंका नियंत्रण करते हैं ताकि भागवत आदर्शकी ओर उन्नत होनेमें हमारी और मानव-जातिकी अधिक-से-अधिक सहायता हो।

धर्मको साधारणतया सनातन और अपरिवर्तनीय कहा जाता है, और इसका मूल तत्त्व और आदर्श है भी ऐसा ही; पर इसके रूप निरंतर बदला करते हैं, उनका विकास होता रहता है; कारण मनुष्य अभी उस आदर्शको प्राप्त नहीं है या यह कहिये कि उसमें अभी उसकी स्थिति नहीं है; अभी तो इतना ही है कि मनुष्य उसे प्राप्त करनेकी अधूरी या पूरी इच्छा कर रहा है, उसके ज्ञान और अभ्यासकी ओर आगे बढ़ रहा है। और यह जो आगे बढ़ना है इसमें धर्म वही है जिससे भागवत पवित्रता, विशालता, ज्योति, स्वतंत्रता, शक्ति, बल, आनंद, प्रेम, शुभ, एकता, सौंदर्य हमें अधिकाधिक प्राप्त हों। इसके विरुद्ध इसकी परछाईं और इनकार डटा हुआ है, अर्थात् वह सब कुछ जो इसकी वृद्धिका विरोध करता है, जो इसके विधानके अनुगत नहीं हुआ है, वह सब कुछ जो भागवत संपदाके रहस्यको न तो सुपुर्द किया है न सुपुर्द करनेकी इच्छा रखता है, बल्कि जिन-जिन बातोंको मनुष्यको अपनी प्रगतिके मार्गमें पीछे छोड़ जाना है, जैसे कि अशुचिता, संकीर्णता, बंधन, अंधकार, दुर्बलता, नीचता, असामंजस्य, दुःख, पार्थक्य, बीभत्सता और असंस्कृति आदि, एक शब्दमें जो कुछ धर्मका विकार और प्रत्याख्यान है उस सबका मोरचा बनाकर सामने डट जाता है। यही अधर्म है जो धर्मसे लड़ता और उसे जीतना चाहता है, जो उसे पीछे और नीचेकी ओर खींचना चाहता है, यही वह प्रतिगामी शक्ति है जो अशुभ, अज्ञान और अंधकारका रास्ता

साफ करती है। इन्हीं दोके बीच सतत संग्राम और संघर्ष चल रहा है; कभी इस पक्षकी विजय होती है, कभी उस पक्षकी; कभी ऊपरकी ओर ले जानेवाली शक्तियोंकी जीत होती है तो कभी नीचेकी ओर खींचनेवाली शक्तियोंकी। मानव-जीवन और मानव-आत्मापर अधिकार जमाने के लिये यह जो संग्राम होता है इसीको वेदोंने देवासुरसंग्राम कहा है (देवता अर्थात् प्रकाश और अविभाजित अनंतताके पुत्र, असुर अर्थात् अंधकार और भेदकी संतान); जरथुष्टके मतमें यही अहुर्मज्द-अहिर्मन-संग्राम है और पीछेके धर्मसंप्रदायोंमें इसीको ईश्वर और उनके फिरिश्तोंके साथ शैतान या इबलिस और उनके दानवोंका संग्राम कहा गया है।

इन्हीं सब बातोंसे अवतारके कर्मका स्वरूप निश्चित और निर्द्धारित हुआ करता है। बौद्धमतावलंबी साधक अपनी मुक्तिके विरुद्ध जो-जो कुछ है उससे अलग हटकर धर्म, संघ और बुद्ध, इन तीन शक्तियोंकी शरण लेते हैं। ईसाई मतमें भी ईसाई जीवनचर्या, गिरिजाघर और स्वयं ईसा हैं। अवतारके कार्यमें ये तीन बातें अवश्य होती ही हैं। अवतार एक धर्म बतलाते हैं, आत्म-अनुशासनका एक धर्म बतलाते हैं, जिससे कि मनुष्य निम्नतर जीवनसे निकलकर उच्चतर जीवनमें संवर्द्धित हों, और धर्ममें, सदा ही, कर्मके विषयमें तथा दूसरे-दूसरे मनुष्यों और प्राणियोंके साथ साधकका क्या संबंध होना चाहिये इस विषयमें एक विधान भी रहता है, जैसे कि अष्टांग-मार्ग अथवा श्रद्धा, प्रेम और पवित्रताका धर्म अथवा इसी प्रकारका और कोई धर्म जो अवतारके भागवत स्वभावमें प्रकट हुआ हो। इसके बाद, चूंकि मनुष्यकी प्रत्येक प्रवृत्तिके सामूहिक और वैयक्तिक दो पहलू होते हैं, चूंकि जो लोग एक ही मार्गका अनुसरण करते हैं उनमें स्वभावतः एक आध्यात्मिक साहचर्य और एकता स्थापित हो जाती है, इसलिये अवतार एक संघकी स्थापना

करते हैं, संघ अर्थात् उन लोगोंका सख्य और एकत्व जो अवतारके व्यक्तित्व और शिक्षाके कारण एक सूत्रमें बंध जाते हैं। यही त्रिक "भागवत, भक्त और भगवान्"के रूपसे वैष्णव धर्ममें भी है। वैष्णव धर्म-सम्मत उपासना और प्रेमका धर्म ही भागवत है, उस धर्मका जिन लोगोंमें प्रादुर्भाव होता है उन्हींका संघ-समुदाय भक्त कहाता है, और जिन प्रेमी और प्रेमास्पदकी सत्ता और स्वभावमें यह प्रेममय भागवत धर्म प्रतिष्ठित है और जिनमें ही इसकी पूर्णता होती है वही भगवान् हैं। अवतार त्रिकके इस तृतीय तत्त्वके विग्रह हैं, वे वह भागवत व्यक्तित्व, स्वभाव और सत्ता हैं जो इस धर्म और संघके आत्मा होते हैं, और इस धर्म और संघको वे अपने-आपके द्वारा अनुप्राणित करते हैं, उसे सजीव बनाये रखते हैं तथा मनुष्योंको आनंद और मुक्तिकी ओर आकर्षित करते हैं।

गीताकी शिक्षामें, जो अन्य विशिष्ट शिक्षाओं और साधनाओंकी अपेक्षा अधिक उदार और बहुमुखी है, ये तीन बातें भी बहुत व्यापक अर्थमें प्रयुक्त हुई हैं। यहां जो एकता है वह सब कुछको अपनेमें मिला लेनेवाली वह वैदांतिक एकता है जिसके द्वारा जीव सबको अपने अंदर और अपने-आपको सबके अंदर देखता और सब प्राणियोंके साथ अपने-आपको एक कर लेता है। इसलिये सब प्रकारके मानव-संबंधोंको एक उच्चतर दिव्य अभिप्रायके अंदर ले आना ही धर्म है। भगवान्‌की खोज करनेवाला साधक जिस समाजमें रहता है उस समग्र मानव-समाजको एक सूत्रमें बांध रखनेवाले नैतिक, सामाजिक और धार्मिक विधानसे आरंभ कर यह धर्म उस विधानको ब्राह्मीचेतनाद्वारा अनुप्राणित करके उसे ऊपर उठा देता है; और जो विधान यह देता है वह है एकताका विधान, समताका विधान, मुक्त निष्काम भगवत्परिचालित कर्मका विधान, ईश्वर-ज्ञान और आत्म-ज्ञानका वह विधान जो समस्त प्रकृति और समस्त कर्मको

अपनी ओर खींचता और आलोकित करता है, मानव-समाजको भागवत सत्ता और भागवत चेतनाकी ओर आकर्षित करता है, तथा भगवत्-प्रेम-का वह विधान जो ज्ञान और कर्मकी परमशक्ति है, चरम सिद्धि है। गीतामें प्रेम और भक्तिके द्वारा भगवान्को पानेकी साधना जहांपर बतलायी गयी है वहां ही संघ और भागवत भक्तोंके भगवत्प्रेम और भगवदनुसंधानके अंदर सख्य और परस्पर-साहाय्यका जो मूल भाव है वह आ गया है, पर गीताकी शिक्षाका असली संघ तो समग्र मानव-जाति है। सारा जगत् और अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार प्रत्येक मनुष्य भी इसी धर्मकी ओर जा रहा है। "यह मेरा ही तो मार्ग है जिसपर सब मनुष्य चले आ रहे हैं, (मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः)।" और वह भगवदन्वेषक जो सबके साथ एक हो जाता, सबके सुख-दुःख तथा समस्त जीवनको अपना सुख-दुःख और जीवन बना लेता है, वह मुक्त पुरुष जो सब भूतोंके साथ एकात्मभावको प्राप्त हो चुका है, वह समग्र मानव-जातिके जीवनमें ही वास करता है, मानव-जातिके अखिलांतरात्माके लिये, सर्वभूतांतरात्मा भगवान्के लिये ही जीता है, वह लोकसंग्रहके लिये अर्थात् सबको अपने-अपने विशिष्ट धर्ममें और सबका जो एक धर्म है उसमें स्थित रखनेके लिये, भगवान्की ओर उन्हें सब अवस्थाओं और सब मार्गोंसे होकर ले जानेके लिये ही, कर्म करता है। क्योंकि अवतार इस स्थलपर यद्यपि श्रीकृष्णके नाम और रूपमें प्रकट हैं पर वे अपने मानव-जन्मके इस एक रूपपर ही जोर नहीं दे रहे हैं; बल्कि उन भगवान् पुरुषोत्तमकी बात कह रहे हैं जिनका ही यह एक रूप है, समस्त अवतार जिनके ही मानव-जन्म हैं और मनुष्य जिन-जिन देवताओंके नाम और रूपकी पूजा करते हैं, वे सब भी उन्हींके रूप हैं। श्रीकृष्णने जिस मार्गका वर्णन किया है वह यद्यपि यह कहकर घोषित किया

गया है कि यही वह मार्ग है जिसपर चलकर मनुष्य सच्चे ज्ञान और सच्ची मुक्तिको प्राप्त कर सकता है, किंतु यह वह मार्ग है जिसके अंदर अन्य सब मार्ग समाये हुए हैं, इसमें उनका बहिष्कार नहीं है। कारण भगवान् अपनी विश्वव्यापकतामें समस्त अवतारों, समस्त शिक्षाओं और समस्त धर्मोंको लिये हुए हैं।

यह जगत् जिस युद्धकी रंगभूमि है उसके दो पहलू गीता सामने रखती है, एक आंतर युद्ध और दूसरा बाह्य युद्ध। आंतर युद्धमें शत्रुओं-का दल अंदर है, व्यक्तिके अपने अंदर है, और इसमें कामको, अज्ञानको और अहंकारको मार डालना ही विजय है। पर मानवसमूहके अंदर धर्म और अधर्मकी शक्तियोंके बीच एक बाह्य युद्ध भी चल रहा है। धर्मकी शक्तियोंकी सहायता मनुष्यकी दिव्य देवोपम प्रकृति करती है और वे करते हैं जो इस प्रकृतिके प्रतिनिधि हैं या जो मानवजीवनमें उसे सिद्ध करनेका प्रयास कर रहे हैं। दूसरी ओर, अधर्मकी शक्तियोंकी सहायता आसुरी और राक्षसी प्रकृति करती है, जिसका ध्वज है उद्दंड अहंकार और वे करते हैं जो इस अहंकारके प्रतिनिधि हैं और इसे संतुष्ट करनेमें लगे हुए हैं। यही देवासुरसंग्राम है जो प्रतीक-रूपसे प्राचीन भारतीय साहित्यमें भरा पड़ा है। महाभारतके महायुद्धको, जिसमें मुख्य सूत्रधार श्रीकृष्ण हैं, प्रायः इसी देवासुरसंग्रामका ही एक रूपक कहा जाता है; पांडव, जो धर्मराज्यकी स्थापनाके लिये लड़ रहे हैं, देव-पुत्र हैं, मानवरूपमें देवताओंकी शक्तियां हैं और उनके शत्रु आसुरी शक्तिके अवतार हैं, असुर हैं। इस बाह्य संग्राममें भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे सहायता करने, असुरों अर्थात् दुष्टोंका राज्य नष्ट करने, उन्हें चलानेवाली आसुरी शक्तिका दमन करने और धर्मके पीड़ित आदर्शोंको पुनः स्थापित करनेके लिये भगवान् अवतार लिया करते हैं। व्यष्टिगत

मानव-पुरुषके अंदर स्वर्गराज्यका निर्माण करना जैसे भगवदवतारका उद्देश्य होता है वैसे ही मानव-समष्टिके लिये भी उस स्वर्गराज्यको इस पृथिवीके निकटतर ले आना उनका उद्देश्य होता है।

भगवदवतारके आनेका आंतरिक फल उन लोगोंको प्राप्त होता है जो भगवान्‌की इस क्रियासे दिव्य जन्म और दिव्य कर्मके वास्तविक मर्मको जान लेते और अपनी चेतनामें भगवन्मय होकर, सर्वथा भगवदाश्रित होकर रहते (मन्मया मामुपाश्रिताः) और अपने ज्ञानकी तपःशक्तिसे पूत होकर (ज्ञानतपसापूताः) अपरा प्रकृतिसे मुक्त होकर भगवत्स्वरूप और स्वभावको प्राप्त होते हैं (मद्भावमागताः)। मनुष्यके अंदर इस अपरा प्रकृतिके ऊपर जो दिव्य प्रकृति है उसे प्रकटानेके लिये तथा बंधरहित, निरहंकार, निष्काम, नैर्व्यक्तिक, विश्वव्यापक, भागवत ज्योति शक्ति और प्रेमसे परिपूर्ण दिव्य कर्मको दिखानेके लिये भगवान्‌का अवतार हुआ करता है। भगवान् आते हैं दिव्य व्यक्तित्वके रूपमें, वह व्यक्तित्व जो मनुष्यकी चेतनामें बस जायगा और उसके अहंभावापन्न परिसीमित व्यक्तित्वकी जगह ले लेगा जिससे कि मनुष्य अहंकारसे मुक्त होकर अनंतता और विश्वव्यापकतामें फैल जाय, जन्मके पचड़ेसे निकलकर अमर हो जाय। भगवान् आते हैं भागवत शक्ति और प्रेमके रूपमें, जो मनुष्योंको अपनी ओर खींच लेते हैं इसलिये कि मनुष्य उन्हींका आश्रय करें और अपने मानव-संकल्पोंको त्याग दें, अपने काम क्रोध और भयजनित द्वंद्वोंसे छूट जायं और इस महान् दुःख और अशांतिसे मुक्त होकर भागवत शांति और आनंदमें निवास करें* । किस रूपमें, किस नामसे

* जन्मकर्म च मे दिव्यं एवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसापूता मद्भावमागताः ॥

अवतार आवेंगे और भगवान्‌के किस पहलूको सामने रखेंगे, यह कोई मुख्य बात नहीं है; क्योंकि मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न प्रकृतिके अनुसार जितने भी विभिन्न मार्ग हैं उन सभी मार्गोंसे मनुष्य भगवान्‌के द्वारा अपने लिये नियत मार्गपर ही चल रहे हैं, जो अंतमें उन्हें भगवान्‌के समीप ले जायगा, और भगवान्‌का वही पहलू मनुष्योंकी प्रकृतिके अनुकूल होता है जिसका वे भगवान्‌के नेतृत्व करने आनेपर अच्छी तरहसे अनुसरण कर सकें। जिस किसी तरहसे मनुष्य भगवान्‌को अपनाते, उनसे प्रेम करते और आनंदित होते हैं, उसी तरहसे भगवान् उन्हें अपनाते, उनसे प्रेम करते और आनंदित होते हैं, "ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्"।

---

# दिव्य कर्म

दिव्य जन्मको प्राप्त होना—अर्थात् जीवका किसी उच्चतर चेतनामें ऊपर उठकर दिव्य अवस्थाको प्राप्त करानेवाले नवजन्मको प्राप्त होना—और दिव्य कर्म करना, पहले अर्थात् जबतक साध्य सिद्ध नहीं हुआ है तबतक साधनके तौरपर और पीछे उस दिव्य जन्मकी अभिव्यक्तिके तौरपर, यही गीताका संपूर्ण कर्मयोग है। गीता दिव्य कर्मके कोई ऐसे बाह्य लक्षण नहीं बतलाती जिनसे बाह्य दृष्टिसे उसकी पहचान की जा सके या लौकिक आलोचना-दृष्टिसे उसकी जांच की जा सके; सामान्य नीतिधर्मके जो लक्षण हैं जिनसे मनुष्य अपनी मानव-बुद्धिके अनुसार अपना कर्त्तव्याकर्त्तव्य निश्चित करते हैं उन लक्षणोंको भी गीताने जानबूझकर ही त्याग दिया है। गीता जिन लक्षणोंसे दिव्य कर्मकी पहचान कराती है वे सब लक्षण अत्यंत निगूढ और अंतःस्थ हैं; जिन लक्षणोंके द्वारा दिव्य कर्म पहचाने जाते हैं वे अलक्ष्य हैं, आध्यात्मिक हैं और नीतिधर्मके अतीत हैं।

दिव्य कर्म आत्मासे उद्भूत होते हैं और केवल आत्माके प्रकाशसे ही पहचाने जा सकते हैं। "बड़े-बड़े ज्ञानी मुनि भी कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इसका निश्चय करनेमें मोहित हो जाते हैं," क्योंकि व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक और बौद्धिक मानदंडोंसे वे इनके बाह्य

लक्षणोंको ही पहचान पाते हैं, इनकी जड़तक नहीं पहुंच पाते; "मैं तुझे वह कर्म बतलाऊंगा जिसे जानकर तू अशुभसे मुक्त हो जायगा। कर्म क्या है इसको जानना होगा, विकर्म क्या है इसको भी जानना होगा और अकर्म क्या है यह भी जान लेना होगा; कर्मकी गति गहन है।" कर्म इस संसारमें ऐसा है जैसा कोई गहन जंगल, जिसमें मनुष्य अपने कालकी विचारधारा, अपने व्यक्तित्वके मानदंड और अपनी परिस्थितिके अनुसार लुढ़कता-पुढ़कता चलता है; और ये विचार और मान उसके एक ही काल या एक ही व्यक्तित्वके क्या बल्कि अनेक कालों और अनेक व्यक्तित्वोंको लिये हुए होते हैं, अनेक सामाजिक अवस्थाओंके विचार और नीतिधर्म तह-पर-तह जमाये आपसमें बिंधे हुए होते हैं और यद्यपि इनका दावा होता है कि ये निरपेक्ष और अविनाशी हैं पर ये होते हैं तात्कालिक और रूढ़िगत ही, यद्यपि ये अपनेको सद्युक्तिकी तरह दिखानेका ढोंग करते हैं पर ये होते हैं अशास्त्रीय और अयौक्तिक ही। इस सबके बीचमें सुनिश्चित कर्मविधानके किसी महत्तम आधार और मूल सत्यको ढूंढ़ता हुआ ज्ञानी अंतमें ऐसी जगह जा पहुंचता है जहां यही अंतिम प्रश्न उसके सामने आता है कि यह सारा कर्म और जीवन केवल एक भ्रमजाल तो नहीं है और कर्मको सर्वथा परित्याग कर अकर्मको प्राप्त होना ही क्या इस थके हुए, अपने भ्रमको जाने हुए मानव-जीवके लिये अंतिम आश्रय नहीं है? परंतु श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस बारेमें ज्ञानी भी भ्रममें पड़ते और मोहित हो जाते हैं। कारण कर्मसे ज्ञान और मोक्ष मिलता है, अकर्मसे नहीं।

तब इस कर्माकर्मकी मीमांसा क्या है? वह किस प्रकारका कर्म है जिससे हम जीवनमें जो कुछ अशुभ है उससे छूटें, इस संशय प्रमाद और शोकसे, अपने विशुद्ध सद्हेतुप्रेरित कर्मोंके भी इस अच्छे-बुरे,

अशुद्ध और भरमानेवाले परिणामसे, इन सहस्रों प्रकारकी बुराइयों और दुःखोंसे, हमें छुट्टी मिले? उत्तर मिलता है कि कोई बाह्य लक्षण करनेकी आवश्यकता नहीं; संसारके जो कर्म आवश्यक हैं ऐसे किसी कर्मसे बचनेकी आवश्यकता नहीं; हमारी मानव-कर्मण्यताओंकी हद बांधनेकी जरूरत नहीं, बल्कि सब कर्म किये जायं पर किये जायं अंतरात्माको भगवान्‌के साथ योगमें स्थित करके; "युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।" अकर्म मुक्तिका मार्ग नहीं है; जिसकी उच्चतम बुद्धिकी अंतर्दृष्टि खुल गयी है वह यह देख सकता है कि इस प्रकारका अकर्म स्वयं ही सतत होनेवाला एक कर्म है, एक ऐसी अवस्था है जो प्रकृति और उसके गुणोंकी क्रियाओंके अधीन है। शारीरिक अकर्मण्यताकी शरण लेनेवाला मन अभी भी इस भ्रममें ही पड़ा है कि कर्मोंका कर्त्ता वह स्वयं है, प्रकृति नहीं; उसने जड़ताको मोक्ष समझ लिया होता है, वह यह नहीं देख पाता कि जो कुछ ईंट-पत्थरसे भी अधिक जड़ दिखायी देता है वहां भी प्रकृतिकी क्रिया हो रही होती है, उसपर भी प्रकृति अपना अधिकार अक्षुण्ण रखती है। इसके विपरीत, कर्मके पूर्ण प्लावनमें भी आत्मा अपने कर्मोंसे मुक्त है, वह उनका कर्त्ता नहीं, जो कुछ किया जा रहा है उससे बद्ध नहीं; और जो कोई आत्माकी इस मुक्त अवस्थामें रहता है और प्रकृतिके गुणोंमें बद्ध नहीं, वही कर्मोंसे मुक्त रहता है। गीताके इस वाक्यका कि, "कर्ममें जो अकर्मको देखता है और अकर्ममें कर्मको देखता है वही मनुष्योंमें विवेकवान् बुद्धिमान् पुरुष है," स्पष्ट रूपसे यही अभिप्राय है। गीताका यह वाक्य सांख्यने पुरुष और प्रकृतिके बीच जो भेद किया है उसपर प्रतिष्ठित है—वह भेद यह है कि पुरुष नित्यमुक्त, अकर्त्ता, चिरशांत, शुद्ध तथा कर्मोंके अंदर भी अविचल है और प्रकृति चिरक्रियाशीला है जो जड़ता और अकर्मकी अवस्थामें भी उतनी ही कर्मरत है जितनी कि अपने दृश्य कर्म-

स्रोतके कोलाहलमें। यही वह उच्चतम ज्ञान है जो बुद्धिके उच्चतम प्रयाससे हमें प्राप्त होता है और इसलिये जिस किसीने इस ज्ञानको प्राप्त किया है वह यथार्थमें बुद्धिमान् है "स बुद्धिमान्मनुष्येषु," वह भ्रांत मोहित बुद्धिवाला मनुष्य नहीं जो जीवन और कर्मको निम्नतर बुद्धिके बाह्य, अनिश्चित और अस्थायी लक्षणोंसे समझना चाहता है। इसलिये मुक्त पुरुष कर्मसे भीत नहीं होता, वह तो संपूर्ण कर्मोंका करनेवाला विशाल विराट् कर्मी होता है, (कृत्स्नकर्मकृत्)। और-और लोग जैसे प्रकृतिके वशमें रहकर कर्म करते हैं वैसे वह कर्म नहीं करता, वह तो आत्माकी नीरव स्थिरतामें प्रतिष्ठित होकर, भगवान्के साथ योगयुक्त होकर कर्म करता है। उसके कर्मोंके स्वामी भगवान् होते हैं, वह तो उन कर्मोंका केवल निमित्तमात्र होता है जो उसकी प्रकृति अपने स्वामीको जानती हुई, उन्हींके वशमें रहती हुई, यंत्रवत् करती रहती है। इस ज्ञानकी धधकती हुई प्रबलता और पवित्रतामें उसके कर्म अग्निमें ईंधनकी तरह जलकर भस्म हो जाते हैं और इन कर्मोंका उसके मनपर कोई लेप या दाग नहीं लगता, वह स्थिर, शांत, अचल, निर्मल, शुभ और पवित्र बना रहता है। इस कर्तृत्व-अभिमानसे शून्य मोक्षदायक ज्ञानमें स्थित होकर, समस्त कर्मोंको करना ही दिव्य कर्मीका प्रथम लक्षण है।

दूसरा लक्षण है निष्कामता; कारण कर्तृत्व-अभिमानसे शून्य व्यक्तिके अंदर कामका रहना असंभव हो जाता है, वहाँ काम निराहार हो जाता, निराश्रय हो जानेके कारण अवसन्न हो जाता और क्षीण होकर नष्ट हो जाता है। बाह्यतः मुक्त पुरुष भी दूसरे-दूसरे लोगोंकी तरह ही समस्त कर्मोंको करता हुआ दिखायी देता है, शायद वह कर्मोंको एक बड़े पैमानेपर और एक अधिक शक्तिशाली संकल्प और वेगवती शक्तिके साथ ही करता है, क्योंकि उसकी सक्रिय प्रकृतिके अंदर भगवान्के संकल्पका बल

काम करता होता है; परंतु उसके समस्त उपक्रमों और उद्योगोंमें कामके हीनतर भाव और कामकी अधस्तन इच्छाका अभाव ही होता है, "सर्वे-समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।" उसको अपने कर्मोंके फलोंके लिये कोई आसक्ति नहीं रही है, और जहां फलके लिये कर्म नहीं किया जाता बल्कि सब कर्मोंके जो स्वामी हैं उनका एक नैर्व्यक्तिक यंत्र बनकर ही सारा कर्म किया जाता है वहां कामना-वासनाके लिये कोई स्थान ही नहीं होता—वहां मालिकके कामको सफलतापूर्वक करनेकी भी कोई इच्छा नहीं होती, क्योंकि फल तो भगवान्‌का है और उन्हींके द्वारा विहित है, किसी व्यक्तिगत इच्छा या चेष्टाके द्वारा नहीं, वहां यह इच्छा भी नहीं होती कि मालिकके कामको गौरवके साथ करूं या इस प्रकार करूं जिससे मालिक संतुष्ट रहें, क्योंकि यथार्थमें कर्मी तो स्वयं भगवान् हैं और सारी महिमा है उनकी शक्तिके उस रूप-विशेषकी जिसके जिम्मे प्रकृतिमें जाकर उस कर्मको करनेका भार सौंपा गया है, न कि किसी परिच्छिन्न मानव-व्यक्तित्वकी। मुक्त पुरुषका अंतःकरण और अंतरात्मा कुछ भी नहीं करता, "नैव किंचित् करोति सः"; यद्यपि वह अपनी प्रकृतिके अंदरसे कर्ममें नियुक्त तो होता है पर कर्म करती है वह प्रकृति, वह कर्त्री-शक्ति, वह चिन्मयी भगवती जो अंतर्यामी भगवान्‌के द्वारा नियंत्रित रहती है।

इसका यह मतलब नहीं कि कर्म पूर्ण कौशलके साथ, सफलताके साथ, उपयुक्त साधनोंका ठीक-ठीक उपयोग करके न किया जाय; बल्कि योगस्थ होकर शांतिके साथ कर्म करनेसे कुशल कर्म करना जितना अधिक सुलभ होता है उतना आशा और भयसे अंधे होकर कर्म करनेसे या लुढ़कती-पुढ़कती हुई बुद्धिके निर्णयोंद्वारा लंगड़े बने हुए कर्मोंको करनेसे या फिर अधीर मानव-इच्छाकी उत्सुकतापूर्ण घबराहटके साथ दौड़-धूप

कर कर्म करनेसे, नहीं होता। गीताने अन्यत्र कहा है कि, "योगः कर्मसु कौशलम्", योग ही है कर्मका सच्चा कौशल। पर यह सब होता है नैर्व्यक्तिक भावसे एक महती विश्व ज्योति और शक्तिके द्वारा जो व्यष्टि पुरुषकी प्रकृतिमेंसे अपना कर्म करती है। कर्मयोगी इस बातको जानता है कि उसे जो शक्ति दी गयी है वह भागवत निर्दिष्ट फलको प्राप्त करनेके उपयुक्त होगी, उसे जो कर्म करना है वह कर्मके पीछे जो भागवत चिंता है उसके अनुकूल होगा और उसका जो संकल्प होगा उसकी गतिशक्ति और दिशा गुप्त रूपसे भागवत प्रज्ञाके द्वारा नियंत्रित होती रहेगी—अवश्य ही उसका जो संकल्प होगा वह न तो इच्छा होगी न वासना, बल्कि वह होगा सचेतन शक्तिका नैर्व्यक्तिक प्रवाह किसी ऐसे लक्ष्यकी ओर जो कभी भी उसका अपना नहीं होगा। कर्मका फल वैसा भी हो सकता है जिसे सामान्य मनुष्य सफल समझते हैं अथवा ऐसा भी हो सकता है जो उन्हें विफल जान पड़े, पर कर्मयोगी इन दोनोंमें अभीष्टकी सिद्धि ही देखता है, और वह अभीष्ट उसका अपना नहीं होता, बल्कि उन सर्वज्ञका होता है जो कर्म और फल, दोनोंके ही संचालक हैं। कर्मयोगी विजयकी खोज नहीं करता, वह तो यही इच्छा करता है कि भगवत्संकल्प और अभिप्राय पूर्ण हो और यह पूर्णता साधित होती है आपातदृश्य पराजयके द्वारा भी उतनी ही जितनी कि आपातदृश्य जयके द्वारा और प्रायः जयकी अपेक्षा पराजयके द्वारा ही यह कार्य विशेष बलके साथ संपन्न होता है। अर्जुनको युद्धके आदेशके साथ-साथ विजयका आश्वासन भी

मुक्त पुरुषकी अपनी कोई आशा-आकांक्षा नहीं होती; वह चीजों-को अपनी वैयक्तिक संपत्ति जानकर पकड़े नहीं रहता; भगवदिच्छा उसे जो कुछ ला देती है उसे वह ग्रहण करता है, वह किसी वस्तुका लोभ नहीं करता, किसीसे डाह नहीं करता; और जो कुछ उसे प्राप्त होता है उसे रागद्वेषरहित होकर ग्रहण करता है; जो कुछ उससे चला जाता है उसे संसार-चक्रमें चला जाने देता है और उसके लिये दुःख या शोक नहीं करता, उसके वियोगका उसपर कोई असर नहीं होता। उसके हृदय और आत्मा उसके पूर्ण वशमें होते हैं, वे किसी भी प्रतिक्रिया या आवेशसे मुक्त होते हैं, वे बाह्य विषयोंके स्पर्शसे विक्षुब्ध नहीं होते। उसका कर्म मात्र शारीरिक कर्म होता है (शारीरं केवलं कर्म), क्योंकि बाकी सब कुछ तो ऊपरसे आता है, मानव-स्तरपर पैदा नहीं होता, केवल भगवान् पुरुषोत्तमके संकल्प, ज्ञान और आनंदका प्रतिबिंब होता है; इसलिये वह कर्म और उसके उद्देश्योंपर जोर देनेके द्वारा अपने मन और हृदयमें वे प्रतिक्रियाएं नहीं होने देता जिन्हें हम षड्रिपु और पाप कहते हैं। कारण बाह्य कर्म पाप नहीं है, बल्कि वैयक्तिक संकल्प, मन और हृदयकी जो अशुद्ध प्रतिक्रिया कर्मके साथ लगी रहती और कर्मको कराती है उसीका नाम पाप है; नैर्व्यक्तिक आध्यात्मिक मनुष्य तो सदा ही शुद्ध "अपापविद्ध" होता है और उसके द्वारा होनेवाले कार्यमें उसकी सहज शुद्धता आ ही जाती है। यह आध्यात्मिक नैर्व्यक्तित्व दिव्य कर्मीका तीसरा लक्षण है। किसी प्रकारकी महत्ता या विशालताको प्राप्त सभी मनुष्य यह अनुभव करते हैं कि कोई नैर्व्यक्तिक शक्ति या प्रेम या संकल्प और ज्ञान उनके अंदरसे काम कर रहा है, पर वे अपने मानव-व्यक्तित्वकी अहंभावापन्न प्रतिक्रियाओंसे मुक्त नहीं हैं, और कभी-कभी तो ये प्रतिक्रियाएं अत्यंत प्रचंड होती हैं। परंतु मुक्त पुरुष इन प्रति-

क्रियाओंसे सर्वथा मुक्त होता है; कारण उसने अपने व्यक्तित्वको नैर्व्यक्तिक पुरुषके अंदर ढाल दिया होता है और अब उसका व्यक्तित्व उसका अपना नहीं रहा, वह उन भगवान् पुरुषोत्तमके हाथोंमें चला गया है जो सब सांत गुणोंको अनंत और मुक्त भावसे व्यवहार करते और जो किसीके द्वारा बद्ध नहीं होते। मुक्त पुरुष आत्मा हो जाता है और तब वह प्रकृतिके गुणोंका एक पुंजसा नहीं बना रहता; और प्रकृतिके कर्मके लिये उसके व्यक्तित्वका जो कुछ आभास बाकी रह जाता है वह एक ऐसी चीज होती है जो बंधमुक्त है, उदार है, नमनीय है और विश्वव्यापक है; वह भगवान्‌की अनंत सत्ताका एक विशुद्ध पात्र बन जाता है, पुरुषोत्तमका एक जीवंत छद्मरूप हो जाता है।

इस ज्ञान, इस निष्कामता और नैर्व्यक्तिकताका फल यह होता है कि पुरुष और प्रकृतिमें पूर्ण समत्व आ जाता है। समत्व दिव्य कर्मोंका चौथा लक्षण है। वह 'द्वंद्वातीत' हो जाता है। वह सफलता और विफलता, जय और पराजयको तो अविचलित भावसे और समदृष्टिसे देखता ही है, पर इतना ही नहीं वह सभी द्वंद्वोंके परे उस स्थितिमें पहुंच जाता है जहां द्वंद्वोंका सामंजस्य होता है। जिन बाह्य लक्षणोंसे मनुष्य जगत्‌की घटनाओंके प्रति अपनी मनोवृत्तिका रुख निश्चित करते हैं वे उसकी दृष्टिमें गौण और यांत्रिक होते हैं। वह इनकी उपेक्षा नहीं करता, पर इनसे परे रहता है। शुभ और अशुभका भेद कामवश मनुष्यके लिये सबसे बड़ी चीज है, पर निष्काम आत्मवान् पुरुषके लिये शुभ और अशुभ दोनों ही एकसे ग्राह्य हैं, क्योंकि इन दोनोंके संमिश्रणसे ही शाश्वत श्रेयके विकासशील रूप निर्मित होते हैं। उसकी हार तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि उसकी दृष्टिके अनुसार प्रकृतिके इस कुरुक्षेत्र अर्थात् धर्मक्षेत्रमें सब कुछ भगवान्‌की विजयकी ओर जा रहा है, वह यह देख पाता है कि इस

कर्मक्षेत्रमें जो विकासात्मक धर्मका क्षेत्र है (धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे) उसमें जो यह संग्राम चल रहा है उसके प्रत्येक प्रसंगका नक्शा इस युद्धके अधिनायक, कर्मोंके ईश्वर और धर्मके नेताकी त्रिकालदर्शी दृष्टिके द्वारा पहलेसे ही खींचकर तैयार किया जा चुका है। मनुष्य चाहे उसे मान दें या अपमान, उसकी निंदा करें या स्तुति, उसका उसपर कुछ भी असर नहीं पड़ सकता, क्योंकि उसके कार्यका विचार करनेवाला कोई और है जिसकी दृष्टि बहुत अधिक विमल है और उसके कार्यका पैमाना भी दूसरा ही है और उसका प्रेरक-भाव सांसारिक पुरस्कारपर जरा भी निर्भर नहीं करता। क्षत्रिय अर्जुनकी दृष्टिमें मान और कीर्त्तिका बहुत बड़ा मूल्य होना स्वाभाविक ही है और उसका अपयश तथा कापुरुषताके अपवादसे बचना, उन्हें मृत्युसे भी बुरा मानना ठीक ही है, क्योंकि संसारमें मानकी रक्षा करना और साहसकी मर्यादाको बनाये रखना उसके धर्मका अंग है, किंतु मुक्त अर्जुनको इनमेंसे किसी बातकी परवाह करनेकी आवश्यकता नहीं, उसे तो केवल अपना 'कर्त्तव्यं कर्म' जानना है, उस कर्मको जानना है जिसको उसका परम आत्मा उससे मांग रहा है और उसीको करना है और फलको अपने कर्मोंके ईश्वरके हाथोंमें छोड़ देना है। पाप-पुण्यके भेदसे भी वह ऊपर उठ चुका है। मानव-जीव जब अपने अहंकारकी पकड़को ढीली करनेके लिये और अपने प्राणावेगोंके वजनदार और प्रचंड जुएके बोझको हलका करनेके लिये संघर्ष कर रहा होता है तब पाप और पुण्यमें विवेक करते रहना उसके लिये सबसे महत्त्वपूर्ण बात होती है, पर मुक्त पुरुष तो इसके भी परे चला जाता है, वह इन संघर्षोंके ऊपर उठ जाता है तथा साक्षीस्वरूप ज्ञानमय आत्माकी पवित्रतामें सुप्रतिष्ठित हो जाता है। अब पाप उसमेंसे झड़कर गिर गया है और किसी अच्छे कर्मसे उसे न कोई पुण्य मिलता न उसके पुण्यकी वृद्धि होती है और न किसी बुरे

क्रियाओंसे सर्वथा मुक्त होता है; कारण उसने अपने व्यक्तित्वको नैर्व्यक्तिक पुरुषके अंदर ढाल दिया होता है और अब उसका व्यक्तित्व उसका अपना नहीं रहा, वह उन भगवान् पुरुषोत्तमके हाथोंमें चला गया है जो सब सांत गुणोंको अनंत और मुक्त भावसे व्यवहार करते और जो किसीके द्वारा बद्ध नहीं होते। मुक्त पुरुष आत्मा हो जाता है और तब वह प्रकृतिके गुणोंका एक पुंजसा नहीं बना रहता; और प्रकृतिके कर्मके लिये उसके व्यक्तित्वका जो कुछ आभास बाकी रह जाता है वह एक ऐसी चीज होती है जो बंधमुक्त है, उदार है, नमनीय है और विश्वव्यापक है; वह भगवान्‌की अनंत सत्ताका एक विशुद्ध पात्र बन जाता है, पुरुषोत्तमका एक जीवंत छद्मरूप हो जाता है।

इस ज्ञान, इस निष्कामता और नैर्व्यक्तिकताका फल यह होता है कि पुरुष और प्रकृतिमें पूर्ण समत्व आ जाता है। समत्व दिव्य कर्मीका चौथा लक्षण है। वह 'द्वंद्वातीत' हो जाता है। वह सफलता और विफलता, जय और पराजयको तो अविचलित भावसे और समदृष्टिसे देखता ही है, पर इतना ही नहीं वह सभी द्वंद्वोंके परे उस स्थितिमें पहुंच जाता है जहां द्वंद्वोंका सामंजस्य होता है। जिन बाह्य लक्षणोंसे मनुष्य जगत्‌की घटनाओंके प्रति अपनी मनोवृत्तिका रुख निश्चित करते हैं वे उसकी दृष्टिमें गौण और यांत्रिक होते हैं। वह इनकी उपेक्षा नहीं करता, पर इनसे परे रहता है। शुभ और अशुभका भेद कामवश मनुष्यके लिये सबसे बड़ी चीज है, पर निष्काम आत्मवान् पुरुषके लिये शुभ और अशुभ दोनों ही एकसे ग्राह्य हैं, क्योंकि इन दोनोंके संमिश्रणसे ही शाश्वत श्रेयके विकासशील रूप निर्मित होते हैं। उसकी हार तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि उसकी दृष्टिके अनुसार प्रकृतिके इस कुरुक्षेत्र अर्थात् धर्मक्षेत्रमें सब कुछ भगवान्‌की विजयकी ओर जा रहा है, वह यह देख पाता है कि इस

कर्मक्षेत्रमें जो विकासात्मक धर्मका क्षेत्र है (धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे) उसमें जो यह संग्राम चल रहा है उसके प्रत्येक प्रसंगका नक्शा इस युद्धके अधिनायक, कर्मोंके ईश्वर और धर्मके नेताकी त्रिकालदर्शी दृष्टिके द्वारा पहलेसे ही खींचकर तैयार किया जा चुका है। मनुष्य चाहे उसे मान दें या अपमान, उसकी निंदा करें या स्तुति, उसका उसपर कुछ भी असर नहीं पड़ सकता, क्योंकि उसके कार्यका विचार करनेवाला कोई और है जिसकी दृष्टि बहुत अधिक विमल है और उसके कार्यका पैमाना भी दूसरा ही है और उसका प्रेरक-भाव सांसारिक पुरस्कारपर जरा भी निर्भर नहीं करता। क्षत्रिय अर्जुनकी दृष्टिमें मान और कीर्त्तिका बहुत बड़ा मूल्य होना स्वाभाविक ही है और उसका अपयश तथा कापुरुषताके अपवादसे बचना, उन्हें मृत्युसे भी बुरा मानना ठीक ही है, क्योंकि संसारमें मानकी रक्षा करना और साहसकी मर्यादाको बनाये रखना उसके धर्मका अंग है, किंतु मुक्त अर्जुनको इनमेंसे किसी बातकी परवाह करनेकी आवश्यकता नहीं, उसे तो केवल अपना 'कर्त्तव्यं कर्म' जानना है, उस कर्मको जानना है जिसको उसका परम आत्मा उससे मांग रहा है और उसीको करना है और फलको अपने कर्मोंके ईश्वरके हाथोंमें छोड़ देना है। पाप-पुण्यके भेदसे भी वह ऊपर उठ चुका है। मानव-जीव जब अपने अहंकारकी पकड़को ढीली करनेके लिये और अपने प्राणावेगोंके वजनदार और प्रचंड जूएके बोझको हलका करनेके लिये संघर्ष कर रहा होता है तब पाप और पुण्यमें विवेक करते रहना उसके लिये सबसे महत्त्वपूर्ण बात होती है, पर मुक्त पुरुष तो इसके भी परे चला जाता है, वह इन संघर्षोंके ऊपर उठ जाता है तथा साक्षीस्वरूप ज्ञानमय आत्माकी पवित्रतामें सुप्रतिष्ठित हो जाता है। अब पाप उसमेंसे झड़कर गिर गया है और किसी अच्छे कर्मसे उसे न कोई पुण्य मिलता न उसके पुण्यकी वृद्धि होती है और न किसी बुरे

कर्मसे उस पुण्यकी हानि या नाश ही, वह तो दिव्य और निरहं प्रकृति-की अविच्छेद्य और अपरिवर्तनीय पवित्रताके शिखरपर चढ़ गया है और वहीं आसन जमाकर बैठ गया है। उसके कर्मोंका आरंभ पाप-पुण्यके बोधसे नहीं होता, न ये उसपर लागू होते हैं।

जो अर्जुन अभी भी अज्ञानमें है वह अपने हृदयमें सत्य और न्याय-की कोई पुकार अनुभव कर सकता है और मन-ही-मन यह सोच सकता है कि युद्धसे हटना पाप होगा, क्योंकि अधर्मकी विजय होनेसे अन्याय, अत्याचार और अशुभ कर्म छा जाते हैं और इससे मनुष्य और राष्ट्र पीड़ित होते हैं और इस अवसरपर यह जिम्मेवारी उसीके सिर आ पड़ेगी। अथवा उसके हृदयमें हिंसा और मारकाटके प्रति घृणा पैदा हो सकती है और वह मन-ही-मन यह सोच सकता है कि खून बहाना तो हर हालतमें पाप ही है और रक्तपातका समर्थन तो किसी भी अवस्थामें नहीं ही किया जा सकता। धर्म और युक्तिकी दृष्टिसे ये दोनों मनोभाव ही एकसे मालूम होंगे; इनमेंसे कौनसा मनोभाव किसके मनपर हावी होगा या दुनियाकी दृष्टिमें ठीक जंचेगा यह बात तो देश, काल, पात्र और परिस्थितिपर ही निर्भर करेगी। अथवा यह भी हो सकता है कि अपने शत्रुओंके मुकाबलेमें अपने मित्रोंकी सहायता करनेके लिये, अशुभ और अत्याचारके मुकाबलेमें धर्म और न्यायका पक्ष समर्थन करनेके लिये उसका हृदय और उसकी कुलमर्यादा उसे विवश करें। परंतु मुक्त पुरुषकी दृष्टि इन परस्पर-विरोधी मानदंडोंके परे जाकर केवल यह देखती है कि विकासशील धर्मकी रक्षा या अभ्युदयके लिये आवश्यक वह कौनसा कर्म है जो परमात्मा मुझसे कराना चाहते हैं। उसका अपना निजी मतलब तो कुछ है ही नहीं, उसको किसीसे कोई व्यक्तिगत रागद्वेष तो है ही नहीं, उसके पास कर्मविषयक कसकर बंधा हुआ कोई मानदंड तो है ही

नहीं जो मनुष्य-जातिकी उन्नतिकी ओर बढ़ती हुई लचकीली चालमें कोई रोड़ा अटका दे या अनंतकी पुकारके विरुद्ध खड़ा हो जाय। उसके अपने कोई शत्रु नहीं जिन्हें वह जीतना या मारना चाहे, बल्कि वह अपने शत्रुओंको इस दृष्टिसे देखता है कि ये वे लोग हैं जिनको परिस्थितिने और पदार्थमात्रमें निहित संकल्पने उसके विरुद्ध लाकर इसलिये खड़ा कर दिया है कि वे प्रतिरोधके द्वारा भवितव्यताकी गतिकी सहायता करें। इन लोगों-के प्रति उसके मनमें न क्रोध हो सकता है न घृणा, क्योंकि दिव्य प्रकृति-में ये चीजें हैं ही नहीं। असुर अपने विरोधीको चूर-चूर कर देना, उसका सिर उतार लेना चाहता है; राक्षसमें संहारकी बड़ी भयंकर लिप्सा होती है, पर मुक्त पुरुषकी स्थिरता, शांति, विश्वव्यापी सहानुभूति और समत्वमें इन विकारोंका उठना असंभव है। वह किसीको चोट पहुंचानेकी इच्छा नहीं कर सकता, वह सारे संसारके साथ मैत्री और करुणाका भाव रखता है (मैत्रः करुण एव च); पर यह करुणा उस दिव्य आत्माकी करुणा है जो मनुष्योंको अपने उच्च स्थानसे करुणाभरी दृष्टिसे देखता है, सब जीवों-को अपने अंदर प्रेमसे ग्रहण कर लेता है, यह सामान्य मनुष्यकी वह दीनताभरी कृपा नहीं है जो हृदय, स्नायु और मांसका दुर्बल कंपनमात्र होती है। वह शरीरसे जीवित रहनेको भी उतनी बड़ी चीज नहीं मानता, बल्कि शरीरके परे जो आत्म-जीवन है उसे जीवन मानता और शरीरको केवल एक उपकरण समझता है। वह सहसा संग्राम और संहारमें प्रवृत्त न होगा, पर यदि धर्मके प्रवाहमें युद्ध उसके माथे आ जाय तो युद्ध करना वह स्वीकार करेगा और जिनके बल और प्रभुत्वको उसे चूर्ण करना है और जिनके विजयी जीवनके उल्लासको उसे नष्ट कर डालना है उनके साथ भी उसकी सहानुभूति होगी और वह उदार समबुद्धि और विशुद्ध बोधके साथ ही युद्धमें प्रवृत्त होगा।

कारण मुक्त पुरुष सबमें दो बातोंको देखता है, एक यह कि भगवान् घट-घटमें समरूपसे वास करते हैं और दूसरी यह कि यह जो नानाविध प्राकट्य है वह अपनी तात्कालिक परिस्थितिमें ही विषम है। पशुमें, मनुष्यमें, अशुचि अंत्यजमें, विद्वान् और पुण्यात्मा ब्राह्मणमें, महात्मा और पापात्मामें, मित्र शत्रु और तटस्थमें, जो उसे प्यार करते और उसका उपकार करते हैं उनमें और जो उससे घृणा करते और उसे पीड़ा पहुंचाते हैं उनमें, वह देखता है अपने-आपको, वह देखता है ईश्वरको और उसके हृदयमें सबके लिये एकसी ही दिव्य करुणा और दिव्य प्रीति होती है। परिस्थितिके अनुसार बाह्यतः वह किसीको अपनी छातीसे लगा सकता है अथवा किसीसे युद्ध कर सकता है, पर किसी भी हालतमें उसकी समदृष्टिमें कोई अंतर नहीं पड़ता, उसका हृदय सबके लिये ही खुला रहता है, वह अंदरमें सबको गलेसे लगाये रहता है। और उसके सब कर्मोंमें एक ही अध्यात्मतत्त्व काम करता है अर्थात् पूर्ण समत्व और एक ही कर्मतत्त्व काम करता है अर्थात् वह भगवत्-संकल्प जो भगवान्‌की ओर क्रमशः अग्रसर होती हुई मानव-जातिकी सहायताके लिये उसके अंदरसे क्रियाशील है।

फिर दिव्य कर्मीका लक्षण वह है जो स्वयं भागवत चेतनाका ही कैंद्रिक लक्षण है, अर्थात् पूर्ण आंतर आनंद और शांति। ये निर्विषय होते हैं, इनकी उत्पत्ति या स्थिति जगत्‌के किसी पदार्थपर निर्भर नहीं करती, ये सहज ही रहते हैं, अंतरात्माके ये कंद हैं, ये ही दिव्य सत्ताके स्वरूप हैं। सामान्य मनुष्य अपने सुखके लिये बाह्य पदार्थोंपर निर्भर करता है; इसीसे उसके वासना-कामना होती है, इसीसे उसमें क्रोध-क्षोभ, सुख-दुःख, हर्ष-शोक होते हैं; इसीलिये वह सब वस्तुओंको शुभाशुभके काँटेसे तौलता है। परंतु दिव्य आत्मापर इनमेंसे किसीका कोई

असर नहीं पड़ सकता; वह किसी प्रकारकी निर्भरताके बिना सदा तृप्त रहता है (नित्यतृप्तो निराश्रयः), क्योंकि उसका आनंद, उसकी दिव्य तृप्ति, उसका सुख, उसकी सुप्रसन्न ज्योति सदा उसके अंदर वर्तमान है, उसके रोम-रोममें व्याप्त हैं, " आत्मरतिः, अंतः सुखोन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव च ।" बाह्य पदार्थोंमें वह जो सुख लेता है वह बाह्य पदार्थोंके कारण नहीं होता, उस रसके लिये नहीं होता जिसको वह उनमें ढूंढ़कर न भी पावे, बल्कि उन पदार्थोंमें जो आत्मरस है उसके लिये होता है, ये जो भगवान्के अभिव्यक्त रूप हैं उनके लिये होता है और उसके लिये होता है जो उनमें सदा है और सदा रहेगा और जिसको वह ढूंढ़कर पा ही लेगा। इन पदार्थोंके बाह्य स्पर्शोंमें उसकी आसक्ति नहीं होती, बल्कि जो आनंद उसे अपने अंदर मिलता है वही आनंद उसे सर्वत्र मिलता है; क्योंकि उसका जो आत्मा है वही उन पदार्थोंका आत्मा है, और सब चराचर प्राणियोंके आत्माके साथ वह एक हो गया है—उनके विभिन्न नामरूपोंके होते हुए भी उनके अंदर जो एक सम ब्रह्म है उसके साथ वह एक हो गया है (ब्रह्मयोगयुक्तात्मा) (सर्वभूतात्म भूतात्मा)। प्रिय पदार्थके स्पर्शसे उसे हर्ष नहीं होता, अप्रियसे शोक नहीं होता; पदार्थोंके घाव, मित्रोंके घाव या शत्रुओंके घाव उसकी दृष्टिकी स्थिरता भंग नहीं कर सकते न उसके हृदयको मोहित कर सकते हैं; यह आत्मा अपने स्वरूपसे, उपनिषद् कहते हैं कि, 'अव्रणम्' होता है, उसपर कोई घाव, कोई क्षत नहीं होता। सब पदार्थोंमें वह वही अक्षय आनंद भोग करता है (सुखमक्षयमश्नुते)।

वह समत्व, वह नैर्ग्रैक्तित्व, वह शांति, वह मुक्ति, वह आनंद कर्मके करने न करने जैसी किसी बाहरी चीजपर अवलंबित नहीं होता। गीताने बार-बार त्याग और संन्यास अर्थात् आंतर संन्यास और बाह्य संन्यासके बीच जो भेद है उसकी ओर ध्यान दिलाया है। त्यागके बिना

संन्यासका कोई मूल्य नहीं है; त्यागके बिना संन्यास हो भी नहीं सकता और जहां आंतरिक मुक्ति है वहां बाह्य संन्यासकी कोई आवश्यकता भी नहीं होती। यथार्थमें त्याग ही सच्चा और पूर्ण संन्यास है। "उसे नित्य संन्यासी जानना चाहिये जो न द्वेष करता है न आकांक्षा, इस प्रकारका द्वंद्वमुक्त व्यक्ति अनायास ही समस्त बंधनोंसे मुक्त हो जाता है।" बाह्य संन्यासका कष्टकर मार्ग (दुःखमाप्तुं) अनावश्यक है। यह सर्वथा सत्य है कि सब कर्मों और उनके फलोंको अर्पण करना होता है, उनका त्याग करना होता है, पर यह अर्पण, यह त्याग आंतरिक है, बाह्य नहीं; यह प्रकृतिकी जड़ता-में नहीं किया जाता, बल्कि यज्ञके उन अधीश्वरको किया जाता है, उस नैर्व्यक्तिक ब्रह्मकी शांति और आनंदमें किया जाता है जिसमेंसे बिना उसकी शांतिको भंग किये सारा कर्म प्रवाहित होता है। कर्मका सच्चा संन्यास ब्रह्ममें कर्मोंका आधान करना ही है। "जो कोई संगका त्याग करके, ब्रह्ममें कर्मोंका आधान करके (या ब्रह्मको कर्मोंका आधार बनाके) कर्म करता है (ब्रह्मणाधाय कर्माणि) उसे पापका लेप नहीं लगता जैसे कमलके पत्तेपर पानी नहीं ठहरता।" इसलिये योगी पहले शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे अथवा केवल कर्मेंद्रियोंसे ही आसक्तिको छोड़कर आत्म-शुद्धिके लिये कर्म करते हैं। कर्मफलोंकी आसक्तिको छोड़नेसे ब्रह्मके साथ युक्त होकर अंतरात्मा ब्राह्मी-स्थितिकी ऐकांतिक शांति लाभ करता है, किंतु जो कोई ब्रह्मके साथ इस प्रकार युक्त नहीं है वह फलमें आसक्त हो जाता और काम-संभूत कर्मसे बंध जाता है। यह स्थिति, यह पवित्रता, यह शांति जहां एक बार प्राप्त हो जाती है वहां देही आत्मा अपनी प्रकृतिको पूर्ण रूपसे वशमें किये हुए, सब कर्मोंका 'मनसा' (मनसे, बाहरसे नहीं) संन्यास करके "नवद्वारावती पुरीमें बैठा रहता है, वह न कुछ करता है न कुछ कराता है।" कारण यह आत्मा ही सबके अंदर रहनेवाला एक नैर्व्यक्तिक

आत्मा है, परब्रह्म है, प्रभु है, विभु है जो नैर्व्यक्तिक होनेके नाते न तो जगत्के किसी कर्मकी सृष्टि करता है न अपनेको कर्त्ता समझनेवाले मानसिक विचारकी (न कर्तृत्वं न कर्माणि) न कर्मफलसंयोगरूप कार्यकारणसंबंधकी। इस सबकी सृष्टि मनुष्यके स्वभावद्वारा होती है, स्वभाव अर्थात् आत्म-संभूतिका मूल तत्त्व। सर्वव्यापी नैर्व्यक्तिक आत्मा न पाप ग्रहण करता है न पुण्य ही; जीवगत जो अज्ञान है उससे, कर्तृत्वके अहंकारसे, अपने श्रेष्ठ आत्मभावकी अनभिज्ञतासे, प्रकृतिके कर्मोंके साथ अपनेको तादात्म्य कर लेनेसे, पाप-पुण्यकी सृष्टि होती है, और जब उसका अन्तःस्थित आत्म-ज्ञान इस अंधकारमय आवरणसे मुक्त हो जाता है तब उसका वह ज्ञान उसके अन्तःस्थ सदात्माको सूर्यके सदृश प्रकाशित कर देता है; तब वह अपने-आपको प्रकृतिके करणसमूहके ऊपर रहनेवाला आत्मा जानने लगता है। उस विशुद्ध, अनंत, अविकार्य, अव्यय स्थितिमें आकर फिर वह विचलित नहीं होता, क्योंकि प्रकृतिकी किसी क्रियाके द्वारा हमारा स्वरूप बन-बिगड़ सकता है, इस प्रकारके भ्रममें वह अब नहीं है। नैर्व्यक्तिक ब्रह्मके साथ पूर्ण तादात्म्य लाभ करके वह यह भी कर सकता है कि प्रकृतिकी क्रियाके अंदर फिरसे जन्म लेकर वापस आनेकी आवश्यकतासे अपने-आपको बरी कर ले।

फिर भी यह मुक्ति उसे कर्म करनेसे जरा भी नहीं रोकती। तब हां, अब कर्म करते हुए भी वह यह जानता है कि कर्म मैं नहीं कर रहा हूं, कर्म करनेवाले हैं प्रकृतिके त्रिगुण। "तत्त्ववित् व्यक्ति (निष्क्रिय नैर्व्यक्तिक ब्रह्मके साथ) युक्त होकर यही सोचता है कि कर्म मैं नहीं करता; देखते, सुनते, चखते, सूंघते, खाते, चलते, सोते, सांस लेते, बोलते, देते, लेते, आंख खोलते-बंद करते वह यही धारणा करता है कि इंद्रियां विषयोंमें बरत रही हैं।" वह स्वयं अक्षर अविकार्य आत्मामें सुप्रतिष्ठित

होनेके कारण त्रिगुणातीत हो जाता है; वह न सात्विक है न राजसी न तामसी; उसके कर्मोंमें प्राकृतिक गुणों और धर्मोंके जो परिवर्तन होते रहते हैं, प्रकाश और सुख, कर्मण्यता और शक्ति, विश्राम और जड़तारूपी इनका जो छंदोबद्ध खेल होता रहता है उन्हें वह निर्मल और शांत भावसे देखता है। अपने कर्मको इस प्रकार शांत आत्माके उच्चासनसे देखना और उसमें लिप्त न होना, यह त्रैगुणातीत्य भी दिव्य कर्मोका एक महान् लक्षण है। यदि इसी विचारको सब कुछ मान लिया जाय तो इसका यह परिणाम निकलेगा कि सब कुछ प्रकृतिकी ही यांत्रिक नियति है और आत्मा इस सबसे सर्वथा अलग है, उसपर कोई जिम्मेवारी नहीं, पर गीता इस अपूर्ण विचारकी भूलका निवारण करती है पुरुषोत्तमतत्त्वकी अपनी प्रकाशमान और परमेश्वरवादी भावनाके द्वारा। गीता इस बातको स्पष्ट रूपसे कहती है कि सब कुछके मूलमें प्रकृति ही नहीं है जो अपने कर्मोंका यंत्रवत् निर्णय करती रहती हो, बल्कि प्रकृतिको प्रेरित करता है परमात्मा, पुरुषोत्तमका संकल्प, जिन्होंने धार्त्तराष्ट्रोंको पहलेसे ही मार रखा है, अर्जुन जिनका मानव-यंत्रमात्र है, वे विश्वात्मा परात्पर परमेश्वर ही प्रकृतिके समस्त कर्मोंके स्वामी हैं। नैर्व्यक्तिक ब्रह्ममें कर्मोंका आधान करना तो कर्तृत्व अभिमानसे छुटकारा पानेका एक साधनमात्र है, पर हमारा लक्ष्य तो है अपने समस्त कर्मोंको सर्वभूतमहेश्वरके अर्पण करना। "आत्माके साथ अपनी चेतनाको तादात्म्य करके, मुझमें सब कर्मोंका संन्यास करके (मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा), अपनी वैयक्तिक आशाओं और कामनाओंसे तथा 'मैं' और 'मेरा' से मुक्त होकर विगतज्वर होकर युद्ध कर," कर्म कर, जगत्में मेरे संकल्पको कार्यान्वित कर। भगवान् ही अखिल कर्मका आरंभण, प्रेरण और निर्द्धारण करते हैं; मानव-आत्मा ब्रह्ममें नैर्व्यक्तिक भावको प्राप्त होकर उनकी शक्तिका विशुद्ध और नीरव स्रोतमार्ग बनता

है; यही शक्ति प्रकृतिमें आकर दिव्य कर्म संपादन करती है। केवल ऐसे कर्म ही मुक्त पुरुषके कर्म हैं; क्योंकि किसी कर्ममें मुक्त पुरुषकी कोई अपनी प्रवृत्ति नहीं होती; केवल ऐसे कर्म ही सिद्ध कर्मयोगीके कर्म हैं। इन कर्मोंका मुक्त आत्मासे उदय होता और आत्मामें कोई विकार या संस्कार उत्पन्न किये बिना ही उनका लय हो जाता है, जैसे अक्षर अगाध चित्-समुद्रमें लहरें ऊपर-ही-ऊपर उठती हैं और फिर विलीन हो जाती हैं।

गत सङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थित चेतसः।
यज्ञाया चरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

---

## समत्व

ज्ञान, निष्कामता, नैर्व्यक्तिकता, समता, स्वतःस्थित आंतर शांति और आनंद, प्रकृतिके त्रिगुणके मायाजालसे छुटकारा या कम-से-कम उससे ऊपर उठे रहनेकी स्थिति, ये सब मुक्त पुरुषके लक्षण हैं और इसलिये ये सब लक्षण उसके समस्त कर्मोंमें वर्तमान रहेंगे। ये आत्माकी अविचल शांतिके आधार हैं, वह शांति जिसको आत्मा संसारकी समस्त क्रियाओं, आघातों और शक्ति-संघर्षोंसे घिरा हुआ होनेपर भी अपने अंदर बचाये रहता है। समस्त क्षरभावोंके अंदर ब्रह्मका जो सम अक्षरभाव वर्तमान है उसको यह शांति प्रतिभासित करती है और यह शांति उस अविभाज्य और सम एकताकी है, जो संसारके समस्त बहुत्वोंके अंदर सदा ओत-प्रोत रहती है। कारण जगत्के असंख्य भेदों और वैषम्योंके बीच समस्वरूप और सबको समरूप करनेवाला आत्मा ही वह एकता है; और यह आत्माका समत्व ही एकमात्र वास्तविक समत्व है। जगत्के अन्य सब पदार्थोंमें केवल किसी प्रकारका सादृश्य, समीकरण और संतुलन तो हो सकता है, किंतु जगत्के बड़े-से-बड़े सादृश्योंमें भी वैषम्य और असदृशताके भेद नजर आते ही हैं और जगत्में जो कुछ समीकृत संतुलन होता है वह विषम वजनोंको मिलाकर तौलमें बराबर करनेकी प्रक्रियासे ही हुआ करता है।

इसीलिये गीतामें कर्मयोगके जो तत्त्व बतलाये गये हैं उनमें समत्व-को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है; जगत्के साथ मुक्त आत्माके मुक्त संबंध इस समत्वकी गांठ लगाकर ही जोड़े जाते हैं। आत्मज्ञान, निष्कामता, नैर्व्यक्तिकता, आनंद, निस्त्रैगुण्य, ये सब जब अंतर्मुख हैं, अपने-आपमें लवलीन हैं, निष्क्रिय हैं तब इनको समत्वकी कोई आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि वहां उन पदार्थोंका भान ही नहीं है जिनमें सम-विषमका द्वंद्व उत्पन्न होता है। परंतु ज्योंही आत्मा प्रकृतिकर्मके बहुत्वों, व्यक्तित्वों, विभेदों और विषमताओंका भान करने लगता और उनसे व्यवहार करने लगता है त्योंही उसे अपने मुक्त स्वरूपके इन अन्य लक्षणों-को व्यवहारमें ले आनेके लिये अपने अद्वितीय प्रकट चिह्न समत्वका आश्रय लेना पड़ता है। ज्ञान है एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके साथ एकताका बोध और इसको जगत्की समस्त नानाविध सत्ताओं और स्थितियोंके साथ अपने संबंधमें यह प्रकट करना होगा कि इसका संबंध सबके साथ समान रूपसे एक है। नैर्व्यक्तिकता है एक अक्षर आत्माकी संसारके अपने नानाविध व्यक्तित्वोंकी विभिन्नतासे श्रेष्ठता और इसको जगत्के व्यक्तित्वों-के साथ अपने व्यवहारमें यह प्रकट करना होगा कि इसकी क्रिया सबके साथ समान रूपसे और निष्पक्ष भावसे होती है, फिर विविध संबंधों और परिस्थितियोंके अंतर्गत होनेके कारण इस क्रियाके बाह्य रूप चाहे अनेक प्रकारके ही क्यों न हो जायं। इसीलिये श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं कि मेरा न कोई प्रिय है न द्वेष्य, मैं सबके लिये आत्मभावमें सम हूं; फिर भी मेरा जो भक्त होता है वह मेरी कृपाको विशेष रूपसे पाता है; क्योंकि उसने मेरे साथ विशेष संबंध स्थापित कर लिया है, और यद्यपि मैं सबका एक ही निष्पक्ष ईश्वर हूं फिर भी मुझसे जो कोई जैसे मिलता है उससे मैं वैसे ही मिलता हूं। निष्कामता है जगत्के पृथक्-पृथक्

काम्य विषयोंके बंधनकारक आकर्षणसे अनंत आत्माकी श्रेष्ठता और इसको जब उन विषयोंके साथ संबंध स्थापित कर व्यवहारमें उतरना है तब यह निष्कामता प्रकट होगी इन विषयोंके पानेपर सम निष्पक्ष उदासीनताके रूपमें अथवा सबके लिये वैसे ही सम निष्पक्ष अनासक्त आनंद और प्रेमके रूपमें, क्योंकि ये आनंद और प्रेम स्वतःस्थित होनेके कारण विषयोंके होने न होनेपर निर्भर नहीं करते, बल्कि ये अपने स्वभावमें अविचल हैं और अक्षर हैं। आत्मानंद तो आत्मामें ही होता है, और यदि इस आनंदको जगत्के पदार्थों और प्राणियोंसे नाता जोड़ना है तो वह इसी प्रकारसे ही अपनी मुक्त आत्मस्थितिको प्रकट कर सकता है। त्रैगुणातीत्य है चिर चंचल विषमस्वरूप प्रकृतिके गुणकर्मोंके प्रवाहसे अविचल आत्माकी श्रेष्ठता, और इसको यदि प्रकृतिकी परस्पर-विरोधिनी और विषम क्रियाओंके साथ संबंधमें उतरना है, मुक्त आत्माको यदि अपने स्वभावको कोई कर्म करने देना है, तो इस श्रेष्ठताको उसे प्रकट करना होगा समस्त कर्मों, कर्मफलों या घटनाओंके प्रति अपने निष्पक्ष समत्वके भावके द्वारा ही।

समत्व ही मुक्त पुरुषका लक्षण है और मुमुक्षुकी कसौटी भी। जीवके अंदर जहां कहीं विषमता है वहां यही समझना चाहिये कि यह प्रकृतिके गुणोंकी विषम क्रीड़ा है, कामनाका वेग है, व्यक्तिगत इच्छाका, भावका या कर्मका खेल है, सुखदुःखकी द्वंद्वात्मक गति है या वह उद्विग्न या उद्वेगजनक आनंद है जो सच्चा आध्यात्मिक आनंद नहीं, बल्कि एक प्रकारकी मनोमय तृप्ति है जिसके पीछे इस तृप्तिकी जो दूसरी दिशा मनोमय अतृप्ति है वह लगी ही रहती है और अपने समयसे आ ही धमकती है। जीवमें जहां कहीं विषमता है वहां ज्ञानसे स्खलन है, सर्वसमाहारक और सर्वसमन्वयकारक ब्रह्मैक्यमें और सचराचर जगत्के एकत्वमें सुप्रविष्ट

रहनेका अभाव है। इस समत्वके द्वारा ही कर्मयोगीको कर्म करते समय भी यह ज्ञान रहता है कि वह मुक्त है।

गीताने जिस समत्वका विधान किया है उसका स्वरूप है आध्यात्मिक, वह उच्च कोटिका है और विश्वव्यापी है और यही इस विषयमें गीताके उपदेशकी विशेषता है। नहीं तो मात्र समत्वका उपदेश करके यदि केवल यही कहा जाता कि मन, अनुभव और स्वभावकी यह एक अत्यंत वांछनीय अवस्था है जिसमें पहुँचकर हम मानव-दुर्बलताके ऊपर उठ जाते हैं तो इसमें गीताकी कोई विशेषता नहीं होती। ऐसा समत्व तो दार्शनिक आदर्शके तौरपर और साधु-महात्माओंके स्वभावके तौरपर सदा ही सराहा गया है। गीता इस दार्शनिक आदर्शको ग्रहण करती है सही पर ग्रहण करके उसे उठा ले जाती है एक ऐसे उच्च प्रदेशमें जहां हम यह पाते हैं कि हम कुछ अधिक उदार और विशुद्ध वायु सेवन कर रहे हैं। आत्माकी जिस समस्थितिमें यूनानके स्टोइक संप्रदायवाले और दार्शनिक विद्वान् पहुंचते हैं वह गीतोक्त समत्वकी केवल पहली और दूसरी पैडियां हैं प्राणावेगके भंवरजाल और कामनाओंके उछालसे ऊपर उठकर देवताओंकी नहीं प्रत्युत् भगवान्की परम आत्म-वशित्वपूर्ण शांति और आनंदमें पहुँच जानेके लिये। स्टोइक संप्रदाइयोंकी समताका धुरा है सदाचार और यह प्रतिष्ठित है तापस सहिष्णुता या तितिक्षाके द्वारा प्राप्त आत्म-प्रभुत्वपर; इससे अधिक सुख-साध्य और शांत स्वरूप है दार्शनिकोंकी समताका, ये लोग ज्ञानके द्वारा अनासक्तिके द्वारा और हमारे प्राकृत स्वभावसुलभ विक्षोभोंके ऊपर उठी हुई उच्च बौद्धिक उदासीनताके द्वारा आत्म-वशित्व प्राप्त करना अधिक पसंद करते हैं, इसीको गीताने कहा है "उदासीनवदासीनः"। एक धार्मिक या ईसाई ढंगकी समता भी है जिसका स्वरूप है भगवदिच्छाके सामने सदा नत होकर घुटने टेक-

कर झुके रहना या साष्टांग प्रणिपातके द्वारा भगवान्की इच्छाको माथे चढ़ाना। दिव्य शांतिके ये तीन साधन-सोपान हैं—तितिक्षा, उदासीनता और नति। गीता अपने समन्वयके उदार ढंगमें इन सभीका समावेश कर लेती है और आत्माकी ऊर्ध्व गतिके जो साधन गीताने स्वयं बताये हैं उनके साथ इनको पिरोकर एक कर देती है और ऐसा करते समय इन तीनोंमेंसे प्रत्येकके मूलको वह और अधिक गहराईमें जमाती, प्रत्येकका लक्ष्य और अधिक व्यापक बनाती और प्रत्येकमें सर्वव्यापक और सर्वातीत परम अर्थ भर देती है। कारण गीता इनमेंसे प्रत्येकको इनका आध्यात्मिक मूल्य और इनकी आध्यात्मिक सत्ताकी शक्ति देती है, जो चरित्रबलसाधनके आयास, बुद्धिकी कठिन समस्थिति और भावावेगोंके झोंकसे परेकी चीज है।

सामान्य मानव-प्राणीको प्राकृत जीवनके चिर-अभ्यस्त विक्षोभोंसे एक तरहका सुख मिलता है; और चूंकि उसे उसमें सुख मिलता है और इस सुखसे सुखी होकर वह निम्न प्रकृतिकी अशांत क्रीड़ाको अपनी अनुमति देता है इसलिये त्रिगुणात्मिका प्रकृतिकी यह क्रीड़ा सदा होती रहती है; कारण प्रकृति जो कुछ करती है वह केवल अपने प्रेमी और भोक्ता पुरुषके सुखके लिये ही करती है और उसीकी अनुमतिसे करती है। परंतु इस सत्यको हम नहीं पहचान पाते क्योंकि जब प्रतिकूल विक्षोभका प्रत्यक्ष आघात होता है, शोक, क्लेश, असुविधा, दुर्भाग्य, विफलता, पराजय, निंदा, अपमानकी वेदनाएं होती हैं, तब मन उस आघातको खानेसे पीछेकी ओर हटता है, और इसके विपरीत जब अनुकूल वेदनाएं होती हैं, जैसे हर्ष, सुख, हर प्रकारकी तुष्टि, समृद्धि, सफलता, जय, गौरव, प्रशंसा आदि, तब मन उन्हें गले लगानेके लिये उछल पड़ता है; पर इससे इस सत्यमें कोई अंतर नहीं पड़ता कि जीव जीवनमें सुख लेता है और यह

सुख मनके द्वंद्वोंके पीछे सदा ही वर्तमान रहता है। योद्धाको युद्धमें जो जखम होते हैं उनमें उसे कोई शारीरिक सुख नहीं मिलता न पराजित होनेपर उसे कोई मानसिक संतोष ही होता है; परंतु युद्धमें तो उसे पूरा आनंद ही मिलता है, चाहे वह युद्ध उसे पराजित और जखमी करा दे या विजय दिला दे। वह पराजय और जखमकी संभावनाको और विजयकी आशाको युद्धके ताने बानेके तौरपर स्वीकार करता है और उसके अंदर रहनेवाला आनंद उस युद्धका पीछा करता है। युद्धके जखमकी स्मृति भी उसे हर्ष और गौरव देती है, पूरा हर्ष और गौरव तो तब होता है जब जखमकी पीड़ाका अंत हो गया होता है, पर प्रायः घावोंके रहते हुए भी ये बहुधा यथेष्ट रूपमें अनुभूत होते हैं और पीड़ा वास्तवमें इनके लिये आहारका काम देती है। हारमें भी बलाढय शत्रुका जबर्दस्त सामना करनेके कारण उसे हर्ष और गर्व होता है, अथवा वह यदि हीन कोटिका योद्धा हो तो उसे द्वेष और प्रतिशोधकी भावनाओंसे भी एक प्रकारका क्रूर सुख मिलता ही है। इसी प्रकार अंतरात्मा भी हमारे जीवनकी प्राकृत क्रीड़ाका आनंद लेता रहता है।

जीवनके जो प्रतिकूल अघात होते हैं उनसे मन क्लेश और द्वेषके द्वारा पीछे हटता है; यही जीवके आत्मरक्षासाधनमें प्रकृतिकी युक्ति है जिसे जुगुप्सा कहते हैं, इसीलिये हमारे स्नायु और शरीरके अतिकोमल अंग सहसा अपने ध्वंसका आलिंगन करने नहीं दौड़ पड़ते। जीवनकी जो अनुकूल वेदनाएं होती हैं उनसे मनको हर्ष होता है, यह प्रकृतिका राजस भोग देकर प्रलोभन देना है जिससे कि जीवकी शक्ति जड़ता और अकर्मण्यताकी तामसी प्रवृत्तियोंको जीत सके और वह कर्म, काम, संघर्ष और सफलताके लिये पूर्ण रूपसे लग जाय, हेतु यह कि इन बातोंकी ओर मनको आसक्त करके प्रकृति अपना काम पूरा कर ले सके। हमारा गूढ़

अंतरात्मा इस द्वंद्व और संघर्षमें एक प्रकारका सुख अनुभव करता है, यह सुख उसे विपद् और दुःखमें भी होता है; अतीत विपद्को याद करने और पीछे फिरकर देखनेमें तो उसे पूरा सुख मिलता ही है, पर जिस समय विपद सिरपर है और दुःख हो रहा है उस समय भी वह परदेके पीछेसे सुख लेता रहता है और प्रायः दुखी मनके स्तरमें आकर भी उसके आवेशमें सहारा देता है। परंतु जो कुछ आत्माको सचमुच आकर्षित करता है वह इस संसारका नानाविध द्वंद्वोंसे भरा हुआ वह पदार्थ है जिसे हम जीवन कहते हैं, जो चेष्टा और कामनाके विक्षोभसे, आकर्षण और विकर्षणसे, लाभ और हानिसे, हर प्रकारके वैचित्र्यसे भरा पड़ा है। इसमें जो राजसिक वासनात्मा है उसे एकरस सुख, संघर्षरहित सफलता और आवरणरहित हर्ष कुछ काल बाद अवसादकर, नीरस और अति-तृप्तिकरसा लगने लगता है; प्रकाशका पूरा सुख भोगनेके लिये इसे अंध-कारकी पृष्ठभूमि चाहिये; क्योंकि जो सुख वह चाहता और भोगता है वह ठीक उसी स्वभावका होता है, वह तत्त्वतः सापेक्षिक होता है और सुखका जो विपरीत तत्त्व है उसकी प्रतीति और अनुभूतिपर निर्भर करता है। अस्तु! हमारे मनको जीवनसे जो सुख मिलता है उसका रहस्य यही है कि हमारा अंतरात्मा जगत्के द्वंद्वोंमें आनंद लेता है।

इस मनसे यदि यह कहा जाय कि इन सब विक्षोभोंसे ऊपर उठो और उस विशुद्ध आनंदात्माके अमिश्र सुखको प्राप्त करो जो सदा ही गुप्त रूपसे इस द्वंद्वमय जीवनमें तुम्हें बल देता और तुम्हारा स्थायित्व बना रखता है, तो तुरंत यह इस आवाहनसे घबराकर पीछे हट जायगा। उसे यह विश्वास ही नहीं होता कि ऐसी द्वंद्वरहित स्थिति भी कोई हो सकती है; और यदि हो भी तो वह जीवन तो नहीं ही हो सकती। जगत्में अपने चारों ओर मनको जो वैचित्र्यमय जीवन देख पड़ता और जिसमें रह-

कर आनंद लेनेका उसको अभ्यास है वैसी स्थिति तो वह नहीं ही हो सकती, वह तो कोई ऐसी चीज ही हो सकती है जिसमें कोई स्वाद न हो, कोई लज्जत न हो। अथवा वह यह समझता है कि यह प्रयास उसके लिये अत्यंत कठिन होगा, ऊपर उठनेके लिये जो संघर्ष करना पड़ेगा उसके भयसे वह सहम जाता है, यद्यपि सच्ची बात तो यह है कि वासनात्मा सुखके स्वप्नोंको चरितार्थ करनेके लिये जितना प्रयत्न करता है उसकी अपेक्षा आध्यात्मिक रूपांतरको प्राप्त करना, अधिक कठिन नहीं होता, और वासनात्मा अपने अनित्य सुखों और कामनाओंका कामांध होकर पीछा करते हुए जो महान् संघर्ष और प्रयास करता है उससे अधिक संघर्ष और प्रयासकी भी इसमें आवश्यकता नहीं होती। मनकी अनिच्छाका असली कारण तो यह है कि उससे अपने निजी वातावरणसे ऊपर उठने और जीवनकी एक अधिक असाधारण और अधिक विशुद्ध वायुका सेवन करनेके लिये कहा जाता है, जहांके आनंद और शक्ति उसके ध्यानमें ही नहीं आते, और ये सचमुचमें हैं इसपर वह विश्वास भी नहीं करता, इस निम्नतर पंकिल प्रकृतिके सुख ही उसके परिचित हैं और इन्हींको वह आसानीसे भोग भी सकता है। निम्न प्रकृतिके सुखोंका भोग भी अपने-आपमें कोई दोषपूर्ण और निरर्थक वस्तु नहीं है; प्रत्युत् अन्नमय पुरुष जिस तामस अज्ञान और जडत्वके अत्यंत अधीन होता है उससे ऊपर उठकर मानव-प्रकृतिके ऊर्ध्वमुखीन विकासके साधनकी यही शर्त है; परम आत्मज्ञान, शक्ति और आनंदकी ओर मनुष्यका जो क्रम-बद्ध आरोहण है उसकी यह राजसिक अवस्था है। परंतु यदि हम सदा इसी भूमिकापर बने रहें, जिसे गीताने मध्यमा गति कहा है तो हमारा आरोहण पूरा नहीं होता, आत्म-विकास अधूरा रह जाता है। जीवकी सिद्धिका रास्ता है सात्विक सत्ता और स्वभावके भीतरसे होकर, और वह

अंतरात्मा इस द्वंद्व और संघर्षमें एक प्रकारका सुख अनुभव करता है, यह सुख उसे विपद् और दुःखमें भी होता है; अतीत विपद्को याद करने और पीछे फिरकर देखनेमें तो उसे पूरा सुख मिलता ही है, पर जिस समय विपद सिरपर है और दुःख हो रहा है उस समय भी वह परदेके पीछेसे सुख लेता रहता है और प्रायः दुखी मनके स्तरमें आकर भी उसके आवेशमें सहारा देता है। परंतु जो कुछ आत्माको सचमुच आकर्षित करता है वह इस संसारका नानाविध द्वंद्वोंसे भरा हुआ वह पदार्थ है जिसे हम जीवन कहते हैं, जो चेष्टा और कामनाके विक्षोभसे, आकर्षण और विकर्षणसे, लाभ और हानिसे, हर प्रकारके वैचित्र्यसे भरा पड़ा है। हममें जो राजसिक वासनात्मा है उसे एकरस सुख, संघर्षरहित सफलता और आवरणरहित हर्ष कुछ काल बाद अवसादकर, नीरस और अति-तृप्तिकरसा लगने लगता है; प्रकाशका पूरा सुख भोगनेके लिये इसे अंध-कारकी पृष्ठभूमि चाहिये; क्योंकि जो सुख वह चाहता और भोगता है वह ठीक उसी स्वभावका होता है, वह तत्त्वतः सापेक्षिक होता है और सुखका जो विपरीत तत्त्व है उसकी प्रतीति और अनुभूतिपर निर्भर करता है। अस्तु! हमारे मनको जीवनसे जो सुख मिलता है उसका रहस्य यही है कि हमारा अंतरात्मा जगत्के द्वंद्वोंमें आनंद लेता है।

इस मनसे यदि यह कहा जाय कि इन सब विक्षोभोंसे ऊपर उठो और उस विशुद्ध आनंदात्माके अमिश्र सुखको प्राप्त करो जो सदा ही गुप्त रूपसे इस द्वंद्वमय जीवनमें तुम्हें बल देता और तुम्हारा स्थायित्व बना रखता है, तो तुरंत यह इस आवाहनसे घबराकर पीछे हट जायगा। उसे यह विश्वास ही नहीं होता कि ऐसी द्वंद्वरहित स्थिति भी कोई हो सकती है; और यदि हो भी तो वह जीवन तो नहीं ही हो सकती। जगत्में अपने चारों ओर मनको जो वैचित्र्यमय जीवन देख पड़ता और जिसमें रह-

कर आनंद लेनेका उसको अभ्यास है वैसी स्थिति तो वह नहीं ही हो सकती, वह तो कोई ऐसी चीज ही हो सकती है जिसमें कोई स्वाद न हो, कोई लज्जत न हो। अथवा वह यह समझता है कि यह प्रयास उसके लिये अत्यंत कठिन होगा, ऊपर उठनेके लिये जो संघर्ष करना पड़ेगा उसके भयसे वह सहम जाता है, यद्यपि सच्ची बात तो यह है कि वासनात्मा सुखके स्वप्नोंको चरितार्थ करनेके लिये जितना प्रयत्न करता है उसकी अपेक्षा आध्यात्मिक रूपांतरको प्राप्त करना अधिक कठिन नहीं होता, और वासनात्मा अपने अनित्य सुखों और कामनाओंका कामांध होकर पीछा करते हुए जो महान् संघर्ष और प्रयास करता है उससे अधिक संघर्ष और प्रयासकी भी इसमें आवश्यकता नहीं होती। मनकी अनिच्छाका असली कारण तो यह है कि उससे अपने निजी वातावरणसे ऊपर उठने और जीवनकी एक अधिक असाधारण और अधिक विशुद्ध वायुका सेवन करनेके लिये कहा जाता है, जहांके आनंद और शक्ति उसके ध्यानमें ही नहीं आते, और ये सचमुचमें हैं इसपर वह विश्वास भी नहीं करता, इस निम्नतर पंकिल प्रकृतिके सुख ही उसके परिचित हैं और इन्हींको वह आसानीसे भोग भी सकता है। निम्न प्रकृतिके सुखोंका भोग भी अपने-आपमें कोई दोषपूर्ण और निरर्थक वस्तु नहीं है; प्रत्युत् अन्नमय पुरुष जिस तामस अज्ञान और जडत्वके अत्यंत अधीन होता है उससे ऊपर उठकर मानव-प्रकृतिके ऊर्ध्वमुखीन विकासके साधनकी यही शर्त है; परम आत्मज्ञान, शक्ति और आनंदकी ओर मनुष्यका जो क्रमबद्ध आरोहण है उसकी यह राजसिक अवस्था है। परंतु यदि हम सदा इसी भूमिकापर बने रहें जिसे गीताने मध्यमा गति कहा है तो हमारा आरोहण पूरा नहीं होता, आत्म-विकास अधूरा रह जाता है। जीवकी सिद्धिका रास्ता है सात्विक सत्ता और स्वभावके भीतरसे होकर, और वह

अंतरात्मा इस द्वंद्व और संघर्षमें एक प्रकारका सुख अनुभव करता है, यह सुख उसे विपद् और दुःखमें भी होता है; अतीत विपद्को याद करने और पीछे फिरकर देखनेमें तो उसे पूरा सुख मिलता ही है, पर जिस समय विपद सिरपर है और दुःख हो रहा है उस समय भी वह परदेके पीछेसे सुख लेता रहता है और प्रायः दुखी मनके स्तरमें आकर भी उसके आवेशमें सेहारा देता है। परंतु जो कुछ आत्माको सचमुच आकर्षित करता है वह इस संसारका नानाविध द्वंद्वोंसे भरा हुआ वह पदार्थ है जिसे हम जीवन कहते हैं, जो चेष्टा और कामनाके विक्षोभसे, आकर्षण और विकर्षणसे, लाभ और हानिसे, हर प्रकारके वैचित्र्यसे भरा पड़ा है। हममें जो राजसिक वासनात्मा है उसे एकरस सुख, संघर्षरहित सफलता और आवरणरहित हर्ष कुछ काल बाद अवसादकर, नीरस और अति-तृप्तिकरसा लगने लगता है; प्रकाशका पूरा सुख भोगनेके लिये इसे अंध-कारकी पृष्ठभूमि चाहिये; क्योंकि जो सुख वह चाहता और भोगता है वह ठीक उसी स्वभावका होता है, वह तत्त्वतः सापेक्षिक होता है और सुखका जो विपरीत तत्त्व है उसकी प्रतीति और अनुभूतिपर निर्भर करता है। अस्तु! हमारे मनको जीवनसे जो सुख मिलता है उसका रहस्य यही है कि हमारा अंतरात्मा जगत्के द्वंद्वोंमें आनंद लेता है।

इस मनसे यदि यह कहा जाय कि इन सब विक्षोभोंसे ऊपर उठो और उस विशुद्ध आनंदात्माके अमिश्र सुखको प्राप्त करो जो सदा ही गुप्त रूपसे इस द्वंद्वमय जीवनमें तुम्हें बल देता और तुम्हारा स्थायित्व बना रखता है, तो तुरंत यह इस आवाहनसे घबराकर पीछे हट जायगा। उसे यह विश्वास ही नहीं होता कि ऐसी द्वंद्वरहित स्थिति भी कोई हो सकती है; और यदि हो भी तो वह जीवन तो नहीं ही हो सकती। जगत्में अपने चारों ओर मनको जो वैचित्र्यमय जीवन देख पड़ता और जिसमें रह-

कर आनंद लेनेका उसको अभ्यास है वैसी स्थिति तो वह नहीं ही हो सकती, वह तो कोई ऐसी चीज ही हो सकती है जिसमें कोई स्वाद न हो, कोई लज्जत न हो। अथवा वह यह समझता है कि यह प्रयास उसके लिये अत्यंत कठिन होगा, ऊपर उठनेके लिये जो संघर्ष करना पड़ेगा उसके भयसे वह सहम जाता है, यद्यपि सच्ची बात तो यह है कि वासनात्मा सुखके स्वप्नोंको चरितार्थ करनेके लिये जितना प्रयत्न करता है उसकी अपेक्षा आध्यात्मिक रूपांतरको प्राप्त करना अधिक कठिन नहीं होता, और वासनात्मा अपने अनित्य सुखों और कामनाओंका कामांध होकर पीछा करते हुए जो महान् संघर्ष और प्रयास करता है उससे अधिक संघर्ष और प्रयासकी भी इसमें आवश्यकता नहीं होती। मनकी अनिच्छा-का असली कारण तो यह है कि उससे अपने निजी वातावरणसे ऊपर उठने और जीवनकी एक अधिक असाधारण और अधिक विशुद्ध वायुका सेवन करनेके लिये कहा जाता है, जहांके आनंद और शक्ति उसके ध्यानमें ही नहीं आते, और ये सचमुचमें हैं इसपर वह विश्वास भी नहीं करता, इस निम्नतर पंकिल प्रकृतिके सुख ही उसके परिचित हैं और इन्हींको वह आसानीसे भोग भी सकता है। निम्न प्रकृतिके सुखोंका भोग भी अपने-आपमें कोई दोषपूर्ण और निरर्थक वस्तु नहीं है; प्रत्युत् अन्नमय पुरुष जिस तामस अज्ञान और जडत्वके अत्यंत अधीन होता है उससे ऊपर उठकर मानव-प्रकृतिके ऊर्ध्वमुखीन विकासके साधनकी यही शर्त है; परम आत्मज्ञान, शक्ति और आनंदकी ओर मनुष्यका जो क्रम-बद्ध आरोहण है उसकी यह राजसिक अवस्था है। परंतु यदि हम सदा इसी भूमिकापर बने रहें, जिसे गीताने मध्यमा गति कहा है तो हमारा आरोहण पूरा नहीं होता, आत्म-विकास अधूरा रह जाता है। जीवकी सिद्धिका रास्ता है सात्त्विक सत्ता और स्वभावके भीतरसे होकर, और वह

पहुंचता है उस स्थानमें जो त्रिगुणातीत है।

जिस क्रियाके द्वारा हम निम्न प्रकृतिके विक्षोभोंसे बाहर निकल सकते हैं वह अवश्य ही एक ऐसी क्रिया होगी जो हमारे मनमें, हमारे चित्तमें और हमारे अंतरात्मामें समत्वकी प्रतिष्ठा करे। परंतु यह बात ध्यानमें रहे कि अंतमें यद्यपि हमें निम्न प्रकृतिके तीनों गुणोंके परे पहुंचना है तो भी आरंभिक अवस्थामें हमें इन तीनों गुणोंमेंसे किसी एक गुणका आश्रय करके ही आगे बढ़ना होगा। समत्वका यह आरंभ सात्विक हो सकता है अथवा राजस या तामस। कारण मानव स्वभावमें तामसी समताका होना भी संभव है। यह समता सर्वथा तामसी भी हो सकती है, अर्थात् प्राणवृत्ति आलसी होकर पड़ गयी हो, जीवनके आघातोंका प्रत्युत्तर जड़ताके कारण बंद हो गया हो तथा एक प्रकारकी मंद संज्ञा-हीनताके कारण जीवनके सुखोंके प्रति अनिच्छा हो गयी हो। अथवा सुखोंका बहुत अधिक भोग करते-करते भावावेग और काम थक गये हों, या फिर जीवनकी यंत्रणा सहते-सहते जीवनसे एक प्रकारकी निराशा या घृणा या ग्लानि पैदा हो गयी हो, जगत्से जी ऊब गया हो, वह भय-रूप त्रासरूप हो उठा हो, उससे अरुचि हो गयी हो और ये सब कारण मिलकर तामसिक समताको ले आये हों; पर इस शेषोक्त अवस्थामें वह एक मिश्रित राजस-तामस होता है, यद्यपि तमोगुणकी उसमें प्रधानता होती है। अथवा इस तामसी समतामें सत्वगुणकी ओर भी झुकाव हो सकता है और उस हालतमें बुद्धिमें यह बात जंचती है कि जीवनकी काम-नाओंकी कभी तृप्ति नहीं हो सकती, जीवमें इतनी शक्ति नहीं जो जीवन-को अपने वशमें करे, यह सब केवल दुःखमय और अनित्य प्रयास है, इस जीवनमें कोई वास्तविक सत्य नहीं, कोई स्वस्ति नहीं, कोई प्रकाश नहीं, कोई सुख नहीं। समताका यह सात्विक-तामस सिद्धांत है, इसमें

स्वयं समता बहुत अधिक नहीं है—यद्यपि यह सिद्धांत समताकी ओर ले जानेवाला हो सकता है—जितना कि इसमें उदासीनता या सब कुछ-को समान रूपसे अस्वीकार करनेका भाव है। वस्तुतः तामसी समता प्रकृतिके जुगुप्सा-तत्त्वका फैलाव है। किसी विशेष कष्ट या यंत्रणासे जो जी हटता है वही फैलकर प्रकृतिके समस्त प्रपंचको ही दुःखमय और यंत्रणामय जानने लगता है और यह समझने लगता है कि यह सारा प्रपंच दुःख और आत्म-यंत्रणाकी ओर प्रवाहित हो रहा है, जीव जिस आनंदकी इच्छा करता है उस ओर नहीं।

केवल तामसिक समताके अंदर वास्तविक मुक्ति नहीं है; किंतु जैसा कि भारतीय यतियोंने किया, इसको यदि प्रकृतिके परे जो अक्षर ब्रह्म है उसकी महत्तर स्थिति, सत्यतर शक्ति और उच्चतर आनंदके अनुभवद्वारा सात्त्विक बनाया जा सके तो आरंभ करनेके लिये तामसिक समता भी एक शक्तिशाली साधन होगी। पर इस प्रकारकी चेष्टा स्वभावतः ही संन्यासकी ओर, जीवन और कर्मोंके त्यागकी ओर ले जाती है न कि प्रकृतिके जगत्‌में कामनाके आंतर त्यागके साथ चिरकर्मण्यताकी एकता-की ओर, जो गीताका प्रतिपाद्य विषय है। फिर भी, गीता इस प्रकारके संन्यास और त्यागको स्वीकार करती और उसे भी एक स्थान देती है; जागतिक जीवनके 'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःख' रूप जो दोष हैं उन्हें देख-कर ऐसे जीवनसे पीछे हटनेकी वृत्तिको गीता बुरा नहीं कहती, गीता उसे मुक्तिकी ओर बढ़नेका एक साधन ही मानती है, गौतम बुद्ध इसी प्रकार आगे बढ़े थे। जो लोग जरा और मरणसे छुटकारा पानेके लिये तामसिक वैराग्यके भावसे भी आत्म-संयम करते हैं (जरामरणमोक्षाय मा-माश्रित्य यतन्ति ये) उनकी साधनाको भी गीता स्वीकार करती है, किंतु इस साधनासे यदि कोई लाभ उठाना है तो इसके साथ-साथ एक उच्च-

तर अवस्थाकी सात्त्विक अनुभूति चाहिये और भगवान्में ही आनंद और भगवान्का ही आश्रय लेना चाहिये (मामाश्रित्य)। तब जीव अपनी इस जुगुप्साके द्वारा एक उच्चतर स्थितिको प्राप्त होता है, त्रिगुणसे ऊपर उठ जाता है और जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखसे मुक्त होकर अपनी आत्म-सत्ताका अमृतत्व भोगता है (जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते)। जीवनके दुःख और प्रयासको स्वीकार करनेकी तामसिक अनिच्छा अपने-आपमें तो एक प्रकारकी दुर्बलता और अधोगति ही है और इसमें एक खतरा भी समाया हुआ है कि इसके द्वारा सब किसीको समान भावसे वैराग्य लेने और संसारसे घृणा करनेके उपदेशका प्रचार करना होता है जिससे अनधिकारी जीवोंमें तामसिक दुर्बलता और भीरुता पैदा होती है, उनका बुद्धिभेद होता है (बुद्धिभेदम् जनयेत्), उनकी सहज अभीप्सा, उनका जीवनगत आशा-भरोसा नष्ट होते और पुरुषार्थ करनेकी उनकी शक्ति क्षीण होती है जिनकी मानव-जीवको अवश्यकता है अपनी परि-स्थितिको वशमें करनेके कल्याणकर राजस प्रयासके लिये। तामस वैराग्य मनुष्यके लिये किसी उच्चतर लक्ष्य, महत्तर प्रयास और बलवत्तर विजय-का रास्ता खोले बिना ही—क्योंकि अभीतक ऐसी योग्यता उसमें नहीं आयी है—उसकी उपर्युक्त शक्तियोंको क्षीण कर देता है। परंतु जो जीव अधिकारी हैं उनके लिये यह तामसी विरक्ति आध्यात्मिक हेतुको सिद्ध करनेवाली यों हो सकती है कि इससे उनकी राजसिक आसक्ति तथा निम्न स्तरके जीवनमें उनका घुले-मिले रहना, जो उनके सत्त्वगुणके जाग-रणमें बाधक होकर उनकी उच्चतर संभावनाको अटकाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। तब इस प्रकार उनके जीवनमें जो शून्यावस्था आती है उसमें वे आश्रय ढूंढ़ते हुए भगवान्की इस पुकारको सुन पाते हैं कि "अरे जीव! तू जो अपने-आपको इस अनित्य असुखी जगत्में पाता है, तो मेरी ओर

मुंह कर और मुझमें आनंद ले (अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् )।"

फिर भी इस क्रियामें समता केवल इसी बातमें है कि यह जगत् जिन-जिन चीजोंसे बना है उन सभीसे हम समान भावसे भागते हैं और इससे जगत्के प्रति उपेक्षा और अलगावका भाव हो जाता है, इससे वह शक्ति नहीं मिलती जिसके द्वारा हम जगत्के सुखद या दुःखद सब स्पर्शोंको समभावसे, बिना किसी रागद्वेषके ग्रहण कर सकें, जो गीताकी साधनाका एक मुख्य तत्त्व है। इसलिये यदि हम तामसिक निवृत्तिसे ही आरंभ करें—यद्यपि इसकी कोई खास आवश्यकता नहीं—तो भी इसका उपयोग किसी महान् प्रयासमें प्रवृत्त होनेके लिये एक आरंभिक प्रेरणाके तौरपर ही किया जा सकता है, किसी स्थायी नैराश्यके तौरपर नहीं। साधना तो यथार्थमें तब आरंभ होती है जब जिन चीजोंसे पहले हम केवल भागना चाहते थे उन्हें अब अपने काबूमें करनेका प्रयत्न करते हैं। इस प्रयत्नमें एक प्रकारकी राजसिक समता की संभावना होती है। आत्म-वशित्व, आत्म-संयमको प्राप्त करनेमें प्राणावेग और दुर्बलता-से ऊपर उठनेमें बलवान्-स्वभाव व्यक्तिको जो गर्व होता है वह इस राजसिक समताका निकृष्ट रूप है; किंतु स्टोइक संप्रदायवाले इसीको पकड़-कर ही आगे बढ़ते हैं और इसीको वे निम्न प्रकृतिकी समस्त दुर्बलताओं-की अधीनतासे जीवको सर्वथा मुक्त कर देनेका प्रधान साधन बनाते हैं। जिस प्रकार तामसिक निवृत्ति प्रकृतिके जुगुप्सा-तत्त्वका, अर्थात् दुःखसे आत्म-संरक्षणका फैलाव है उसी प्रकार ऊर्ध्वमुखी राजसिक प्रवृत्ति संघर्ष और प्रयासको स्वीकार करनेवाला तथा प्रभुत्व और विजयको प्राप्त करनेके लिये जीवनकी अंतर्निहित प्रेरणाको स्वीकार करनेवाला प्रकृतिका जो दूसरा तत्त्व है उसका फैलाव है; पर यह प्रवृत्ति युद्धको उस क्षेत्रमें

ले जाती है जहां ही पूर्ण विजय प्राप्त हो सकती है। कुछ छितरे हुए बाह्य उद्देश्यों और क्षणिक सफलताओंके लिये लड़ने-झगड़नेके बजाय यह साधना साधकको आध्यात्मिक युद्धके द्वारा और आंतरिक विजयके द्वारा प्रकृति और स्वयं जगत्‌को ही जय करनेके रास्तेपर ले आती है। तामसिक निवृत्ति जगत्‌के सुख और दुःख, दोनोंसे किनारा कसती तथा उनसे भागना चाहती है और राजसिक साधना उन्हें सहने, उन्हें काबूमें करने और उनके ऊपर उठनेका रास्ता निकालती है। स्टोइक संप्रदायकी साधना काम और प्राणावेगको पहलवानकी तरह अपनी दोनों बाहुओंमें दबाकर चूर-चूर कर डालती है जैसे धृतराष्ट्रने लोहेके भीमको चूर-चूर कर डाला था। यह सुखद और दुःखद सभी चीजोंके धक्कोंको सहती, प्रकृतिके भौतिक और मानसिक असरके कारणोंको बरदाश्त करती और उनके परिणामोंको चकनाचूर कर डालती है। इसकी पूर्णता तब समझनी चाहिये जब जीव बिना दुखी या अनुरक्त हुए, बिना उत्तेजित या व्याकुल हुए सब स्पर्शोंको सह सके। इस साधनाका हेतु ही मनुष्यको अपनी प्रकृतिका विजेता और राजा बनाना है।

गीता अर्जुनके क्षात्र स्वभावका आवाहन करके इसी वीरोचित साधनासे अपना उपदेश आरंभ करती है। गीता अर्जुनका आवाहन करती है कि तुम इस महाशत्रु कामपर टूट पड़ो और इसे मार डालो। गीताने समत्वका जो पहला वर्णन किया है वह स्टोइक दार्शनिकके वर्णनके जैसा ही है। "दुःखोंके बीच जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुखोंके बीच जिसे उनकी कोई इच्छा नहीं होती, राग भय क्रोध जिससे निकल गये वही स्थितधी मुनि है। जो, चाहे उसे शुभ प्राप्त हो या अशुभ, सभी विषयोंमें स्नेहशून्य रहता है, न उनका हर्षपूर्ण स्वागत करता न उनसे द्वेष करता है उसीकी बुद्धि ज्ञानमें स्थित है।" गीताने

एक स्थूल दृष्टांत देकर समझाया कि यदि कोई मनुष्य आहार न करे तो यह इंद्रिय-विषय उसपर असर न करेगा, पर इंद्रियमें उसे जो 'रस' है वह तो रहेगा ही ; आत्माकी परम स्थिति तो तब प्राप्त होती है जब इंद्रियसे विषय ग्रहण करते हुए भी वह इंद्रिय-भोगकी लालसासे मुक्त रह सके, विषयोंके मोहको छोड़ सके और आस्वादनके सुखका त्याग कर सके। रागद्वेषसे मुक्त, आत्मवशीकृत ज्ञानेंद्रियोंके द्वारा विषयों-के ऊपर विचरण करते हुए (विषयान् इन्द्रियैश्चरन्) ही कोई आत्मा और स्वभावकी उदार और मधुर पवित्रताको प्राप्त कर सकता है जिसमें कामक्रोध और शोकमोहके लिये कोई स्थान नहीं है। सब कामनाएं आत्मामें वैसे ही प्रवेश करेंगी जैसे नदी-नद समुद्रमें प्रवेश करते हैं, और तब भी आत्माको रहना होगा अचल-प्रतिष्ठ, परिपूरित पर अक्षुब्ध; इस प्रकार अंतमें सब कामनाओंका त्याग किया जा सकता है। इस बातपर बार-बार जोर दिया गया है कि कामक्रोधभयमोहसे छुटकारा पाना मुक्त-पद लाभ करनेके लिये अत्यंत आवश्यक है और इसलिये हमें इनके धक्कों-को सहना सीखना होगा और यह कार्य बिना इन धक्कोंके कारणोंका सामना किये नहीं हो सकता। "जो कोई यहां इस शरीरमें काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सह सकता है वही योगी है, वही सुखी है।" तितिक्षा, अर्थात् सहनेका संकल्प और शक्ति इसका साधन है। "शीत और उष्ण, सुख और दुःख देनेवाले जो मात्रास्पर्श हैं वे अनित्य हैं, आते और जाते रहते हैं, इन्हें सहना सीख लो। जिस पुरुषको ये व्यथित या दुखी नहीं करते, सुख-दुःखमें जो सम और धीर रहता है वही अमृतत्व पानेके योग्य होता है।" जिस पुरुषका आत्मा सम-त्वको प्राप्त हो गया है उसे दुःख सहना होता है वह दुःखका तिरस्कार नहीं कर सकता, उसे सुख ग्रहण करना होता है वह सुखसे हर्षित नहीं,

हो सकता। शारीरिक यंत्रणाओंको भी सहिष्णुताके द्वारा जीतना होता है और यह भी स्टोइक साधनाका एक अंग है। जरा, मृत्यु, दुःख, यंत्रणा, इनसे भागनेका काम नहीं, प्रत्युत इन्हें स्वीकार कर उदासीनताके द्वारा इन्हें जीतना होता है*। प्रकृतिके निम्नस्तरीण छद्मरूपोंसे भीत होकर भागना नहीं बल्कि ऐसी प्रकृतिका सामना करके उसे जीतना ही पुरुषसिंहकी (पुरुषर्षभ) तेजस्विनी प्रकृतिका सच्चा सहज भाव है। ऐसे पुरुषसे विवश होकर प्रकृति अपना छद्मवेश उतार देती और उसे उसका असली आत्मस्वरूप दिखा देती है जिस स्वरूपमें वह प्रकृतिका दास नहीं बल्कि उसका स्वराट्, सम्राट् है।

परंतु गीता इस स्टोइक साधनाको, इस वीरधर्मको उसी शर्त्तपर स्वीकार करती है जिस शर्त्तपर वह तामसिक निवृत्तिको स्वीकार करती है, और वह यह कि इसके ऊपर ज्ञानकी सात्विक दृष्टि, इसके मूलमें आत्म-साक्षात्कारका लक्ष्य और इसकी चालमें दिव्य स्वभावकी ओर ऊर्ध्वगति होनी चाहिये। स्टोइक संप्रदायकी जिस साधनाके द्वारा मानव-स्वभावके सामान्य स्नेहभाव कुचल डाले जाते हैं वह जीवनके प्रति तामसिक क्लांति, निष्फल नैराश्य और ऊजड़ जड़त्वकी अपेक्षा कम खतरनाक है सही, क्योंकि यह जीवके पौरुष और आत्म-वशित्वको बढ़ानेवाली है, पर फिर भी यह अमिश्र शुभ नहीं है कारण इससे सच्ची आध्यात्मिक मुक्ति नहीं मिलती, बल्कि इससे हृदयहीनता और निष्ठुर ऐकांतिकता आ सकती है। गीताकी साधनामें स्टोइक संप्रदायकी समताका जो समर्थन मिलता है वह इसीलिये है कि यह साधना क्षर मानव-प्राणीको मुक्त अक्षर पुरुष-

* गीताका कथन है, "धीरस्तत्र न मुह्यति" अर्थात धीर बुद्धिमान् पुरुष उनसे घबराता नहीं। परंतु फिर भी इन्हें जो स्वीकार करता है वह इन्हें जीतनेके लिये ही करता है—"जरामरणमोक्षाय।"

का साक्षात्कार करनेमें (परं दृष्ट्वा) और इस नवीन आत्म-चेतनाको प्राप्त करनेमें (एषा ब्राह्मीस्थिति) साथ और सहायता दे सकती है। "बुद्धिके भी परे जो परमात्मा हैं उनको बुद्धिके द्वारा जानकर आत्माको आत्म-शक्तिसे ही स्थिर और निश्चल करो और इस दुर्द्धर्ष शत्रु कामको मार डालो।" तामसिक विरक्ति और युद्ध करने और विजय लाभ करने-वाली राजसिक प्रवृत्ति दोनों ही अच्छी हो सकती हैं यदि उनका लक्ष्य सत्त्वगुणके द्वारा आत्म-ज्ञानको प्राप्त करना हो, क्योंकि निवृत्ति और संघर्षात्मक प्रवृत्ति दोनोंकी सार्थकता उसीसे है।

विशुद्ध दार्शनिक, मनीषी, जन्म-ज्ञानी पुरुष अपने आचार-विचार-के लिये सत्त्वगुणको केवल अपना सबसे बढ़िया पैमाना ही नहीं मानता बल्कि आत्म-वशित्वके साधनमें आरंभसे ही उसीसे काम लेता है। उसका आरंभ ही सात्त्विक समतासे होता है। वह भी जड़प्राकृतिक और बाह्य जगत्की क्षणभंगुरताको देखता-समझता है और यह जानता है कि यह जगत् हमारी कामनाओंको पूर्ण नहीं कर सकता न यह हमें सच्चा सुख ही दे सकता है; परंतु इससे उसमें कोई शोक, भय या नैराश्य नहीं उत्पन्न होता। वह स्थिर शांत बुद्धिसे सब कुछ देख लेता और बिना किसी द्वेष या घबराहटके अपना मार्ग निश्चित कर लेता है। "विषयेंद्रियसंयोगसे उत्पन्न होनेवाले ये भोग दुःखके ही कारण हैं, इनका आदि है, अंत है; इस-लिये ज्ञानी, जाग्रत बुद्धिवाला पुरुष (बुध) इनमें रमण नहीं करता।" "उसका आत्मा इन बाह्य स्पर्शोंमें आसक्त नहीं होता, वह अपना सुख अपने अंदर ही पाता है।" वह यह देख पाता है कि हम ही तो अपने शत्रु हैं और हम ही तो अपने मित्र और इसलिये वह सदा सावधान रहता और अपने-आपको काम क्रोधके हवाले नहीं करता (नात्मानमवसादयेत्), बल्कि अपनी अंतःशक्तिका प्रयोग कर अपने-आपको इनके कैदखानेसे

एकदम छुड़ा लेता है (उद्धरेदात्मनात्मानं); क्योंकि जिस किसीने अपनी निम्न प्रकृतिको जीत लिया है वह अपने उच्चतर स्वभावको अपने सर्वोत्तम सखा और साथीके रूपमें पाता है। वह ज्ञानसे तृप्त हो जाता है, अपनी इंद्रियोंका स्वामी हो जाता है, सात्विक समत्वके द्वारा योगी हो जाता है—क्योंकि समत्व ही तो योग है (समत्वं योग उच्यते),—उसकी दृष्टिमें मिट्टी पत्थर और सोना सब बराबर है; सरदी-गरमीमें, सुख-दुःखमें, मान-अपमानमें वह एकसा ही शांत और सम रहता है। शत्रु, मित्र, तटस्थ और उदासीन सबके लिये वह आत्मभावमें सम होता है, क्योंकि वह यह देखता है कि ये संबंध अनित्य हैं जो जीवनकी सदा बदलनेवाली परिस्थितिसे उत्पन्न होते हैं। विद्या, शुचिता और सदाचारकी बुनियाद-पर किये जानेवाले श्रेष्ठ-कनिष्ठ-भेद भी उसे नहीं भरमा सकते। वह साधु-असाधु, सदाचारपूत विद्वान, सुसंस्कृत ब्राह्मण और पतित चांडाल, अर्थात् मनुष्यमात्रके लिये सम, आत्मभावयुत होता है। गीतामें सात्विक समताका जो वर्णन है वह यही है और ज्ञानी मुनिकी जिस शांत बौद्धिक समतासे यह जगत् परिचित है उसका सार इसमें अच्छी तरहसे आ गया है।

तब इस समतामें और गीता जिस उदारतर समताका उपदेश करती है उसमें, क्या भेद है? वह भेद यह है कि दार्शनिकोंकी समताका आधार है बौद्धिक विवेक और गीताकी समताका आधार है आध्यात्मिक वेदांतिक अद्वैत ज्ञान। दार्शनिक अपनी विवेकवती बुद्धिके बलसे अपने समत्वको बनाये रहते हैं परंतु यह स्वतः एक कमजोर नींव है। कारण, यद्यपि सतत सावधान रहके और मनको अभ्यस्त करके वे अपने-आप-पर एक तरहका काबू रखते हैं, पर वास्तवमें वे अपनी निम्न प्रकृतिसे मुक्त नहीं होते, और यह प्रकृति कई तरहसे अपनी सत्ता दिखाती

रहती है और अपने त्यागे जाने और निगृहीत किये जानेका चाहे जब भयानक प्रतिशोध ले सकती है। कारण निम्न प्रकृतिका खेल सदा ही त्रिगुणात्मक है और रजोगुण तथा तमोगुण सात्विक मनुष्यपर हमला करनेके लिये सदा घात लगाये रहते हैं। "सिद्धिके साधनमें यत्नशील बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी हठी इंद्रियां जबरदस्ती खींच ले जाती हैं।" निम्न प्रकृतिसे पूर्ण संरक्षण तो सत्त्वगुणसे किसी बड़ी चीजका, विवेक बुद्धिसे किसी बड़ी चीजका, अर्थात् आत्माका—दार्शनिकोंके बुद्धि-पुरुषका नहीं बल्कि दिव्य ज्ञानीके त्रिगुणातीत आध्यात्मिक आत्माका—आश्रय लेनेसे ही प्राप्त होता है। सबकी समाप्ति उसी आध्यात्मिक परा प्रकृतिमें जन्म लेकर करनी होगी।

दार्शनिकोंकी समता स्टोइक संप्रदायवालोंकीसी, जगतसे भागनेवाले यती-वैरागी-संन्यासियोंकीसी होती है, जो मनुष्योंसे अलग, उनसे बिलकुल दूर एक आंतरिक निर्जन स्वातंत्र्य है; पर जिस मनुष्यका दिव्य जन्म हुआ है उसने भगवान्को केवल अपने ही अंदर नहीं पाया है, बल्कि सब चराचर जीवोंमें भी उनको उपलब्ध किया है। उसने सबके साथ अपनी एकताका अनुभव किया है और इसलिये उसकी समता सबके साथ सहानुभूति और एकतासे परिपूर्ण होती है। वह सबको अपना स्वरूपसा ही देखता है और अपने अकेलेकी मुक्तिका इच्छुक नहीं होता। वह दूसरोंके सुख-दुःखोंका बोझ तक अपने ऊपर उठा लेता है और स्वयं न उससे प्रभावित होता है न उसके अधीन। गीताने बार-बार इस बातको दुहराया है कि सिद्ध ज्ञानी सदा अपने उदार समत्वमें स्थिर रहता हुआ सब जीवोंके कल्याण-साधनमें लगा रहता है "सर्वभूतहिते रताः"। सिद्ध योगी आध्यात्मिक एकांतके किसी दिव्य भव्य स्तंभपर आत्माके ध्यानमें मग्न होकर नहीं बैठा रहता, बल्कि वह जगत्के

कल्याणके लिये, जगन्निवास भगवान्‌के लिये बहुविध विश्वव्यापी कर्मोंका कर्त्ता होता है। क्योंकि वह प्रेमी और उपासक भक्त है, ज्ञानी है और योगी भी—ऐसा प्रेमी जो भगवान्‌को जहां कहीं वे मिलते वहीं उनसे प्रेम करता है और भगवान् जिसको हर जगह मिलते हैं; और जिसको वह प्यार करता है उसकी सेवा करनेसे वह विमुख नहीं होता, न जो कुछ कर्म उसके द्वारा होता है वह उसे भगवान्‌के साथ एकत्वके आनंदसे अलग ही करता है, क्योंकि उसके सारे कर्म उसके अंदर स्थित उन्हीं एकसे ही निकलते और सबके अंदर रहनेवाले उन्हीं एककी ओर ही प्रवाहित होते हैं। गीताका समत्व इस प्रकार उदार समन्वयात्मक समत्व है जो सब कुछको भागवत सत्ता और भागवत प्रकृतिकी पूर्णतामें ऊपर उठा देता है।

---

# समत्व और ज्ञान

योग और ज्ञान, गीताकी शिक्षाके पहले भागमें, जीवके वे दो पंख हैं जिनके सहारे वह ऊपर उठता है। योगसे अभिप्रेत है निष्काम होकर, समस्त पदार्थों और मनुष्योंके प्रति आत्म-समत्व रखकर पुरुषोत्तम प्रीत्यर्थ यज्ञरूप किये गये दिव्य कर्मोंके द्वारा भगवान्से एकता, और ज्ञानसे अभिप्रेत है वह ज्ञान जिसपर यह निष्कामता, यह समता, यह यज्ञ-शक्ति प्रतिष्ठित है। दोनों ही पंख निश्चय ही उडानमें एक दूसरेकी सहायता करते हैं; दोनों एक साथ क्रिया करते रहते हैं, फिर भी इस क्रियामें बारी-बारीसे एक दूसरेकी सहायता करनेका सूक्ष्म हिसाब रहता है, वैसे ही जैसे मनुष्यकी दोनों आंखें चूंकि बारी-बारीसे देखती हैं इसीलिये एक साथ देखती हैं, इसी प्रकार योग और ज्ञान अपने सार तत्त्वके परस्पर आदान-प्रदानके द्वारा एक दूसरेको संवर्द्धित करते रहते हैं। ज्यों-ज्यों कर्म अधिकाधिक निष्काम, समबुद्धियुक्त और यज्ञभावापन्न होता जाता है त्यों-त्यों ज्ञानकी वृद्धि होती है और ज्यों-ज्यों ज्ञानकी वृद्धि होती है त्यों-त्यों जीव अपने कर्मकी निष्काम और यज्ञात्मक समतामें अधिकाधिक दृढ़ होता जाता है। इसीलिये गीताने कहा कि किसी द्रव्य-यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। "चाहे तू पाप-कर्मियोंमें सबसे बड़ा पाप-कर्मी भी क्यों न हो, ज्ञानकी नौकामें बैठकर पापके कुटिल समुद्रको

पार कर जायगा।...इस जगत्में ज्ञानके समान पवित्र और कुछ भी नहीं है।" ज्ञानसे काम और उसकी सबसे पहली संतान पापका ध्वंस होता है। मुक्त पुरुष कर्मोंको यज्ञरूपसे इसीलिये कर सकता है कि उसके मन, हृदय और आत्मा आत्मज्ञानमें दृढ़ प्रतिष्ठ होनेके कारण वह आसक्तिसे मुक्त होता है (गतसङ्गस्य...ज्ञानावस्थित चेतसः)। उसके सारे कर्म होनेके साथ ही सर्वथा लय हो जाते हैं, यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मकी सत्तामें विलीन हो जाते हैं (प्रविलीयते)। बाह्यतः जो कर्त्ता देख पड़ता है उसके अंतरात्मापर उन कर्मोंका कोई प्रतिगामी परिणाम नहीं होता। वे कर्म स्वयं भगवान् ही अपनी प्रकृतिके द्वारा करते हैं, वे अब मानव-उपकरणके अपने नहीं रह जाते। कर्म स्वयं ही तब ब्रह्मकी सत्ताके स्वभाव और स्वरूपकी एक शक्ति बन जाता है।

गीताके इस वचनका कि, "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" यही अभिप्राय है—सारा कर्म ज्ञानमें अपनी पूर्णता, परिणति और परिसमाप्तिको प्राप्त होता है। "प्रज्वलित अग्नि जिस तरह ईंधनको जलाकर राख कर देती है उसी तरह ज्ञानकी अग्नि सब कर्मोंको भस्म कर देती है।" इसका यह अभिप्राय जरा भी नहीं कि जब पूर्ण ज्ञान होता है तब कर्म बंद हो जाते हैं। इसका वास्तविक अभिप्राय गीताके इस श्लोकसे स्पष्ट होता है कि, "योगसंन्यस्त कर्माणं ज्ञान संछिन्न संशयम्। आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥" अर्थात् जिसने ज्ञानके द्वारा अपने सब संशयको काट डाला और योगके द्वारा कर्मोंका संन्यास किया वह आत्मवान् पुरुष अपने कर्मोंसे नहीं बंधता, फिर गीताका यह वचन कि, "सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते" इसी अभिप्रायको व्यक्त करता है—जिसका आत्मा सब भूतोंका आत्मा हो गया है वह कर्म करता है पर अपने कर्मोंमें लिप्त नहीं होता, उनमें फंसता नहीं, आत्माको बंधन-

में डालनेवाली कोई प्रतिक्रिया वह उनसे ग्रहण नहीं करता। इसीलिये तो गीताने कहा है कि कर्मोंके भौतिक संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है, कारण जहां संन्यास देहधारियोंके लिये कठिन है—क्योंकि जबतक देह है तबतक उन्हें कर्म करना ही पड़ेगा—वहां कर्मयोग अभीष्टसिद्धिके लिये सर्वथा पर्याप्त है और यह जीवको ब्रह्मके पास शीघ्रता और सुगमतासे ले जाता है। यह कर्मयोग, पहले कहा जा चुका है कि, संपूर्ण कर्मका भगवान्‌को अर्पण करना है, जिसकी परिसमाप्ति ब्रह्मके प्रति कर्मोंके एक ऐसे अर्पणमें होती है जो आंतरिक होता है बाह्य नहीं, जो आध्यात्मिक होता है भौतिक नहीं (ब्रह्मण्याध्याय...मयि संन्यस्य)। कर्मोंका जब इस प्रकार ब्रह्ममें आधान हो जाता है तब उपकरणमेंसे कर्त्ताका भाव जाता रहता है; वह कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता; क्योंकि उसने केवल कर्मफलोंका ही अर्पण नहीं किया है, बल्कि स्वयं कर्म और उसको करना भी भगवान्‌को दे दिया है। तब, भगवान् उसके कर्मोंके भारको अपने ऊपर ले लेते हैं; भगवान् स्वयं कर्त्ता, कर्म और फल बन जाते हैं।

गीता जिस ज्ञानकी बात कहती है वह मनकी कोई बौद्धिक क्रिया नहीं है, गीताका ज्ञान है सत्यस्वरूप दिव्य सूर्यके प्रकाशके उद्भासनके द्वारा सत्ताकी उच्चतम अवस्थामें संवर्द्धन। यह सत्य, यह सूर्य वही है जो हमारे अज्ञानके अंधकारके भीतर छिपा हुआ है और ऋग्वेदमें जिसका यों वर्णन मिलता है, "तत्सत्यं सूर्यं तमसि क्षियन्तम्"। यह ज्ञान हमें अक्षर ब्रह्मके स्वरूपको यों बतलाता है कि अक्षर ब्रह्म इस द्वंद्वमय विक्षुब्ध निम्न प्रकृतिके ऊपर आत्माके व्योममें विराजमान है, निम्न प्रकृतिके पाप-पुण्य उसे स्पर्श नहीं करते, हमारे धर्म-अधर्मकी भावनाको वह स्वीकार नहीं करता, इनके सुख और दुःख उसे स्पर्श नहीं करते, हमारी

सफलता और विफलताके हर्ष और शोकके प्रति वह उदासीन रहता है, वह सबका स्वामी है, प्रभु है, विभु है, स्थिर है, समर्थ है, सबके प्रति सम है, प्रकृतिका मूल है, वह हमारे कर्मोंका प्रत्यक्ष कर्त्ता नहीं बल्कि प्रकृति और उसके कर्मोंका साक्षी है, न वह हमपर कर्त्ता होनेके भ्रमको ही आरोपित करता है क्योंकि यह भ्रम तो निम्न प्रकृतिके अज्ञानका परिणाम है। परंतु इस मुक्ति, प्रभुता और विशुद्धताको हम लोग नहीं देख पाते; क्योंकि हम लोग प्राकृतिक अज्ञानसे विमूढ़ हुए रहते हैं और यह अज्ञान हमारे अंदर कूटस्थ ब्रह्मका जो सनातन आत्मज्ञान है उसको हमसे छिपाये रहता है। पर जो इस ज्ञानका लगातार अनुसंधान करते हैं उन्हें इसकी प्राप्ति होती है और यह ज्ञान उनके प्राकृतिक अज्ञानको दूर कर देता है; यह बहुत कालसे छिपे हुए सूर्यकी तरह उद्भासित होता है और हमारी दृष्टिके सामने उस परम आत्म-सत्ताको प्रकाशित कर देता है जो इस निम्न जीवनके द्वंद्वके परे है (आदित्यवत् प्रकाशयति तत्परम्)। दीर्घ कालतकजी-जानसे साधना करनेसे, अपनी समग्र सचेतन सत्ताको उसी आत्म-तत्त्वकी ओर लगानेसे, उसीको अपना एकमात्र लक्ष्य बनानेसे, केवल उसीको हमारी विवेक-बुद्धिका विषय बनानेसे और इस प्रकार उसको न केवल अपने ही अंदर बल्कि अखिल जगत्में देखनेसे, हम उसके साथ एक-बुद्धि और एक-आत्मा हो जाते हैं (तद्बुद्धयः तदात्मानः), हमारी अधःसत्ता-के कल्मष ज्ञानके जलसे* धुल जाते हैं (ज्ञान निर्धूत कल्मषाः)।

इसका फल, गीता कहती है कि, सब पदार्थों और सब प्राणियोंके

---

* ऋग्वेदमें सत्यस्रोतकी इन धाराओंका वर्णन है। ये सिद्ध ज्ञानकी धाराएं हैं, दिव्य सूर्यालोकसे परिपूर्ण हैं,—"ऋतस्य धाराः, आपो-विचेतसः, स्वर्वतिरापः।" यहां इनका प्रयोग आलंकारिक अर्थमें हुआ है, वहां (वेदोंमें) प्रत्यक्ष प्रतीकके रूपमें।

प्रति पूर्ण समत्वकी सिद्धि है; और ऐसा समत्व सिद्ध होनेपर ही हम अपने कर्मोंका 'ब्रह्ममें' पूर्णरूपसे 'आधान' कर सकते हैं। कारण ब्रह्म सम है (समं ब्रह्म) और जब यह पूर्ण समता हममें हो जाती है (साम्ये स्थितं मनः) तभी हम "विद्याविनयसंपन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, श्वान, और चांडालको समदृष्टिसे देखते हुए" और सबको एक ब्रह्म जानते हुए और उस एकत्वमें स्थित रहते हुए ब्रह्मके समान ही अपने कर्मोंके प्रवाहको, आसक्ति, पाप या बंधनके भयसे सर्वथा मुक्त होकर, प्रकृतिसे निकलता हुआ स्वच्छंद रूपसे देख सकते हैं। तब पाप या कलंक नहीं लग सकता; क्योंकि हमने उस सृष्टिको जीत लिया है (तैर्जितः सर्गः) जो काम और उसके कर्मों और उनकी प्रतिक्रियाओंसे भरी हुई है और जो अज्ञानकी है और चूंकि अब हम दिव्य परा प्रकृतिमें रहने लगते हैं इसलिये हमारे कर्म प्रमादरहित दोषरहित होते हैं, क्योंकि प्रमाद और दोष तो अज्ञानजनित विषमताओंकी उपज हैं। सम ब्रह्ममें कोई दोष नहीं (निर्दोषं हि समं ब्रह्म); वह शुभ-अशुभकी द्वंद्वमय भ्रांतिके परे है, और ब्रह्ममें निवास करते हुए हम भी शुभ-अशुभके ऊपर उठ जाते हैं; और उस विशुद्ध स्थितिमें रहते हुए हम निर्दोष रूपसे कर्म करते हैं और इन कर्मोंको करनेमें हमारा एकमात्र हेतु होता है प्राणिमात्रका समानरूपसे हित साधन करना (क्षीण कल्मषाः सर्वभूत हिते रताः)। हमारी अज्ञानावस्थामें भी हमारे कर्मोंके मूल हमारे हृद्देशस्थित ईश्वर ही हैं, पर उनकी यह क्रिया उनकी मायाके द्वारा, हमारी निम्न प्रकृतिके अहंकारके द्वारा होती है, और यह निम्न प्रकृति ही हमारे कर्मोंके जटिल जालको बुनकर तैयार करती है और बादमें इस जालके फैलावकी जो प्रतिक्रियाएं होती हैं उनको हमारे अहंकारपर ला पटकती है, जिसका आंतरिक असर तो यह होता है कि हममें पाप-पुण्यका भाव आ जाता

है और बाह्य असर यह कि हम सुख-दुःख और सौभाग्य-दुर्भाग्य बोध करने लगते हैं, और यही है कर्म-बंधनकी जबरदस्त सांकल। जब ज्ञानके द्वारा इससे मुक्ति मिलती है तब भगवान्, जो अब हृदयमें छिपे हुए नहीं बल्कि हमारे परम आत्माके रूपमें प्रकट हो गये हैं, हमारे कर्मोंको अपने हाथोंमें ले लेते और जगत्के उद्धार-कार्यमें हमारा निर्दोष यंत्र-वत् (निमित्त मात्रम्) उपयोग करते हैं। ज्ञान और समत्वमें ऐसी ही घनिष्ठ एकता है, यहां, बुद्धिके क्षेत्रमें, ज्ञान प्रतिबिंबित होता है स्वभावमें समत्वके रूपमें और ऊपर, चेतनाके उच्चतर क्षेत्रमें, ज्ञान सत्ताका प्रकाश हो जाता है और प्रकृति ऐसी प्रतीत होने लगती है मानो समत्वसे ही बनी हो।

'ज्ञान' शब्द भारतीय दर्शनशास्त्रों और योगशास्त्रोंमें सर्वत्र ही इसी परम आत्मज्ञानके अर्थमें ही प्रयुक्त होता है। ज्ञान वह ज्योति है जिसके द्वारा हम अपनी सत्य सत्तामें संवर्द्धित होते हैं, वह चीज नहीं जिससे हमारी जानकारी बढ़ती और हमारी बौद्धिक संपत्ति संचित होती है; यह कोई जड़वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिक अथवा दार्शनिक या नैतिक या रससंबंधी अथवा जागतिक और व्यावहारिक ज्ञान नहीं है। ये सब भी निस्संदेह हमारी उन्नतिमें मदद करते हैं, पर ये हमारे मात्र भूत-भावके विकासके सहायक हैं, हमारी आंतरिक सत्ताके विकासके नहीं। यौगिक ज्ञानमें इनका समावेश तब किया जा सकता है जब हम इनसे परमात्मा, आत्मा, भगवान्को जाननेके काममें कोई मदद लें; जड़वैज्ञानिक विद्याको हम यौगिक ज्ञान तब बना सकते हैं जब हम उसकी प्रक्रियाओं और घटनाओंके परदेको भेदकर उस एकमात्र सद्वस्तुको देख लें जिससे सब बातें स्पष्ट हो जाती हैं, मनोवैज्ञानिक विद्याको यौगिक ज्ञान तब बनाया जा सकता है जब हम उससे अपने-आपको जानने और निम्न-उच्चका

विवेक करनेका काम ले सकें, जिससे कि निम्न अवस्थाको हम छोड़ सकें और उच्च अवस्थामें संवर्द्धित हो सकें; दार्शनिक विद्याको हम यौगिक ज्ञान तब बना सकते हैं जब हम इससे जीवनके मूल तत्त्वोंको जाननेके लिये एक ज्योतिका काम लें, ताकि उसे हम पा लें और उसीमें रहें जो सनातन है, शाश्वत है; नैतिक विद्याको हम यौगिक ज्ञान तब बना सकते हैं जब हम इससे पाप और पुण्यके भेदको जान जायं, पापको दूर कर और पुण्यके ऊपर उठकर दिव्य प्रकृतिकी निर्मलतामें पहुंच जायं; रस-विद्याको हम यौगिक ज्ञान तब बना सकते हैं जब हम इसके द्वारा भगवान्‌के सौंदर्यको पा लें; जागतिक और व्यावहारिक विद्याको हम यौगिक ज्ञान तब बना सकते हैं जब हम उसके भीतरसे यह देख पावें कि ईश्वर अपनी सृष्टिके साथ कैसा व्यवहार करते हैं और फिर उस ज्ञानका उपयोग मनुष्यमें रहनेवाले भगवान्‌की सेवाके लिये करें। परंतु तब भी ये केवल सच्चे ज्ञानके सहायक भर ही होते हैं; वास्तविक ज्ञान तो वही है जो मनके लिये अगोचर है, मन जिसका आभासमात्र ही पाता है; सच्चा ज्ञान तो आत्मामें ही होता है।

यह ज्ञान कैसे प्राप्त होता है इसका वर्णन करते हुए गीता कहती है कि पहले इस ज्ञानकी दीक्षा लेनी होती है तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंसे, उनसे नहीं जो तत्त्वज्ञानको केवल बुद्धिसे जानते हैं बल्कि उन ज्ञानियोंसे जिन्होंने इसके मूल सत्यको प्रत्यक्ष देखा है (ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः); परंतु वास्तविक ज्ञान तो हमें हमारे अंदरसे मिलता है, "योगके द्वारा संसिद्धिको प्राप्त मनुष्य उसको अपने-आप ही यथा समय अपने आत्मामें पाता है," अर्थात् यह ज्ञान उस मनुष्यमें संवर्द्धित होता रहता है और ज्यों-ज्यों वह मनुष्य निष्कामता, समता और भगवद्भक्तिमें बढ़ता जाता है त्यों-त्यों वह ज्ञानमें भी बढ़ता जाता है। परंतु यह बात केवल परम ज्ञानके संबंधमें

ही पूर्ण रूपसे कही जा सकती है, नहीं तो जो ज्ञान मनुष्य अपनी बुद्धिसे बटोरता है वह तो इंद्रियों और तर्कशक्तिके द्वारा परिश्रम करके बाहरसे ही बटोरा जाता है। परम ज्ञान स्वतःस्थित, सहजस्फुरित, स्वानुभूत, स्वप्रकाश होता है; उसकी प्राप्तिके लिये हमें संयतेंद्रिय होना होता है जिससे कि हमारे मन-बुद्धि और इंद्रियोंके मोहपाश हमें बांध न सकें, बल्कि हमारे मन-बुद्धि और इंद्रिय ही उस परम ज्ञानके निर्मल दर्पण बन जायं; जिसके अंदर सब कुछ स्थित है उस परम सद्वस्तुके सत्यमें अपनी समग्र सचेतन सत्ताको हमें प्रतिष्ठित करना होगा (तत्परः), ताकि वह अपनी ज्योतिर्मय आत्म-सत्ताको हममें प्रकट कर सके।

अंतमें, इस ज्ञानको प्राप्त करनेके लिये हमारे अंदर एक ऐसी श्रद्धा होनी चाहिये जिसे कोई भी बौद्धिक संदेह विचलित न कर सके (श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्), "जिस अज्ञानी पुरुषको श्रद्धा नहीं है, जो संशयात्मा है वह नाशको प्राप्त होता है; संशयात्माके लिये न तो यह लोक है न परलोक, न सुख ही।" वास्तवमें यह बिलकुल सच है कि श्रद्धा-विश्वासके बिना इस जगत्में या परलोककी प्राप्तिमें कोई भी निश्चित स्थिति नहीं प्राप्त की जा सकती; और जब कोई मनुष्य किसी सुनिश्चित आधार और वास्तविक सहारेको पकड़ पाता है तभी वह किसी परिमाणमें लौकिक या पारलौकिक सफलता, संतोष और सुखको प्राप्त कर सकता है; जो मन केवल संशयग्रस्त है वह अपने-आपको शून्यमें खो देता है। परंतु फिर भी निम्नतर ज्ञानमें संदेह और अविश्वासका एक तात्कालिक उपयोग है; किंतु उच्चतर ज्ञानमें ये रास्तेके रोड़े हैं, क्योंकि वहांका सारा रहस्य बौद्धिक भूमिकाकी तरह सत्य और भ्रांतिको नापना-जोखना नहीं है, वहां तो स्वतःप्रकाशमान सत्यकी सतत प्रगतिशील अनुभूति होती रहती है और इसलिये संदेह और अविश्वासका वहां कोई स्थान नहीं। बौद्धिक ज्ञानमें

सदा ही असत्य अथवा अपूर्णत्वका मिश्रण रहता है जिसे हटानेके लिये स्वयं सत्यकी ही संशयात्मक छान-बीन करनी पड़ती है; परंतु उच्चतर ज्ञानमें असत्य नहीं ढुक सकता और इस या उस मतपर आग्रह करके बुद्धि जो भ्रम ले आती है वह केवल तर्कके द्वारा ही दूर नहीं होता, पर वहांकी अनुभूतिमें लगे रहनेसे वह आप-से-आप दूर हो जाता है। जो ज्ञान प्राप्त हो चुका है उसमें जो कुछ अपूर्णता रह गयी हो उसे अवश्य ही दूर करना होगा, किंतु यह काम जो कुछ अनुभूति हो चुकी है उसके मूलपर संदेह करके नहीं होगा, बल्कि यह होगा अपने जीवनको आत्माकी अधिक गहराई, ऊँचाई और विशालतामें ले जाकर अबतककी प्राप्त अनुभूतिसे आगेकी और भी पूर्णतर अनुभूतिकी ओर बढ़नेके द्वारा। और जो कुछ अभी अनुभूत नहीं है उसके लिये श्रद्धाके हथियारसे भूमि तैयार करनी होगी, तर्क और शंकाका यहां काम नहीं; क्योंकि यह वह सत्य है जिसे बुद्धि नहीं दे सकती और तार्किक और यौक्तिक मन जिन विचारोंमें उलझा रहता है बहुधा उनसे यह विपरीत होता है। इस सत्यको प्रमाणके द्वारा सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं होती बल्कि इसको अपने आंतरिक जीवनमें उतार लाना होता है, यह वह महत्तर सद्वस्तु है जिसमें हमें संवर्द्धित होना है। फिर यह सत्य अपने-आपमें स्थित है और यदि हम अपने अज्ञानके इंद्रजालमें न फंसे होते तो यह आप-से-आप प्रकट हो गया होता। जो संशय और मोह हमें इस सत्यको स्वीकार करने और इसका अनुसरण करनेसे अटकाते हैं, वे अज्ञानसे, इंद्रियविमोहित और मतवादविमूढ़ मन और हृदयसे उत्पन्न होते हैं, क्योंकि इनकी स्थिति निम्न और बाह्य सत्यमें है और इसलिये उच्चतर सद्वस्तुके विषयमें इन्हें संशय होता है (अज्ञान संभूतं हृत्स्थं संशयं)। जिनके सत्यको जाननेसे सब कुछ जाननेमें आता है (यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातम्) उन परमात्माके

साथ एकत्वमें निवास कर, सतत योगस्थ होकर, अनुभवगम्य ज्ञानके द्वारा, गीता कहती है कि, इस संशयको ज्ञानकी तलवारसे काट डालना होगा।

वहां जो उच्चतर ज्ञान हमें प्राप्त होता है वह ब्रह्मवित् पुरुषके लिये पदार्थमात्रको देखनेकी वह स्थायी दृष्टि है जो ब्रह्ममें स्थित पुरुषको प्राप्त होती है। यह सब कुछको अलग कर केवल ब्रह्मको ही देखना, केवल ब्रह्मकी ही चेतना, केवल ब्रह्मका ही ज्ञान नहीं है, बल्कि सब कुछको ब्रह्ममें और आत्मवत् देखना है। कारण, यह कहा गया है कि जिस ज्ञानके द्वारा हम लोग उस स्थितिमें पहुंचते हैं जहांसे फिर इस मानसिक प्रकृतिके मोहजालमें लौटना नहीं होता, वही वह ज्ञान है "जिससे तू सब भूतोंको अशेष रूपसे आत्माके अंदर और तब मेरे अंदर देखेगा।" इसी बातको गीताने अन्यत्र और भी अधिक विस्तृत रूपसे इस प्रकार कहा है कि, "सर्वत्र समदर्शी पुरुष सब भूतोंमें अपने आत्माको और अपने आत्मामें सब भूतोंको देखता है। जो कोई मुझे सर्वत्र देखता है और सब कुछ मेरे अंदर देखता है वह कभी भी मुझे नहीं खोता न मैं ही उसे खोता हूं। जो एकत्वको प्राप्त हुआ योगी सब भूतोंमें स्थित मुझको भजता है वह जैसे भी रहे या करे पर मेरे ही अंदर रहता और कर्म करता है। हे अर्जुन! जो कोई सुखमें दुःखमें, सर्वत्र, सबको अपनी ही तरह समान रूपसे देखता है उसीको मैं परम योगी मानता हूं।" यही उपनिषदका पुरातन वेदांतिक ज्ञान है जिसे गीता सतत हम लोगोंके सामने रखती है; परंतु वेदांत-ज्ञानके जो निरूपण पीछे हुए उनकी अपेक्षा गीताकी श्रेष्ठता इस विषयमें यही है कि गीताने इस ज्ञानको दिव्य जीवनका एक महान् व्यवहार-शास्त्र बना दिया है। इस एकत्व-ज्ञान और कर्मयोगके परस्पर-संबंधके विषयमें गीताका विशेष आग्रह आदिसे अंततक बराबर देखनेमें आता है और इसीलिये गीतामें इस बातपर जोर दिया गया है

कि एकत्वका ज्ञान ही जगत्में मुक्त कर्म करनेका आधार है। जहां-जहां गीताने ज्ञानकी बात कही वहीं-वहीं तुरत समताकी बात कही है, और यह समता ज्ञानका ही फल है; और जहां-जहां उसने समताकी बात कही है वहां-वहां ही ज्ञानकी भी बात कही है, और यह ज्ञान ही समताका आधार है। गीता जिस समताका उपदेश करती है उसका आरंभ और अंत जीवकी स्थितिशील अवस्थामें ही नहीं होता,—यह अवस्था तो केवल आत्म-मुक्तिके लिये ही उपयोगी है—गीताकी समता सदा ही कर्मोंकी आधार-भूमि है। मुक्त पुरुषके अंदर ब्रह्मकी जो शांति होती है वह नींव है और मुक्त प्रकृतिमें ईश्वरका विशाल, स्वतंत्र, सम और जगद्व्यापी जो कर्म है वह उस शक्तिको संचारित करता है जो इस शांतिसे निःसृत होती है, और इन दोनोंका एक कर दिया जाना दिव्य कर्म और दिव्य ज्ञानको समन्वित करना है।

गीताकी ये बातें अन्य दार्शनिक, नैतिक या धार्मिक जीवनसंबंधी शास्त्रोंमें भी हैं, किंतु गीतामें इनका अर्थ कितना गभीर, कितना व्यापक है। तितिक्षा, दार्शनिक उदासीनता और नति, समत्वके जो तीन प्रकार पहले हम बता चुके हैं, उनकी नींव हैं; परंतु गीतामें जो ज्ञानका सत्य है वह इन तीनोंको केवल एक साथ जुटा ही नहीं देता, बल्कि इन्हें अत्यंत गभीर और अपूर्व उदार सार्थक्य प्रदान करता है। स्टोइक संप्रदायका तितिक्षाशास्त्र यही है कि जीव धैर्यके द्वारा आत्मवशी होनेमें समर्थ होता है; वह अपनी प्रकृतिसे युद्ध करके समता लाभ करता है, जिसको वह प्राकृत विद्रोहोंके संबंधमें सतत सावधान रहकर और उन विद्रोहोंको दबाकर बनाये रहता है। इससे एक महान् शांति मिलती है, एक तापस सुख मिलता है; परंतु यह वह परम आनंद नहीं है जो मुक्त पुरुषको, किसी नियमके अधीन रहनेसे नहीं, बल्कि अपनी दिव्य सत्ताकी विशुद्ध,

सहज, स्वाभाविक सिद्धस्थितिमें रहनेसे प्राप्त होता है, यहां वह "चाहे जिस तरह रहे, चाहे जो करे, रहता और कर्म करता है भगवान्में ही।" कारण यहां जो सिद्धस्थिति प्राप्त होती है वह केवल प्राप्त ही नहीं होती, स्वाधिकारसे सदा अधिकृत भी रहती है, इसकी रक्षाके लिये अब कोई प्रयास नहीं करना पड़ता, क्योंकि वह जीवका स्वभाव ही बन जाती है। निम्न प्रकृतिके साथ जो हमारा युद्ध चलता है उसको सहन करने और उस समय धैर्य बनाये रखनेको गीता एक प्राथमिक साधनके तौरपर स्वीकार करती है; परंतु जहां अपने पुरुषार्थसे एक प्रकारका वशित्व प्राप्त होता है वहां इस वशित्वकी जो मुक्तावस्था है वह भगवत्सायुज्यसे ही अर्थात् व्यष्टिपुरुषके उन एक अद्वितीय भगवान्में निमज्जित या स्थित होनेसे और अपनी इच्छाको भगवान्की इच्छामें खो देनेसे ही प्राप्त होती है। प्रकृति और उसके कर्मोंके एक अधीश्वर हैं जो प्रकृतिमें रहते हुए भी उसके ऊपर रहते हैं, वे ही हमारी सर्वोत्तम सत्ता और हमारे विश्वव्यापी आत्मा हैं; उनके साथ एक हो जाना अपने-आपको दिव्य बनाना है। भगवान्के साथ एकत्व लाभ करनेसे परम स्वातंत्र्य और परम वशित्वमें हमारा प्रवेश होता है। स्टोइक संप्रदायके तितिक्षा धर्मका आदर्श वह मुनि है जो आत्मवशी है, अपना आप राजा है, क्योंकि वह आत्म-अनुशासनके द्वारा बाह्य परिस्थितियोंको अपने वशमें कर लेता है। वेदांतमें 'स्वराट्' और 'सम्राट्' पदवाच्य जो कुछ है, यह आदर्श बाह्यतः उसीसे मिलता-जुलता है, पर यह है उससे निम्नतर स्तरका। स्टोइक साम्राज्यकी रक्षा अपने-आपपर और अपनी परिस्थितिपर एक प्रकारका बल प्रयोग कर की जाती है; परंतु योगीका जो पूर्ण मुक्त साम्राज्य है वह दिव्य प्रकृतिकी सनातन स्वराट्-सत्तासे स्वभावतः ही सिद्ध है, यह जीवका ईश्वरकी अबाध विश्व-सत्ताके साथ योग है, इसमें जिस यंत्रात्मक प्रकृतिके द्वारा योगी कर्म

करता है उस प्रकृतिसे वह ऊपर उठ जाता और अंतमें अपनी उस ऊर्ध्व-सत्ता और श्रेष्ठतामें ही बिना किसी बलात्कारके सहज ही निवास करता है। जगत्के सब पदार्थ उसके वशमें इस कारणसे होते हैं कि वह सब पदार्थोंके साथ एकात्म हो जाता है। दृष्टांतके लिये प्राचीन रोमन समाजसे एक उदाहरण लें। रोमन समाजमें जो क्रीतदास होते थे उनमेंसे किसी-किसीको उत्तम सेवाकार्यके पुरस्कार-स्वरूप मुक्त कर दिया जाता था, पर इस मुक्तिके बाद भी वह उस सत्ताके अधीन ही होता था जिसने उसको एक दिन गुलाम बना रखा था; स्टोइक संप्रदायवालोंकी मुक्ति भी ऐसी ही है, उसकी मुक्तिके लिये प्रकृति इसलिये इजाजत देती है कि उसने तितिक्षाके द्वारा अपनेमें ऐसी योग्यता पैदा कर ली होती है, पर अभी भी यह मुक्ति निर्भर करती है प्रकृतिकी मर्जीपर। गीतामें जिस मुक्तिका वर्णन है, जो मुक्त पुरुषकी सच्ची मुक्ति है, वह निम्न प्रकृतिसे निकलकर परा प्रकृतिमें जन्म लेनेसे प्राप्त होती है और वह अपनी दिव्यता-में स्वतःस्थित रहती है। ऐसा मुक्त पुरुष जो कुछ करता है, चाहे जिस तरहसे भी रहता है, रहता है भगवान्में ही; वह घरका लाडला लाल है, 'बालवत्' है जिससे कोई भूल नहीं होती जिसका कभी पतन नहीं होता, क्योंकि वह उन परम सिद्धसे, उन सर्वानंदमय सर्वप्रेममय सर्वसौंदर्यमयसे भरा हुआ रहता है, वह जो कुछ करता है वह भी उन्हींसे परिपूर्ण होता है। जिस 'राज्यं समृद्धं' का वह उपभोग करता है वह वही मधुर सुखमय राज्य है जिसके विषयमें यूनानी तत्त्ववेत्ताने कहा है कि, "वह शिशु-राज्य है।"

दार्शनिकोंका ज्ञान ऐहिक जीवनके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान है और वह यही है कि जगत्के ये सब बाह्य पदार्थ क्षणभंगुर हैं, जगत्के ये सारे भेद-प्रभेद निरर्थक हैं और आंतरिक स्थिरता, शांति, ज्योति और आत्म-

निर्भरता ही श्रेय है। यह दार्शनिक उदासीनतासे प्राप्त एक प्रकारकी समता है, इससे एक बड़ी स्थिरता तो प्राप्त होती है, पर वह महान् आत्मानंद नहीं मिलता; यह संसारसे अलग रहकर मिलनेवाली मुक्तावस्था है; यह ज्ञान किसी पहाड़की चोटीपर बैठे हुए अपनी महिमामें स्थित पुरुषका, नीचे उस संसार-समुद्रके—जिसमेंसे वह स्वयं निकल आया है—उद्दाम तरंगोंसे इधर-उधर झोंका खानेवाले दुखी प्राणियोंको दूरसे देखना है, है यह भी संसारसे अलग रहना और अंतमें संसारके लिये व्यर्थ ही। उदासीनतारूपी दार्शनिक प्रेरक-भावको गीता एक प्रारंभिक साधनके तौरपर स्वीकार करती है; परंतु उदासीनताका गीतामें जो अंतिम रूप है—यदि इस अपर्याप्त शब्दका किसी तरहसे व्यवहार भी किया जाय तो भी—उसमें दार्शनिक अलगावका भाव नहीं है। वह 'उदासीनवत्' आसीन होना है सही, पर वैसे ही जैसे भगवान् ऊर्ध्वमें आसीन हैं, जिन्हें इस जगत्‌में किसी चीजकी जरूरत नहीं, फिर भी जो सतत कर्म करते और सर्वत्र वर्त्तमान रहकर प्राणियोंके परिश्रमके आश्रय, सहायक और परिचालक होते हैं। यह जो समता है वह सब प्राणियोंके साथ एकत्वपर प्रतिष्ठित है। दार्शनिक समतामें जो कमी है वह इससे पूरी होती है; क्योंकि इसके मूलमें शांति भी है और प्रेम भी। इस समतामें भगवान्‌के अंदर अशेषतः सबके दर्शन होते हैं। यह सब प्राणियोंके साथ एकात्मभूत हो जाना है और इसलिये इसमें सबके साथ आत्यंतिक सहानुभूति रहती है। इस सर्वव्यापक, संपूर्ण आत्मगत सहानुभूति और आध्यात्मिक एकतामें सबका 'अशेषेण' (बिना किसीको बाद दिये) समावेश होता है, यह नहीं कि जो कुछ अच्छा है, सुंदर है केवल उसीको ले लिया जाय, बल्कि इसके अंदर सब कुछ आ जाता है, फिर चाहे वह कितना ही नीच, पतित, पापी या घृणित प्रतीत होता हो।

केवल द्वेष, क्रोध या अनुदारताके लिये ही नहीं, बल्कि अलगाव, घृणा या अपनी श्रेष्ठतारूपी किसी प्रकारके क्षुद्र गर्वके लिये इसमें कोई स्थान नहीं है। इस समतामें आपात मनुष्यके संघर्षमें पड़े हुए मनके अज्ञानके प्रति एक दिव्य करुणा होगी, उसपर समस्त प्रकाश और शक्ति और सुखकी वर्षा करनेके लिये एक दिव्य संकल्प होगा सही, पर उसके अंदर जो आत्मा है उसके प्रति इनसे भी कोई बड़ी चीज होगी, उसके प्रति होंगे भक्ति और प्रेम। कारण सबके भीतरसे, जैसे ही साधु-महात्माओंके अंदरसे वैसे ही चोर, वेश्या और चांडालके अंदरसे भी वे ही प्रियतम ताका करते और पुकारकर कहते हैं "यह मैं हूं।" "सब भूतोंमें जो मुझको प्यार करता है" —दिव्य सार्वत्रिक प्रेमकी परम प्रगाढ़ता और गांभीर्यको देनेवाली, इससे अधिक शक्तिशाली वाणीका प्रयोग संसारके और किस दर्शनशास्त्र या धर्ममें हुआ है?

नति एक प्रकारकी धार्मिक समताका आधार है, यह भगवान्‌की इच्छाके अधीन होना है, विपरीत अवस्थाओंको धैर्यके साथ सहन करना है, सब कुछ चुपचाप बरदाश्त करना है। गीतामें यह नति-तत्त्व एक अधिक विशाल रूप धारण करता है और वहां इसका स्वरूप है समग्र सत्ताका भगवान्‌के प्रति पूर्ण समर्पण। यह केवल निष्क्रिय अधीनता नहीं है, बल्कि यह सक्रिय आत्म-दान है, यह समस्त वस्तुओंके अंदर जो भगवान्‌की इच्छा वर्त्तमान है उसको देखना और स्वीकार करना भर नहीं है, बल्कि अपनी निजी इच्छाको कर्मोंके प्रभु जो भगवान् हैं उनको दे देना है जिससे कि साधक उनका उपकरण बन सके और सो भी भगवान्‌का एक सेवक बननेकी भावनासे नहीं, बल्कि अंतमें कम-से-कम इस भावनासे कि वह अपनी चेतना और अपने कर्म, दोनोंका ही उनमें संपूर्ण संन्यास कर दे ताकि उसकी सत्ता भगवान्‌की सत्ताके साथ एक हो जाय

और उसकी नैर्व्यक्तिक प्रकृति एक यंत्रमात्र रह जाय और कुछ नहीं। अब जो कुछ भी फल प्राप्त होता है, वह चाहे अच्छा हो या बुरा, प्रिय हो या अप्रिय, शुभ हो या अशुभ उसे वह स्वीकार करता है, यह जानकर कि वह कर्मोंके प्रभु भगवान्का है और अंतमें यह अवस्था हो जाती है कि शोक और दुःख केवल सहन ही नहीं किये जाते, बल्कि उन्हें निकाल दिया जाता है और चित्तके अंदर पूर्ण समता प्रतिष्ठित हो जाती है। उपकरणमें तब वैयक्तिक इच्छा या संकल्पका आरोप नहीं होता; यह देख पड़ता है कि जो कुछ हो रहा है वह सब विराट् पुरुषकी सर्वज्ञ पूर्वदृष्टि और उनकी सर्वसमर्थ अमोघ शक्तिमें पहले ही क्रियान्वित हो चुका है और मनुष्योंका अहंकार भगवान्के संकल्पके कार्योंको बदल नहीं सकता। इसलिये साधकका अंतिम रवैया वही होगा जो अर्जुनको आगे चलकर बताया गया है, "सब कुछ मेरे द्वारा मेरी दिव्य इच्छा और पूर्वज्ञानमें पहले ही किया जा चुका है, तू, हे अर्जुन, केवल निमित्तमात्र बन जा (निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्)।" इस रवैयेका अंतिम परिणाम यह होगा कि वैयक्तिक संकल्प भगवान्के संकल्पके साथ पूर्ण रूपसे एक हो जायगा, जीवके अंदर ज्ञानकी वृद्धि होने लगेगी और उसकी प्रकृति, जो उपकरणमात्र है, सर्वथा निर्दोष होकर भागवत शक्ति और ज्ञानके अनुकूल बन जायगी। परात्पर पुरुष, विराट् पुरुष और व्यष्टि पुरुषकी इस परम एकताकी जो संतुलित अवस्था होगी उसमें अंतःकरणके अंदर आत्मसमर्पणसे प्राप्त पूर्ण और निरपेक्ष समता रहेगी, मन भागवत प्रकाश और शक्तिका निष्क्रिय स्रोतमार्ग हो जायगा और हमारी सक्रिय सत्ता हो जायगी दिव्य ज्योति और शक्तिका एक बलशाली अमोघ यंत्र, उसके कर्मको जगत्में करनेके लिये।

इस अवस्थामें, दूसरे लोग हमारे साथ जैसा जो व्यवहार करें

उसका जो हमपर असर होगा उसमें समता ही रहेगी। उनके किसी भी व्यवहारसे इस आंतरिक एकत्व, प्रेम और सहानुभूतिमें कुछ भी अंतर न पड़ेगा, क्योंकि सबमें जो एक आत्मा है, समस्त प्राणियोंमें जो भगवान् हैं उनका प्रत्यक्ष अनुभव होनेसे ही यहां ये भाव उदय हुए हैं। परंतु इसका यह मतलब नहीं कि दूसरे लोग चाहे जो भी व्यवहार करें, उन्हें और उनके उन व्यवहारोंको नत होकर सह लिया या मान लिया जायगा, स्वयं निष्क्रिय रहा जायगा और उनका कोई प्रतिरोध नहीं किया जायगा; ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि जगदीश्वरके जागतिक संकल्पका उपकरण होकर सतत उनकी आज्ञाका पालन करनेका यही तो अभिप्राय है कि जगत्में विरोधी शक्तियोंका जो सर्वत्र संघर्ष हो रहा है उसमें उन वैयक्तिक कामनाओंसे युद्ध करना ही होगा जो अपने अहंकारकी तुष्टिमें प्रवृत्त हैं। इसीलिये अर्जुनको प्रतिरोध करने, लड़ने और जीतनेका आदेश दिया गया है; पर साथ-साथ यह भी आदेश है कि लड़ना होगा द्वेषरहित होकर, व्यक्तिगत कामक्रोधको छोड़कर, शत्रुताका परित्याग कर; क्योंकि मुक्त पुरुषमें ये मनोविकार नहीं होते। निरहंकार होकर लोकसंग्रहके लिये कर्म करना, भगवन्मार्गपर लोगोंको कायम रखने और चलानेके लिये कर्म करना वह धर्म है जो भगवान्के साथ, विश्वपुरुषके साथ अपने अंतरात्माकी एकतासे स्वभावतः ही उत्पन्न होता है, क्योंकि विश्वके अखिल कर्मका संपूर्ण अभिप्राय और लक्ष्य यही तो है। न इस कर्मका सब जीवोंके साथ हमारी जो एकता है, यहांतक कि जो हमारे विरोधी और शत्रु बनकर सामने आते हैं उनके साथ भी हमारी जो एकता है, उससे कोई विरोध ही है। कारण भगवान्का जो लक्ष्य है वही उनका भी लक्ष्य है, क्योंकि वही सबका छिपा हुआ लक्ष्य है, उन जीवोंका भी जिनके बहिर्मुख मन अज्ञान और अहंकारके मारे इस

पथसे च्युत हो भटका करते हैं और अपनी अंतःप्रेरणाका ही प्रतिरोध किया करते हैं। उनका विरोध करना और उन्हें हराना, यही उनकी सबसे बड़ी बाहरी सेवा है। इस दृष्टिके द्वारा गीता उस अपूर्ण सिद्धांतका तो निराकरण कर देती है जो समताकी एक ऐसी शिक्षासे उत्पन्न हो सकता था जिसमें अव्यावहारिक रूपसे समस्त संबंधोंकी अवहेलना की जाती है और जो उस दुर्बलकारी प्रेमकी शिक्षा से उत्पन्न हो सकता था जिस प्रेमके मूलमें ज्ञानका सर्वथा अभाव ही होता है, पर असली चीजको उसके असली रूपमें ज्यों-का-त्यों बनाये रहती है। वह चीज है, अंतरात्माके लिये सबके साथ एकत्व; हृदयके लिये अचल विश्वप्रेम, सहानुभूति और करुणा; परंतु हाथोंके लिये नैर्व्यक्तिक रूपसे हित साधन करनेका स्वातंत्र्य—ऐसा हित साधन नहीं जो भगवान्‌की योजनाका कोई विचार न कर या उसके ही विरुद्ध जाकर इस या उस व्यक्तिके सुखसाधनमें लग जाय, बल्कि ऐसा हित साधन जो कि सृष्टिके हेतुका सहायक हो, जिससे मनुष्योंको अधिकाधिक सुख और श्रेय प्राप्त हो, सब भूतोंका सार्वजनिक कल्याण हो।

भगवान्‌के साथ एकत्व, सब प्राणियोंके साथ एकत्व, सर्वत्र सनातन भागवत एकताका अनुभव और इस एकताकी ओर मनुष्योंको आगे बढ़ा ले जाना, यही वह जीवन-विषयक धर्म है जो गीताकी शिक्षासे उद्भूत होता है। इससे अधिक महान्, अधिक व्यापक, अधिक गभीर और कोई धर्म नहीं हो सकता। स्वयं मुक्त होकर इस एकत्वमें रहना और मानव-जातिको इसी एकत्वके रास्तेपर आगे बढ़नेमें मदद करना तथा अपने सब कर्मोंको भगवान्‌के लिये करते हुए (कृत्स्न कर्मकृत्) और मनुष्योंको जिसका जो कर्त्तव्य कर्म है उसे सुख और उत्साहके साथ करनेमें बढ़ावा देना (जोषयेत् सर्व कर्माणि), इससे अधिक महान् और उदार दिव्यकर्मविधान और दूसरा नहीं हो सकता। यह मुक्त स्थिति और यह

एकत्व हमारी मानव-प्रकृतिका गुप्त लक्ष्य है और यही मानव-जातिके जीवनमें अंतर्निहित चरम इच्छा है। उसीकी ओर मनुष्य जातिको उस सुखकी प्राप्तिके लिये मुड़ना होगा जिसको वह अभीतक नहीं खोज पायी है। पर यह तब होगा जब मनुष्योंकी आंखें खुलेंगी और वे अपनी इन आंखों और अपने इन हृदयोंको ऊपर उठाकर अपनेमें, अपनी चारों ओर, सब भूतोंमें (सर्वेषु भूतेषु) और 'सर्वत्र' भगवान्‌को देखने लगेंगे और यह जान लेंगे कि हम सब भगवान्‌में ही तो रहते हैं और हमारी यह जो भेदजनक निम्न प्रकृति है सो केवल एक कैदखानेकी दीवार है जिसे तोड़ डालना होगा, या फिर यह बच्चोंके पढ़नेकी एक पाठशाला है जिसकी पढ़ाई खतम करके आगे बढ़ना होगा जिससे कि वे प्रकृतिमें बालिग हो जायं और आत्मामें मुक्त। ऊर्ध्वस्थित भगवान्‌के साथ, मनुष्यमें स्थित भगवान्‌के साथ और जगत्‌में स्थित भगवान्‌के साथ एकात्म भावको प्राप्त होना ही मुक्तिका अभिप्राय और संसिद्धिका रहस्य है।

---

## प्रकृतिका नियंतृत्व

कर्म और आत्मज्ञानकी एकता सिद्ध होनेपर जब उच्चतर आत्मामें हमारा निवास होता है तब हम प्रकृतिकी निम्नस्तरीण कर्मपद्धतिसे ऊपर उठे हुए होते हैं। तब हम प्रकृति और उसके गुणोंके गुलाम नहीं रहते, बल्कि उन ईश्वरके साथ एक हो जाते हैं जो हमारी प्रकृतिके स्वामी हैं, तब हम प्रकृतिका उपयोग हममें जो भगवदिच्छा है उसको सिद्ध करनेके लिये कर्मबंधनकी अधीनतामें पड़े बिना ही कर सकते हैं; क्योंकि हमारे अंदर हमारा जो महत्तर आत्मा है वह यही है, वह प्रकृतिके कर्मोंका अधीश्वर है और प्रकृतिकी विक्षुब्ध प्रतिक्रियाओंका उसपर कोई असर नहीं होता। इसके विपरीत, प्रकृतिमें बद्ध अज्ञानी जीव अपने उसी अज्ञानके कारण उसके गुणोंमें बंधता है, क्योंकि यहां वह सानंद अपने सत्य स्वरूपके साथ नहीं, प्रकृतिके ऊपर अधिष्ठित जो भगवान् हैं उनके साथ नहीं, बल्कि मूर्खतावश और दुर्भाग्यवश अपनी अहंबुद्धिके साथ तदाकार हो जाता है। उसकी यह अहंबुद्धि अपना कितना ही बड़ा स्वांग क्यों न दिखावे पर यह है प्रकृतिके कार्य करनेका एक छोटासा अंग ही, मात्र एक मानसिक ग्रंथि ही, एक केंद्र ही, जिसे पकड़कर प्रकृतिकी कर्मधाराओंका खेल चलता रहता है। इस ग्रंथिको तोड़ना, अपने कर्मोंका इस अहंको अब और केंद्र और भोक्ता न बनाना, बल्कि अपने परम दिव्य

महान् आत्मासे सब कुछको प्राप्त करना और सब कुछ उसीको निवेदन करना—यही प्रकृतिके गुणोंके चंचल विक्षोभसे ऊपर उठनेका रास्ता है। कारण इस अवस्थाका अर्थ हो जाता है परम चेतनामें निवास करना, अहंबुद्धि जिसका एक अपकृष्ट रूप है, और इसका अर्थ होता है सम और एकीकृत दिव्य संकल्प और शक्तिके अंदर रहकर कर्म करना, त्रिगुणके विषम खेलके अंदर नहीं, जो ऐक्यहीन खोज और प्रयास है, एक विक्षोभ है, एक हीनतर माया है।

अहमात्मक जीवका प्रकृतिके वशमें होना गीताके जिन श्लोकोंमें जोरदार शब्दोंमें वर्णित हुआ है उन श्लोकोंका कुछ लोगोंने ऐसा अर्थ लगा रखा है कि इस वर्णनका मानो यही अभिप्राय है कि जगत्में प्रकृतिका ही सर्वोपरि यंत्रवत् नियंतृत्व है और जीवके लिये यहां स्वाधीन भावसे कुछ कर सकनेकी कोई गुंजायश ही नहीं है। निश्चय ही उन श्लोकोंकी भाषा बहुत ही स्पष्ट और जोरदार है, और ऐसा दिखायी देता है कि उसमें ननु-नचकी कोई संभावना नहीं है। परंतु, जैसे अन्य स्थानोंपर वैसे ही यहां भी, गीताके विचारको हमें उसके समग्र रूपमें ग्रहण करना चाहिये और किसी एक वाक्यको, अन्य वाक्योंके साथ उसका जो संबंध है उससे सर्वथा अलग करके मात्र उसीके आशयको सब कुछ नहीं मान लेना चाहिये, क्योंकि असलमें बात यह है कि प्रत्येक सत्य, फिर वह अपने-आपमें कितना ही दुरुस्त क्यों न हो, अन्य सत्योंसे, जो उसे मर्यादित करते हुए भी परिपूर्ण करते हैं, जब अलग कर दिया जाता है तब वह बुद्धिको फंसानेवाला एक जाल और मनको भरमानेवाला एक मत बन जाता है, कारण यथार्थमें प्रत्येक सत्य संमिश्र पटका एक तंतु है और कोई तंतु भी उस समग्र पटसे अलग नहीं किया जा सकता। गीतामें सब बातें इसी तरहसे एक दूसरीमें बुनी हुई हैं और इसलिये उसकी हर

बातको उसके संपूर्ण कलेवरके साथ मिलाकर ही समझना होगा। गीताने स्वयं ही 'अकृत्स्नवित्' अर्थात् वह जो संपूर्ण सत्यको जाननेवाला नहीं बल्कि खंड सत्योंको माननेवाला है तथा 'कृत्स्नवित्' अर्थात् वह जो समग्र सत्यका समन्वयात्मक ज्ञान रखनेवाला योगी है, इन दोनोंका भेद स्पष्ट करके बताया है। योगीको जिस शांत और पूर्ण ज्ञानकी स्थितिमें आरोहण करना होता है उसके लिये पहली आवश्यकता यही है कि समस्त जीवन जो कुछ है उसे वह धीर होकर देखे और उसे उसके समग्र रूपमें देखे तथा इसके जो परस्पर-विरोधी सत्य दिखायी देते हैं उनके कारण चित्तमें कोई भ्रांति न आने दे। हम लोगोंकी जो संमिश्र सत्ता है उसके एक छोरपर प्रकृतिके साथ जीवके संबंधका एक पहलू ऐसा है जिसमें जीव एक प्रकारसे पूर्ण स्वतंत्र है; दूसरे छोरपर दूसरा पहलू वह है जिसमें एक प्रकारसे सारा नियंतृत्व प्रकृतिका है; इसके अतिरिक्त स्वतंत्रताका एक आंशिक और दिखावटी, फलतः एक अवास्तविक आभास भी होता है जिसे जीव अपने विकसनशील मनके अंदर इन दो विरोधी छोरोंका जो विकृत प्रतिबिंब पड़ता है उससे ग्रहण करता है। स्वतंत्रताके इस आभासको ही साधारणतया हम लोग, किसी कदर गलतीसे ही, स्वाधीन इच्छा कहा करते हैं; परंतु गीता पूर्ण मुक्ति और प्रभुत्वको छोड़कर और किसी चीजको स्वाधीनता या स्वतंत्रता नहीं मानती।

गीताकी शिक्षाके पीछे जीव और प्रकृतिके विषयमें जो दो महान् सिद्धांत लगे हुए हैं उन्हें हमें सदा ध्यानमें रखना चाहिये—एक है पुरुष-प्रकृतिविषयक सांख्यका सत्य जिसको गीताने त्रिविध पुरुषरूपी वेदांत-सत्यके द्वारा संशोधित और परिपूर्ण कर दिया है और दूसरा है द्विविध प्रकृतिका, जिसका निम्नतर रूप है त्रिगुणात्मिका माया और उच्चतर रूप है दिव्य प्रकृति, सच्ची अध्यात्म-प्रकृति। यही कुंजी है जिससे सब बातोंका

मेल बैठता है और सब बातें स्पष्ट हो जाती हैं अन्यथा इनको परस्पर विरुद्ध और विसंगत जानकर हमें छोड़ ही देना पड़ता। हमारे सचेतन जीवनके, वास्तवमें, कई स्तर हैं और एक स्तरमें जो बात व्यवहारतः सत्य मानी जाती है वह उससे ऊपरके स्तरपर जाते ही सत्य नहीं रह जाती, क्योंकि वहां उसका कुछ दूसरा ही रूप हो जाता है, इसका कारण यह है कि वहां हम वस्तुओंको अलग-अलग नहीं बल्कि अधिकतर उनकी समग्रतामें देखने लगते हैं। हालके वैज्ञानिक आविष्कारसे यह बात स्पष्ट हो गयी है कि मनुष्य, पशु, वृक्ष और खनिज धातुओंतकमें प्राणमय प्रतिक्रियाएं सार रूपसे एकसी ही होती हैं और इसलिये यदि इनमेंसे प्रत्येकके अंदर किसी एक ही प्रकारकी स्नायवीय चेतना हो तो, इनके यांत्रिक मनस्तत्त्वकी आधारभूमि भी एकसी ही होनी चाहिये। फिर भी इनमेंसे प्रत्येक यदि अपने-अपने अनुभवोंका मनोमय विवरण दे सकता तो उन एक ही प्रकारकी प्रतिक्रियाओं और एकसे ही प्रकृति-तत्त्वोंके चार ऐसे विवरण हमें प्राप्त होते जो एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न और बहुत कुछ परस्पर-विरुद्ध होते, इसका कारण यह है कि ज्यों-ज्यों हम अपनी सचेतन सत्ताके ऊपरके स्तरोंमें उठते हैं त्यों-त्यों इन सबका अर्थ और मूल्य बदल जाता है और वहां इन सबका विचार दूसरी ही दृष्टिसे करना होता है। मानव-जीवके स्तरोंकी भी यही बात है। जिसको हम हमारी साधारण मनोवृत्तिके अनुसार स्वाधीन इच्छा कहते हैं, और एक छोटीसी हदतक यह कहना ठीक भी हो सकता है, वह उस योगीकी दृष्टिमें, जो ऊपर उठ चुका है और जिसके लिये हमारी रात तो दिन है और हमारा दिन रात, यह स्वाधीन इच्छा है ही नहीं, बल्कि यह प्रकृतिके गुणोंकी ही अधीनता है। वह देखता है उन्हीं तथ्योंको जिन्हें हम लोग देखते हैं, किंतु वह देखता है 'कृत्स्नवित्' (समग्र सत्यको

जाननेवाला) की उच्चतर दृष्टिसे और हम लोग देखते हैं 'अकृत्स्नवित्' की दृष्टिसे, जो बहुत ही मर्यादित होती है, जो एक अज्ञान ही है। हम लोग जिसे अपनी स्वाधीनता जानकर गर्व करते हैं उस अवस्थाको वह बंधन समझता है।

निम्न प्रकृतिके जालमें बराबर पड़े हुए हम लोग अज्ञानवश जो यह मान बैठते हैं कि हम स्वाधीन हैं, इस अज्ञानका खंडन करनेके लिये ही गीताने यह बतलाया है कि अहमात्मक जीव इस स्तरपर सर्वथा त्रिगुणके वशमें होता है। "जब कि सब काम सब प्रकारसे कराये जा रहे हैं प्रकृतिके गुणोंद्वारा ही तो भी अहंकारविमूढ़ आत्मा यह समझता है कि इन्हें करनेवाला तो 'मैं' हूं। परंतु जो कोई गुणों और कर्मोंके भेदोंके तत्त्वोंका जाननेवाला है वह यह देखता है कि ये तो प्रकृतिके गुण हैं जो परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया कर रहे हैं और इसलिये वह आसक्त होकर इनमें नहीं फंसता। जो इन गुणोंके द्वारा विमूढ़ हो जाता है, जो अकृत्स्नवित् है उसकी मनोभावनाको कृत्स्नवित् विचलित न करे। अपने सब कर्मोंको मुझे समर्पित करके, निराशी और निर्मम होकर, विगत-ज्वर होकर, तू युद्ध कर।" यहां चेतनाके दो भिन्न स्तर, कर्म करनेके दो विभिन्न दृष्टिबिंदु स्पष्ट कर दिये गये हैं। एक स्तर वह है जहां जीव अपनी अहमात्मक प्रकृतिके जालमें जकड़ा है और प्रकृतिसे प्रेरित होकर कर्म करता है पर समझता यह है कि मैं अपनी स्वाधीन इच्छासे करता हूं। दूसरा स्तर वह है जिसमें जीव अहंकारके साथ तादात्म्यसे मुक्त, प्रकृतिसे ऊपर उठा हुआ, प्रकृतिके कर्मोंका द्रष्टा, अनुमंता और नियंता है।

हम लोग जीवको प्रकृतिके अधीन कहते हैं, पर गीता, इसके विपरीत, पुरुष और प्रकृतिके लक्षणोंका विश्लेषण करती हुई यह बत-

लाती है कि प्रकृति कार्यकरी शक्ति है और पुरुष सब समय ही ईश्वर है। यहांपर गीताने यह बतलाया है कि यह पुरुष अहंकारसे विमूढ़ हो जाता है, परंतु वेदांतियोंका जो सदात्मा है वह ब्रह्म है, नित्यमुक्त, शुद्ध, बुद्ध है। तब यह जीव क्या है जो प्रकृतिसे विमूढ़ होता है, प्रकृतिके अधीन रहता है? इसका उत्तर यह है कि यहां हम लोग वस्तुओंके संबंधमें हमारी जो निम्नतर या मानसिक दृष्टि होती है उसकी व्यावहारिक भाषामें बात कर रहे हैं, उसकी बात कह रहे हैं जो आत्मा या पुरुष भासता है, जो प्रातिभासिक है, उसकी नहीं जो सदात्मा है, जो वास्तविक पुरुष है। प्रकृतिके अधीन तो, यथार्थमें, अहंकार ही होता है और यह अपरिहार्य है, क्योंकि स्वयं अहंकार प्रकृतिका ही अंग है, उसके कल-पुर्जोंकी एक क्रिया है; परंतु मनश्चेतनामें जो आत्मबोध है वह जब अहं-कारके साथ अपनेको तादात्म्य कर लेता है तब वह एक निम्नतर आत्माके, एक अहमात्मक आत्माके आभासकी सृष्टि करता है। और इसी प्रकारसे जिसे हम सामान्यतः जीव या अंतरात्मा कहते हैं वह वास्तवमें प्राकृत व्यक्तित्व ही है, वास्तविक पुरुष नहीं, वह हमारे अंदर रहनेवाला हमारा वासनात्मा है जो प्रकृतिके कार्योंपर पड़नेवाला पुरुष-चैतन्यका प्रतिबिंब है। यह स्वयं यथार्थमें त्रिगुणका ही केवल एक कर्म है और इसलिये प्रकृतिका ही एक अंग है। इस प्रकार, यह कह सकते हैं कि हमारे अंदर दो पुरुष हैं, एक है प्रातिभासिक पुरुष या वासना-पुरुष जो गुणोंके परिवर्तनके साथ बदला करता और सर्वथा उन गुणोंसे ही बना हुआ और उन्हींके द्वारा नियंत्रित होता है, और दूसरा है नित्यमुक्त सनातन पुरुष जो प्रकृति और उसके गुणोंसे कभी बद्ध नहीं होता। हमारे दो आत्मा हैं, एक प्रातिभासिक आत्मा है जो केवल अहंकार है अर्थात् हमारे अंदरका वह मनोगत केंद्र जो प्रकृतिकी इस परिवर्तनशील क्रियाको, इस

परिवर्तनशील व्यक्तित्वको अपने ऊपर ओढ़ लेता और यह कहता है कि, "मैं यह व्यक्ति हूं, मैं इन सब कर्मोंका कर्त्ता प्राकृत पुरुष हूं",—परंतु प्राकृत पुरुष जो कुछ है वह केवल प्रकृति है, त्रिगुणका एक समुच्चय-मात्र—और दूसरा सदात्मा है जो वास्तवमें प्रकृतिका भर्त्ता, भोक्ता, ईश्वर है; वह प्रकृतिमें रूपान्वित है पर स्वयं यह परिवर्तनशील प्राकृत व्यक्तित्व नहीं। अतः मुक्त होनेका मार्ग इस वासना-पुरुषकी वासनाओंसे तथा इस अहंकारके मिथ्या आत्म-बोधसे मुक्त होना ही है। इसीलिये भगवान्-गुरु पुकारकर कहते हैं कि, "वासना और अहंता-ममतासे मुक्त होकर विगतज्वर होकर युद्ध कर (निराशी निर्म्ममो भूत्वा)।"

हमारी सत्ताके विषयमें यह जो मत है इसका मूल है सांख्यका वह विश्लेषण जिसमें हमारे स्वभावके संबंधमें पुरुष और प्रकृतिरूपी द्विविध तत्त्व बताये गये हैं। पुरुष अकर्त्ता है, प्रकृति कर्त्री है। पुरुष वह सत्ता है जो चैतन्यके प्रकाशसे भरपूर है, प्रकृति जड़ है और अपने सब कर्म चिन्मय साक्षी पुरुषके अंदर प्रतिभासित करती है। प्रकृतिके ये कर्म उसके गुणोंकी विषमताके द्वारा हुआ करते हैं और ये सदा एक दूसरेसे टकराते, एक दूसरेमें मिल जाते और एक दूसरेमें परिवर्तित होते रहते हैं; और प्रकृतिकी अहं-बुद्धिका जो कर्म है उसके द्वारा वह पुरुषको इन सब कर्मोंके साथ तादात्म्य कर देती है और इस प्रकार आत्माकी प्रशांत सनातन सत्तामें कर्त्ता, विकारी, क्षणस्थायी व्यष्टि पुरुषके होनेकी प्रतीति उत्पन्न करती है। अशुद्ध प्राकृत चेतना विशुद्ध आत्म-चैतन्यको ढांक देती है, अहंकार और व्यक्तित्वके अंदर पुरुषको मन भूल जाता है और हमारी विवेक बुद्धिको इंद्रियगत मन और उसकी बहिर्मुख क्रियाएं तथा प्राण और शरीरकी कामनाएं अपने साथ घसीट ले जाती हैं, और ऐसा हम होने देते हैं। पुरुष जबतक इस प्रकारकी क्रियाको अनुमति देता है

तबतक अहंकार और काम तथा अज्ञान ही हमारी प्राकृत सत्ताका नियंत्रण करते रहते हैं।

परंतु यदि इतनीसी ही बात हो तो इसकी दवा तो बस यही हो सकती है कि हम यह अनुमति देना बंद कर दें और इस तरह अपनी सारी प्रकृतिको विवश करें या उससे कहें कि वह त्रिगुणकी निश्चल साम्यावस्थामें जा गिरे और इस प्रकार वह कर्म करनेसे विरत हो जाय। परंतु यही वह दवा है जिसका प्रयोग करनेके लिये गीता हमें निरुत्साहित करती है, क्योंकि यद्यपि यह एक दवा तो है, पर यह दवा ऐसी है जो रोगके साथ रोगीका भी खातमा कर देती है। विशेषकर जो लोग अज्ञानी हैं उनपर यदि इस सत्यको लाद दिया जायगा तो वे तामसिक अकर्मण्यताकी ही शरण लेंगे, उनका 'बुद्धिभेद' होगा—उनकी बुद्धिमें एक मिथ्या भेद, एक झूठा विरोध उत्पन्न होगा; उनके सक्रिय स्वभाव और बुद्धि एक दूसरेके विरोधी हो जायंगे और इसका फल यह होगा कि व्यर्थका विक्षोभ और संकर पैदा हो जायगा, मिथ्या और आत्म-प्रतारक कर्म होने लगेंगे (मिथ्याचार), या फिर तामसिक जड़ता छा जायगी, कर्मोंका अंत हो जायगा, जीवन और कर्मके पीछे जो संकल्प है वह क्षीण हो जायगा और इसलिये इस सत्यके द्वारा उन्हें मुक्ति तो नहीं मिलेगी मगर मिलेगी गुणोंमें भी सबसे निकृष्ट जो तमोगुण है उसकी अधीनता। अथवा ये लोग कुछ न समझेंगे और इस उच्च शिक्षामें ही दोष निकालेंगे, इसके विरुद्ध अपने वर्त्तमान मानसिक अनुभवके पक्षको तथा स्वतंत्र इच्छासंबंधी अपने अज्ञानमय विचारके पक्षको लाकर उपस्थित करेंगे, फल यह होगा कि अपने अहंकार और कामके मोह तथा कपटजालमें पड़े हुए ये लोग अपने पक्षकी यौक्तिकताके सत्याभासमें इतने अधिक फंस जायंगे कि ये अज्ञानका और भी जोरदार और हठी समर्थन करने लगेंगे

और अपनी मुक्तिका अवसर खो देंगे।

वास्तवमें ये उच्चतर सत्य, चेतना और सत्ताके उच्चतर और विशालतर स्तरपर ही सहायक हो सकते हैं, क्योंकि वहां ही ये अनुभवगम्य और जीवनसाध्य हो सकते हैं। ऊपरके इन सत्योंको नीचेसे देखना इन्हें गलत देखना, गलत समझना और शायद इनका गलत प्रयोग करना है। यह एक उच्चतर सत्य है कि शुभ और अशुभका भेद अहंभावापन्न मानव-जीवनके लिये—और यह मानव-जीवन पशुभावसे दिव्यभावको प्राप्त होनेके बीचकी अवस्था है—एक व्यावहारिक तथ्य और एक प्रामाणिक धर्म है सही, पर इससे ऊपरकी भूमिकामें हम शुभ अशुभके ऊपर उठ जाते हैं और इनके द्वंद्वोंकी पहुंचके परे वैसे ही रहते हैं जैसे कि ईश्वर रहता है। परंतु जहां यह सत्य व्यावहारिक रूपसे काममें नहीं आता उस नीचेकी भूमिकासे ऊपर उठे बिना ही जो अपरिपक्व मन इस सत्यको पकड़ने जायगा वह तो यही करेगा कि इस सत्यको अपनी आसुरी प्रवृत्तियोंको प्रश्रय देनेके लिये, शुभ और अशुभके भेदको सर्वथा अस्वीकार करनेके लिये और भोगविलासके द्वारा विनाशके गहरे दलदलमें जा गिरनेके लिये सुविधाजनक एक बहाना बना लेगा—"सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः"। यही बात प्रकृतिके नियंतृत्वके सत्यकी भी है, इसको भी लोग गलत देखेंगे और इसका दुरुपयोग करेंगे, जैसा कि वे लोग करते हैं जो यह कहते हैं कि हर एक मनुष्य वही है जैसा कि उसकी प्रकृतिने उसे बना रखा है, प्रकृति उसे जो कुछ करनेको विवश करती है उसके सिवाय वह और कुछ नहीं कर सकता। एक अर्थमें यह बात सही है, पर उस अर्थमें नहीं जिस अर्थमें यह कही जाती है; इस अर्थमें नहीं कि अहमात्मक जीव जो कुछ करता है उसकी जिम्मेवारी उसपर न हो और वह उसके फलसे बच जाय; क्योंकि अहमात्मक जीवका अपना

संकल्प है, उसकी अपनी कामना है, और जबतक वह अपने संकल्प और अपनी कामनाके अनुसार कर्म करता है तबतक, चाहे उसकी प्रकृति कैसी ही क्यों न हो, उसे अपने कर्मकी प्रतिक्रियाओंको भोगना ही पड़ेगा। वह उस जालमें, यों कहिये कि उस फंदेमें जा फंसा है जो उसकी वर्त्तमान अनुभूतिको, उसके मर्यादित आत्म-ज्ञानको चाहे कितना ही दुर्बोध, युक्तिविरुद्ध, अनुचित और भयंकर मालूम हो, पर है यह फंदा उसकी अपनी खुशीका और यह जाल उसका अपना बुना हुआ।

गीता यह कहती है सही कि "सब भूतप्राणी अपनी प्रकृतिका अनुसरण करते हैं, निग्रह करनेसे क्या होगा" और यदि हम अकेले इसी वचनको ले लेते हैं तो ऐसा दिखायी देगा कि प्रकृतिकी सर्वशक्तिमत्ताका पुरुषपर असंभव रूपसे संपूर्ण आधिपत्य है। "ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी प्रकृतिका ही अनुसरण करता है।" और इसीकी बुनियादपर गीताका यह आदेश है कि सचाईके साथ अपने कर्मोंके अंदर अपने स्वधर्मका पालन करो, "अपना धर्म चाहे दोषयुक्त हो पर वह दूसरेके सुसंपादित धर्मसे अच्छा है; स्वधर्ममें मर जाना भला है, दूसरेके धर्मका पालन भयावह है।" इस स्वधर्मका वास्तविक अर्थ जाननेके लिये हमें तब-तक ठहरना होगा जबतक हम गीताके पिछले अध्यायोंमें पुरुष, प्रकृति और गुणोंके संबंधमें जो विस्तृत व्याख्यान है, वहांतक न आ जायं, किंतु निश्चय ही इसका यह अर्थ तो नहीं ही है कि जिसे हम प्रकृति कहते हैं उसकी जो कोई भी प्रेरणा हो, फिर चाहे वह अशुभ ही क्यों न हो, उसका हमें पालन करना होगा। कारण इन दो श्लोकोंके बीचमें गीताने यह आदेश भी तो दिया है कि, "प्रत्येक इंद्रियके जो विषय हैं उनमें रागद्वेष छिपे हुए हैं; उनके वशमें न आना, क्योंकि आत्माके रास्तेमें ये लुटेरे हैं।" और फिर इसके बाद ही जब अर्जुन यह प्रश्न करता है कि

प्रकृतिका अनुसरण करनेमें जब कोई दोष नहीं है तब हमारे अंदरकी उस चीजको हम क्या कहें जो मनुष्यसे, उसकी इच्छा और चेष्टाके विरुद्ध, बरबस जैसे हो पाप कराती है, तब भगवान् गुरु उत्तर देते हैं कि वह काम है और उसका साथी क्रोध, रजोगुणकी संतान, जो ऐसा कराते हैं; और यह जो काम है यही आत्माका सबसे बड़ा शत्रु है, इसे तो मार ही डालना होगा। गीता कहती है कि पापकर्मका त्याग करना तो मुक्तिकी पहली शर्त है और सर्वत्र ही गीताका यह आदेश है कि आत्मवशी और आत्मसंयमी होओ तथा मन, इंद्रिय और संपूर्ण निम्न सत्ताको अपने वशमें रखो।

इसलिये अब हमें इन दो चीजोंको अलग-अलग समझ लेना होगा कि प्रकृतिमें वह कौनसी चीज है जो उसका असली स्वरूप है, उसका अपना और अनिवार्य कार्य है जिसका दमन या निग्रह करना बिलकुल लाभकारी नहीं और फिर वह कौनसी चीज है जो असली नहीं आगंतुक है, जो प्रकृतिका विक्षेप, विभ्रम और विकार है जिसे हमें अपने वशमें करना होगा। निग्रह और संयम, इन दोनोंमें भी भेद है। निग्रह प्रकृतिपर अपनी इच्छाकी जबरदस्ती है जिससे जीवकी स्वाभाविक शक्तियां अंतमें अवसादको प्राप्त होती हैं (आत्मानमवसादयेत्); और संयम उच्चतर आत्माका निम्नतर आत्माको संयमित करना है जिससे जीवकी स्वाभाविक शक्तियोंको अपना स्वभावनियत कर्म और फिर उस कर्मको करनेका परम कौशल प्राप्त होता है (योगः कर्मसु कौशलम्)। छठे अध्यायके उपोद्घातमें संयमका यह स्वरूप बहुत ही स्पष्ट करके बताया गया है। "आत्मासे आत्माका उद्धार करे, आत्माको (भोगविलास या निग्रहके द्वारा) अवसन्न होकर नीचे न गिरने दे; कारण आत्मा ही आत्माका मित्र है और आत्मा ही आत्माका शत्रु। उस मनुष्यका आत्मा उसका मित्र

है जिसके (उच्चतर) आत्माके द्वारा (निम्नतर) आत्मा जीत लिया गया है; परंतु जिस मनुष्यने अपने (उच्चतर) आत्मापर अधिकार नहीं किया है उसका (निम्नतर) आत्मा उसके लिये शत्रु जैसा है और वह शत्रुवत् आचरण करता है।" जब कोई अपने आत्माको जीत लेता और पूर्ण आत्मजय और आत्मवत्ताकी अविचल स्थितिको प्राप्त होता है तब उसका परम आत्मा उसकी बाह्य सचेतन मानव सत्तामें भी स्थिर प्रतिष्ठित अर्थात् 'समाहित' होता है। दूसरे शब्दोंमें निम्नतर आत्माको उच्चतर आत्मासे, प्राकृत आत्माको आध्यात्मिक आत्मासे वशमें करना ही मनुष्यकी सिद्धि और मुक्तिका मार्ग है।

सो हम लोगोंने देखा कि प्रकृतिके नियंतृत्वकी पहुंच कितनी है, इसके अर्थ और क्षेत्रकी व्यापकताकी ठीक-ठीक सीमा क्या है। प्रकृतिकी अधीनतासे निकलकर उसपर अधिकार करनेकी जो बात गीताने कही है वह कैसे कार्यान्वित होती है यह बहुत अच्छी तरहसे स्पष्ट हो जायगा यदि प्रकृतिकी नीचेसे ऊपरतककी जो श्रेणियां है उनमें गुणोंकी जो क्रिया होती है उसको हम देख लें। सबसे नीचे वे जीव हैं जिनमें तमोगुणका तत्त्व मुख्य है, ये वे प्राणी हैं जो अभी आत्म-चैतन्यके प्रकाशतक नहीं पहुंचे हैं और जो सर्वथा प्रकृतिके प्रवाहके द्वारा ही चालित होते हैं। परमाणुके अंदर भी एक इच्छाशक्ति है, पर यह स्पष्ट ही देख पड़ता है कि यह स्वाधीन इच्छाशक्ति नहीं है, क्योंकि यह इच्छाशक्ति यंत्रवत् है और परमाणु इसपर स्वत्व नहीं रखता, बल्कि खुद ही उसके अधिकारमें होता है। बुद्धि, जो प्रकृतिके अंदर बोध और संकल्पका तत्त्व है वह यहां वास्तवमें स्पष्ट रूपसे, जैसा कि सांख्यने बताया है, जड़ है, यह अभी यांत्रिक यहांतक कि अचेतन तत्त्व है, और इसके अंदर सचेतन आत्माका जो प्रकाश है उसने उपरितलपर आनेके लिये अभी कोई

प्रयास नहीं किया है। परमाणु अपने बुद्धितत्त्वसे सचेतन नहीं है, वह उस तमोगुणके कब्जेमें है, जिसने रजोगुणको पकड़ रखा है, सत्त्वगुणको अपने अंदर छिपा रखा है और स्वयं अपने प्रभुत्वके उत्सवमें मस्त है। जीवके इस रूपको प्रकृति अद्भुत शक्तिके साथ कार्य करनेके लिये विवश करती है सही, पर स्वतंत्र रूपसे कुछ नहीं करने देती, उसे जड़ यंत्रवत् चलाती रहती है (यंत्रारूढानि मायया)। इससे ऊपरके स्तरमें उद्भिद कोटि है, उसमें रजोगुण बाहर निकल पड़ा है, उसके साथ उसकी जीवन-शक्ति है, उसकी स्नायवीय प्रतिक्रियाओंकी क्षमता है और ये प्रतिक्रियाएं वे ही हैं जो हमारे अंदर सुख-दुःखके रूपमें प्रकट होती हैं; पर अभी भी सत्त्वगुण बिलकुल दबा हुआ है, उसने अभी बाहर निकलकर सचेतन बुद्धिके प्रकाशको नहीं जगाया है, अभी भी यह सब जड़, अवचेतन या अर्द्धचेतन ही है जिसमें रजकी अपेक्षा तमकी प्रबलता है और रज तम, दोनों मिलकर सत्त्वको कैद किये हुए हैं।

इससे ऊपरके स्तरमें, अर्थात् पशुकोटिमें, है तो तमकी ही प्रबलता और इसे भी हम 'तामस सर्ग' के अंतर्गत ही कह सकते हैं, फिर भी यहां तमोगुणके विरुद्ध रजोगुणका पहलेकी अपेक्षा अधिक जोर है और इसलिये यहां कुछ उन्नत प्रकारकी जीवनशक्ति, इच्छा, उमंग, प्राणावेग और सुख-दुःख भी होते हैं; सत्त्वगुण भी यहां प्रकट तो हो रहा है पर अभी भी वह निम्न क्रियाके ही अधीन है फिर भी उसने सचेतन मनके प्रथम प्रकाशको, यांत्रिक अहंबोधको, सचेतन स्मृतिको, एक प्रकारकी चिंताशक्तिको, विशेषतः पशुसुलभ सहज-प्रेरणा और सहजस्फुरणाके चमत्कारको इस पशुकोटिमें अपनी ओरसे दे दिया है। परंतु यहांतक भी बुद्धिने चेतनाका पूर्ण विकास नहीं किया है; अतएव पशुओंको उनके कर्मोंका जिम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता। सो, परमाणुको उसकी

अंध गतिके लिये, आगको जलाने और खाक कर देनेके लिये या आंधी-तूफानको बरबादीके लिये जितना दोष दिया जा सकता है उससे अधिक दोष प्राणियोंको मारने और खा जानेके लिये शेरको नहीं दिया जा सकता। यदि शेर हमारे प्रश्नका जवाब दे सका होता तो मनुष्यकी तरह ही उसने यह कहा होता कि मैं जो कुछ करता हूं अपनी स्वाधीन इच्छासे करता हूँ; कर्त्तापनका भाव वह रखना चाहता और कहता, " मैं मारता हूं, मैं खाता हूं"। पर हम लोग तो यह स्पष्ट ही देख सकते हैं कि मारने-खानेकी क्रिया करनेवाला शेर नहीं बल्कि उसके अंदर रही हुई प्रकृति है जो मारती और खाती है; और यदि कभी शेर नहीं मारता या नहीं खाता तो पेट भरा होनसे, डरसे या आलस्यसे ही ऐसा करता है जो प्रकृतिके ही एक और गुणका कर्म है जिसे तमोगुण कहते हैं। जैसे पशुके अंदरकी प्रकृतिने मारनेकी क्रिया की, वैसे ही उसने मारनेसे रुकनेकी भी क्रिया की। उसके अंदर आत्मा किसी भी रूपमें हो पर वह स्वयं प्रकृतिके कर्मका केवल निष्क्रिय अनुमंता ही है, वह प्रकृतिके कामक्रोधके वेग और कर्ममें उतना ही निष्क्रिय है जितना कि उसके आलस्य या अकर्ममें। परमाणुके समान ही पशु भी अपनी प्रकृतिकी यांत्रिकताके अनुसार ही चलता है, और किसी तरह नहीं, "सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेः", जैसे कोई "मायाके द्वारा यंत्रपर चढ़ाया हुआ हो (यंत्रारूढो मायया)।"

ठीक है, पर कम-से-कम मनुष्यमें तो अन्य प्रकारकी क्रिया है, उसमें एक स्वतंत्र आत्मा है, एक स्वाधीन इच्छा है, एक दायित्वबोध है, एक वास्तविक कर्त्ता है जो प्रकृतिसे भिन्न है, मायाकी यांत्रिकतासे भिन्न है? यह ऐसा मालूम तो होता है क्योंकि मनुष्यमें सचेतन बुद्धि है और इस बुद्धिमें साक्षी पुरुषका प्रकाश भरपूर है और ऐसा प्रतीत होता है कि यह पुरुष उस बुद्धिके द्वारा देखता, समझता, सम्मति या

असम्मति देता, अनुमति या निषेध करता है; अंतमें यहां तो ऐसा मालूम होता ही है कि मनुष्य कोटिमें आकर पुरुष अपनी प्रकृतिका प्रभु बनना आरंभ कर देता है। मनुष्य, शेर या आग या आंधी-तूफानके समान तो नहीं है। वह खून करके यह सफाई तो नहीं दे सकता कि, "मैं अपनी प्रकृतिके अनुसार कर्म करता हूं", और वह ऐसा कर भी नहीं सकता, क्योंकि उसका वह स्वभाव नहीं और इसलिये वह स्वधर्म भी नहीं जो शेर, आग या आंधी-तूफानका है। उसमें सचेतन बुद्धि है और सब काम वह सचेतन बुद्धिसे विचार कर ही करेगा। यदि वह ऐसा नहीं करता और अपने आवेशों और प्राणावेगोंके अनुसार अंधा होकर कर्म करता है तो उसका धर्म 'सु-अनुष्ठित' नहीं है, उसका आचरण उसके मनुष्यत्वके अनुकूल नहीं, बल्कि पशुवत् ही है। यह सही है कि रजोगुण अथवा तमोगुण उसकी बुद्धिको अपने कब्जेमें कर लेता है और उससे, उसके द्वारा हो रहे प्रत्येक कर्मके करने या किसी भी कर्मके न करनेका समर्थन करा लेता है; परंतु यहां भी, कर्म करनेके पहले या पीछे, बुद्धिसे समर्थन कराना या कम-से-कम उससे पूछ लेना तो पड़ता ही है। इसके अतिरिक्त, मनुष्यके अंदर सत्त्वगुण जागृत है और यह केवल बुद्धिके रूपमें और बुद्धिपूर्वक संकल्प करनेके रूपमें ही काम नहीं करता, बल्कि प्रकाश, सत्यज्ञान और उस ज्ञानके अनुसार सत्य-कर्मके अन्वेषणके रूपमें, तथा दूसरोंके जीवन और दावोंको सहानुभूतिपूर्ण रीतिसे अनुभव करनेके रूपमें, अपने निजी स्वभावके उच्चतर धर्मको (जिसकी सृष्टि यह सत्त्वगुण ही उसके अंदर करता है) जानने और मानकर चलनेके प्रयासके रूपमें तथा पुण्य ज्ञान और सहानुभूति जिस महत्तर शांति और सुखको ले आते हैं उसे बोध करनेके रूपमें भी, काम करता है। मनुष्य थोड़ा या बहुत यह जानता ही है कि उसे अपनी राजसिक और तामसिक प्रकृतिपर अपनी

सात्विक प्रकृतिके द्वारा शासन करना है, और यही उसकी सामान्य मनुष्यताकी सिद्धिका मार्ग है।

परंतु क्या स्वभावमें सत्त्वगुणकी प्रधानता स्वाधीनताका लक्षण है और क्या मनुष्यके अंदर यह जो इच्छा है वह स्वाधीन इच्छा है? गीता इस बातको उच्चतर चैतन्यकी दृष्टिसे अस्वीकार करती है, क्योंकि सच्ची स्वाधीनता तो उच्चतर चैतन्यमें ही है। बुद्धि, फिर भी, प्रकृतिका ही एक उपकरण है और इसका जो कर्म होता है, वह चाहे अत्यंत सात्विक ही हो, होता है प्रकृतिके द्वारा ही और पुरुष यंत्रारूढवत् चालित होता है मायाके द्वारा ही। किसी भी तरहसे देखिये, हमारी इस तत्कथित स्वाधीन इच्छाका नवदशांश स्पष्ट ही मिथ्या कल्पना है; यह इच्छा किसी नियत कालमें अपनी निजी स्वतःस्थित क्रिया के द्वारा उत्पन्न और निर्द्धारित नहीं होती, बल्कि इसकी उत्पत्ति और इसका निर्द्धारण होता है हमारे भूतकालके द्वारा, हमारे वंशानुक्रमके द्वारा, हमारी शिक्षा-दीक्षाके द्वारा, हमारी परिस्थितिके द्वारा और हमारे पीछे यह जो दारुण जटिल चीज लगी हुई है, जिसे हम कर्म कहते हैं उसके द्वारा। यह कर्म क्या है? यह हमपर और जगत्पर अतीत कालमें प्रकृतिकी जो क्रिया हो चुकी है उसका समूह है जो हर एक व्यक्तिके अंदर केंद्रीभूत होता रहता है, और वह व्यक्ति जैसा है तथा किसी विशिष्ट कालमें उस व्यक्तिकी क्या इच्छा होगी और, जहांतक विश्लेषणद्वारा देखा जा सकता है वहांतक, उस विशिष्ट कालमें उसकी क्रियातक क्या होगी, इसका निर्द्धारण भी यह कर्म ही करता है। प्रकृतिकी इस क्रियाके साथ अहंकार शामिल हो जाता और कहता है कि 'मैंने अमुक काम किया', 'मैं अमुक इच्छा कर रहा हूं', 'मैं अमुक दुःख भोग रहा हूं', किंतु यदि वह अपने-आपको देखे और यह जाने कि वह कैसे बना है तो उसे, क्या मनुष्य-

शरीरमें और क्या पशु-शरीरमें, यही कहना पड़ेगा कि 'प्रकृतिने मेरे अंदर यह काम किया, प्रकृति मेरे अंदर यह इच्छा कर रही है' और यदि इस प्रकृतिको वह 'अपनी प्रकृति' कहे तो इसका अर्थ यही है कि यह वही प्रकृति है जो उस व्यष्टि-प्राणीमें यह रूप धारण किये हुए है। जीवनके इस पहलूका बड़ा तीव्र अनुभव होनेसे ही बौद्धोंको यह कहना पड़ा कि सब कुछ कर्म ही है और यह कि जीवनमें कोई आत्मसत्ता नहीं, आत्माकी भावना तो अहंबुद्धिका केवल एक भ्रम है। अहंकार जब यह सोचता है कि "मैं इस पुण्य कर्मको चुन लेता और इसका संकल्प करता हूं, उस पाप कर्मका नहीं," तब वह इसके सिवाय और कुछ नहीं करता होता कि वह सत्त्वगुणकी किसी प्रधान लहर या सुसंगठित धाराके साथ, जिसके द्वारा प्रकृति बुद्धिको अपना उपकरण बनाकर किसी एक प्रकारके कर्मसे किसी दूसरे प्रकारके कर्मको चुनना ही अधिक पसंद करती है, अपने-आपको शामिल कर लेता है, जैसे कि किसी घूमते हुए पहियेपर बैठी हुई वह मक्खी जो यह समझती है कि यह मैं ही घूम रही हूं या किसी कल-पुरजेका एक दांत या एक हिस्सा जो यदि उसको होश होता तो यही समझता कि यह मैं ही तो घूम रहा हूं। सांख्य सिद्धांतके अनुसार प्रकृति स्वयं हमारे अंदर गठित होती और हमारे अंदर इच्छा करती है अकर्त्ता साक्षी पुरुषको प्रसन्न करनेके लिये।

परंतु यद्यपि इस आत्यंतिक वर्णनका संशोधन कर लेना आवश्यक है और आगे चलकर हम देखेंगे कि इसे किस तरह करना होगा, तो भी हमारी इच्छाकी स्वाधीनता (यदि हम उसे स्वाधीनता कहना ही पसंद करें) बहुत ही सापेक्षिक और अणुप्रमाण है, क्योंकि इसके साथ बहुतसे नियामक तत्त्व मिले हुए हैं। इसकी जो प्रबलतम शक्ति है उसे भी हम प्रभुता तो नहीं ही कह सकते। इसका यह भरोसा तो नहीं ही

किया जा सकता कि यह प्रत्येक घटनाके तीव्र वेगको या किसी दूसरेकी प्रकृतिके वेगको थाम सकेगी, जो उसे दबा देता या किसी प्रकार बदल देता अथवा उसमें मिल जाता है, और कुछ नहीं तो कम-से-कम छिपे-छिपे ही उसे धोखा देता या ठग लेता है। अत्यंत सात्त्विक बुद्धि भी राजस या तामस गुणोंसे इतनी दब जाती या उनमें मिल जाती या उनके द्वारा ठगी जाती है कि उसमें सत्त्वका अंश केवल थोड़ासा ही रह जाता है और इसीसे एक ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है कि जिसमें मनुष्य अपने-आपको जबरदस्त धोखा दे बैठता है, इच्छाके न होते हुए भी और सर्वथा निर्दोष रहते हुए भी कुछ-का-कुछ मान बैठता है और अपने-आपसे ही चीजोंको छिपाने लगता है, जिस बातको मनोविज्ञानवेत्ताकी निर्मम दृष्टि मनुष्यके अच्छे-से-अच्छे काममें भी ढूंढ़ निकालती है। जब हम यह सोचते हैं कि हम तो सर्वथा स्वच्छंदतापूर्वक काम कर रहे हैं तब यथार्थमें हमारे कामके पीछे ऐसी शक्तियां छिपी हुई होती हैं जिन्हें अत्यंत सावधानीसे आत्म-निरीक्षण करते हुए भी हम नहीं देख पाते; जब हम यह सोचते हैं कि हम अहंकारसे मुक्त हैं, उस समय भी वहां जैसे असाधुके मनमें, वैसे ही साधुके मनमें, अहंकार छिपा हुआ रहता ही है। जब हमारी आंखें अपने कर्मों और उनके मूल-स्रोतोंको देखनेके लिये वास्तविक रूपसे खुलती हैं तब गीताके इन शब्दोंको हमें कहना ही पड़ता है कि, "गुणा गुणेषु वर्त्तन्ते" प्रकृतिके गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं।

इसलिये सत्त्वगुणका बहुत अधिक प्राधान्य होना भी स्वतंत्रता नहीं है। सत्त्व भी, जैसा कि गीताने कहा है, अन्य गुणोंके समान ही बंधनकारक है और यह भी अन्य गुणोंकी तरह काम और अहंकारके द्वारा ही बांधा करता है; अवश्य ही यह काम महत्तर और यह अहंकार विशुद्ध-तर होता है, परंतु जबतक ये दोनों किसी भी रूपमें जीवको बांधे हुए

रहते हैं तबतक स्वतंत्रताकी कोई बात नहीं है। पुण्यात्मा और ज्ञानी पुरुषका अहंकार पुण्य और ज्ञानका अहंकार होता है और इसी सात्विक अहंकारकी तृप्ति वह चाहता है, वह अपने लिये ही पुण्य और ज्ञानकी इच्छा करता है। सच्ची स्वाधीनता तो तभी होती है जब हम अहंकार-की तृप्ति करना बंद कर देते हैं, जब हम अहंकारके आसनसे, हममें जो परिच्छिन्न 'मैं' है उसके आसनसे चिंतन और संकल्प करना बंद कर देते हैं। दूसरे शब्दोंमें, स्वतंत्रताका, उच्चतम आत्म-वशित्वका आरंभ तब होता है जब हम अपने इस प्राकृत जीव-भावके ऊपर उस परम आत्माको देखें और पकड़े रहें जिसके और हमारे बीचमें यह अहंकार एक बाधक आवरण और आंखोंके आगे अंधेरा कर देनेवाली एक छाया है। और यह तभी हो सकता है जब हम उस एक आत्माको अपने अंदर देखें जो प्रकृतिके ऊपर बैठा हुआ है और अपने व्यक्तिगत जीवकी सत्ता और चेतनाको उस परम आत्माकी सत्ता और चेतनाके साथ एक कर लें तथा अपनी व्यक्तिगत कार्यकरी प्रकृतिको उस अद्वितीय परम संकल्पशक्तिका एक यंत्र बना लें जिसकी इच्छा ही एकमात्र स्वाधीन इच्छा है। इसके लिये हमें त्रिगुणके ऊपर उठना होगा, त्रिगुणातीत होना होगा; कारण यह आत्मा सत्त्वगुणके भी परे है। वहांतककी चढ़ाई सत्त्वगुणसे होकर ही पूरी करनी होगी, पर हम पहुंचेंगे उसके निकट तभी जब हम सत्त्वगुणको पार कर जायंगे; हम अहंकारमेंसे ही उसकी ओर जायंगे, पर उसके पास पहुंचेंगे तभी जब हम अहंकारको छोड़ देंगे। इच्छाओंमें सबसे ऊँची, सबसे वेगवती, सबसे प्रबल और सबसे अधिक उल्लासमय इच्छा ही हमें उसकी ओर ले जायगी, पर उसमें हमारा स्थिर निश्चित वास होगा तभी जब सारी इच्छाएं हममेंसे झड़कर गिर जायंगी। एक अवस्था वह आवेगी जब हमें मुक्तिकी इच्छासे भी मुक्त होना होगा।

## त्रैगुणातीत्य

सो, प्रकृतिके नियंतृत्वकी व्याप्ति यहांतक है और इसका सारांश यही है कि जिस अहंकारसे हमारे सारे कर्म होते हैं वह अहंकार स्वयं ही प्रकृतिके कर्मका एक करण है और इसलिये वह प्रकृतिके नियंत्रणसे मुक्त रह ही नहीं सकता; अहंकारकी इच्छा प्रकृतिद्वारा निर्द्धारित इच्छा ही है, यह उस प्रकृतिका ही एक अंग है जैसी कि वह अपने पूर्व कर्मों और परिवर्तनोंके द्वारा हमारे अंदर गठित हुई है और इस प्रकार गठित हममें जो प्रकृति है और उसके अंदर जो इच्छा है वही हमारे वर्त्तमान कर्मका भी निर्द्धारण करती है। किसी-किसीने कहा है कि हमारे कर्मका मूलारंभ तो सर्वथा हमारी स्वाधीन पसंदसे ही होता है, पीछे जो कुछ हो वह भले ही उस कर्मके द्वारा निश्चित क्यों न होता हो, और हममें कर्मारंभ करनेकी जो यह शक्ति है तथा इस प्रकार किये गये कर्मका हमारे भविष्यपर जो असर होता है वही हमें हमारे कर्मोंके लिये जिम्मेवार ठहराता है। परंतु प्रकृतिके कर्मका वह मूलारंभ ही कौनसा है जिसका नियंता कोई पूर्व कर्म न हो, हमारी प्रकृतिकी वह कौनसी वर्त्तमान अवस्था है जो समस्त रूपमें और ब्योरेवार भी हमारी पूर्व प्रकृतिके कर्मका परिणाम न हो? किसी स्वाधीन कर्मारंभको हम इसलिये मान लेते हैं कि हम प्रति क्षण अपनी वर्त्तमान अवस्थासे भविष्यकी अवस्थाकी

ओर देखकर ही अपना जीवन बिताते हैं और सदा अपनी वर्त्तमान अवस्थासे अपने भूतकालकी अवस्थामें नहीं लौटते, इसलिये हमारे मनोंमें वर्त्तमान और उसके परिणाम ही स्पष्ट रूपसे प्रतीत होते हैं; पर हमारा जो वर्त्तमान है, जो सर्वथा हमारे भूतकालका ही परिणाम है, इस बातकी हमें बहुत ही अस्पष्ट धारणा रहती है। भूतकालको तो हम लोग ऐसा समझते हैं कि वह तो मर गया, अब उससे क्या मतलब ! हम लोग बोलते और करते ऐसा ही हैं मानो इस विशुद्ध और अछूते क्षणमें हम अपने साथ जो चाहें करनेके लिये स्वाधीन हैं और ऐसा करते हुए हम अपनी पसंदगीकी आंतरिक स्वाधीनताका ही पूर्ण उपयोग करते हैं। परंतु इस तरहकी कोई पूर्ण स्वतंत्रता नहीं है, हमारी पसंदके लिये ऐसी कोई स्वाधीनता नहीं है।

अवश्य ही, हमारे अंदर जो इच्छा है उसे सदा ही कतिपय संभावनाओंमेंसे कुछका चुनाव कर लेना पड़ता है क्योंकि प्रकृतिके काम करनेका यही तरीका है; यहांतक कि हमारी निश्चेष्टता, किसी प्रकारकी इच्छा करनेसे इनकार करना भी एक चुनाव ही है, प्रकृतिकी हममें जो इच्छाशक्ति है उसका एक कर्म ही है; परमाणुके अंदर भी एक इच्छाशक्ति सदा काम करती रहती है। अंतर केवल इसी बातका है कि कौन कहांतक प्रकृतिकी इस इच्छाशक्तिके साथ अपने-आपको जोड़ लेता है। जब हम अपने-आपको उसके साथ जोड़ लेते हैं तब हम यह सोचने लगते हैं कि यह इच्छा हमारी है और यह कहने लगते हैं कि यह एक स्वाधीन इच्छा है तथा यह कि हम ही तो कर्त्ता हैं। और यह चाहे भूल हो या न हो, भ्रम हो या न हो, 'अपनी' इच्छा, 'अपने' कर्मकी यह जो भावना है यह सर्वथा निरर्थक या निरुपयोगी नहीं है, क्योंकि प्रकृतिके अंदर जो कुछ भी है उस सबकी एक सार्थकता है, एक उपयोगिता है।

यह हमारी सचेतन सत्ताकी ही वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा हमारे अंदर जो प्रकृति है वह अपने अंतःस्थित निगूढ़ पुरुषकी अवस्थितिको अधिकाधिक जान लेती और उसके अनुकूल हो लेती है और इस ज्ञानवृद्धिके द्वारा कर्मकी एक महत्तर संभावनाकी ओर उद्घाटित होती है; इस अहंभाव और व्यष्टिगत इच्छाकी सहायतासे ही यह अपनी उच्चतर संभावनाओंकी ओर अपने-आपको ऊपर उठाती है, तामसी प्रकृतिकी नितांत या प्रबल निश्चेष्टतासे निकलकर राजसी प्रकृतिके आवेग और संघर्षको प्राप्त होती है और फिर राजसी प्रकृतिके आवेग और संघर्षसे निकलकर सात्त्विक प्रकृतिके महत्तर प्रकाश, सुख और पावित्र्यको प्राप्त होती है। प्राकृत मनुष्य जो सापेक्षिक आत्मवशित्व लाभ करता है वह उसकी प्रकृतिकी ही उच्चतर संभावनाओंका निम्नतर संभावनाओंके ऊपर आधिपत्य है और यह उसके अंदर होता तब है जब निम्नतर गुणपर प्रभुता पानेके लिये, उसे अपने अधिकारमें करनेके लिये उच्चतर गुणकी जो चेष्टा होती है उसके साथ वह अपने-आपको जोड़ लेता है। स्वाधीन इच्छाका बोध चाहे भ्रम हो या नहीं, पर है वह प्रकृतिके कर्मका एक आवश्यक यंत्र, और मनुष्यकी प्रगतिके कालमें इसका होना उसके लिये आवश्यक है तथा इससे उच्चतर सत्यको ग्रहण करनेके लिये प्रस्तुत होनेके पूर्व ही इसे खो देना उसके लिये घातक होगा। यदि यह कहा जाय, जैसा कि कहा जा चुका है, कि प्रकृति अपने विधानोंको पूरा करनेके लिये मनुष्यको भ्रममें डाला करती है और इस प्रकारके भ्रमोंमें व्यष्टिगत इच्छाकी भावना सबसे जबरदस्त भ्रम है, तो इसके साथ यह भी कहना होगा कि यह भ्रम उसके भलेके लिये है और इसके विना वह अपनी पूर्ण संभावनाओंके उत्कर्षको नहीं प्राप्त हो सकता।

परंतु यह निरा भ्रम नहीं है, केवल इतनी ही भूल है कि इसे

ठीक तरहसे नहीं देखा जाता और इसको इसका उचित स्थान नहीं दिया जाता। अहंकार यह समझता है कि मैं ही वास्तविक आत्मा हूं और इस तरह कर्म करता है मानो कर्मका वास्तविक केंद्र वही हो और सब कुछ मानो उसीके लिये हो, और यहींपर वह ठीक तरहसे नहीं देखनेकी तथा चीजोंको उनका उचित स्थान नहीं देनेकी भूल करता है। यह सोचना गलत नहीं है कि हमारे अंदर, हमारी प्रकृतिके इस कर्मके अंदर कोई चीज या कोई पुरुष ऐसा है जो हमारी प्रकृतिके कर्मका वास्तविक केंद्र है और सब कुछ उसीके लिये है; परंतु वह यह अहंकार नहीं, बल्कि हृद्देशस्थित निगूढ़ ईश्वर है और वह जीव है जो अहंकारसे पृथक् है, जो ईश्वरकी सत्ताका ही एक अंश है। अहंकारका स्वत्व-प्रकाश हमारे मनके अंदर पड़ी हुई उस सत्यकी ही एक भग्न और विकृत छाया है जो यह बतलाता है कि हमारे अंदर एक सदात्मा है जो सबका स्वामी है और जिसके लिये तथा जिसके आदेशसे ही प्रकृति अपने कर्ममें लगी रहती है। इसी प्रकार अहंकारकी अपनी स्वाधीन इच्छा होनेकी जो कल्पना है वह भी उस सत्यका ही एक विकृत और अस्थानन्यस्त भाव है जो यह बतलाता है कि हमारे अंदर एक स्वाधीन आत्मा है और प्रकृतिकी इच्छा उसीकी इच्छाका परिवर्तित और आंशिक प्रतिबिंब है, परिवर्तित और आंशिक इसलिये कि यह इच्छा क्षण-क्षण परिवर्तित होनेवाले कालके अंदर रहती और सतत नये-नये ऐसे रूप धारण करके काम करती है जो अपने पूर्व रूपोंको बहुत कुछ भूले रहते और खास अपने ही परिणामों और लक्ष्योंको पूरा-पूरा नहीं जानते। परंतु जो इच्छाशक्ति अंदर है, जो क्षण-क्षण परिवर्तित होनेवाले कालके परे है, वह इन सबको जानती है और प्रकृतिका जो कर्म हमारे अंदर होता है वह, यह कह सकते हैं कि, इसी बातका प्रयास है कि अंतःस्थित इच्छाशक्ति और ज्ञानके द्वारा

पूर्ण विज्ञानमय प्रकाशमें जो कुछ पहलेसे देखा जा चुका है उसीको, यहां प्राकृत और अहंभावापन्न अज्ञानकी बड़ी कठिन अवस्थामेंसे होकर, कार्य-रूपमें परिणत किया जाय।

परंतु हमारी प्रगतिके अंदर एक समय निश्चय ही ऐसा आवेगा जब हम इसके लिये तैयार होंगे कि हम अपनी आंखोंको अपनी सत्ताके वास्तविक सत्यको देखनेके लिये खोलें और तब अहंभावापन्न स्वाधीन इच्छाका जो भ्रम हममें है वह अवश्य ही दूर हो जायगा। अहंभावापन्न स्वाधीन इच्छाकी भावनाके त्यागका अर्थ यह नहीं है कि कर्म बंद हो जायगा, क्योंकि कर्म करनेवाली तो प्रकृति है और वह इस अहंभावापन्न इच्छारूपी यंत्रको हटा देनेपर भी अपना कर्म वैसे ही करती रहेगी जैसे कि वह उस समय करती थी जब प्रकृतिके विकासक्रमकी प्रक्रियामें यह यंत्र उपयोगमें नहीं लाया गया था। यही नहीं बल्कि प्रकृतिके लिये यह भी संभव हो सकता है कि जिस मनुष्यने इस यंत्रका परित्याग कर दिया हो उसके अंदर वह और भी महत्तर कर्मका विकास कर सके; क्योंकि ऐसे मनुष्यका मन इस बातको और अच्छी तरहसे जान सकेगा कि उसकी प्रकृति अपने ही कर्मके फलस्वरूप इस समय कैसी बनी है, उसमें यह जाननेकी अधिक क्षमता होगी कि जो शक्तियां उसके इर्द-गिर्द हैं उनमें कौन उसके विकासमें साधक और कौन बाधक हैं, तथा वह इस बातसे भी अधिक अवगत होगा कि कौन-कौनसी महत्तर संभावनाएं उसकी प्रकृतिके अंदर छिपी पड़ी हैं जो अभी अव्यक्त हैं, लेकिन व्यक्त होनेकी ताकत रखती हैं; और यह मन जिन महत्तर संभाव-नाओंको देखता है उन्हें कार्यमें परिणत करनेके लिये पुरुषकी अनुमतिको प्राप्त करनेका एक अधिक खुला हुआ स्रोत-मार्ग बन सकता है तथा प्रकृतिको इस अनुमतिके अनुगत कर लेनेका एक अबाध यंत्र; और इससे

यह होता है कि प्रकृति इन संभावनाओंको विकसित और सिद्ध करने
लग जाती है। परंतु स्वाधीन इच्छाका त्याग, अपने वास्तविक आत्माक
किसी रूपमें आभास पाये बिना, केवल अदृष्टवादको मानकर या प्रकृतिके
नियंतृत्वको मानकर ही, नहीं होना चाहिये; क्योंकि तब तो अहंकारको
ही हम अपना आत्मा जानते रहेंगे और अहंकार सर्वदा ही प्रकृतिक
करण होनेसे हम अहंकारसे ही कर्म करते रहेंगे और हमारी इच्छा
प्रकृतिका एक यंत्रमात्र बनी रहेगी, इससे हमारे अंदर कोई वास्तविक
परिवर्तन न होगा, केवल हमारे बौद्धिक भावमें कुछ फेर-फार हो जायगा
तब हमने अपनी अहमात्मक सत्ता और कर्मका प्रकृतिद्वारा नियंत्रित किये
जानेका जो व्यावहारिक सत्य है उसे तो स्वीकार कर लिया होगा, अपनी
अधीनताको भी देख लिया होगा, किंतु अपने अंदर जो हमारा अ
आत्मा है, जो गुणोंके कर्मसे परे है, उसे नहीं देख पाया होगा, हमने
यह नहीं देख पाया होगा कि हमारी मुक्तिका द्वार कहां है। प्रकृति
और अहंकार ही हमारी संपूर्ण सत्ता नहीं हैं, मुक्त पुरुष भी है।

परंतु पुरुषकी इस स्वाधीनताका स्वरूप क्या है? प्रचलित सांख्य
दर्शनके अनुसार पुरुष अपनी मूल सत्तामें स्वाधीन है, किंतु इस स्वाधी
नताका कारण यह है कि वह अकर्त्ता है; वह अपने अकर्त्तृस्वरूपपर प्रकृतिके
कर्मकी जो छाया पड़ने देता है उसीसे वह त्रिगुणके कर्मोंद्वारा बाह्यत
बंध जाता है और अपनी स्वाधीनताको फिरसे तब ही पा सकता है ज
वह प्रकृतिसे अपना संबंध तोड़ दे और उसके फलस्वरूप प्रकृतिके का
बंद हो जायं। इस तरह यदि कोई मनुष्य अपने चित्तसे इस विचारक
हटा दे कि मैं कर्त्ता हूं या ये मेरे कर्म हैं और गीताके उपदेशानुसार अपने
आपको अकर्त्ता जाने (आत्मानं अकर्त्तारं) तथा सब कर्मोंको अपने नह
बल्कि प्रकृतिके जाने, उन्हें उसके गुणोंके खेलके रूपमें देखे और इस

बुद्धिमें स्थित हो जाय, तो क्या इसका परिणाम वैसा ही नहीं होगा? सांख्यका पुरुष अनुमंता है, पर उसकी अनुमति निष्क्रिय है, कर्म सारा प्रकृतिका है; यह पुरुष साररूपसे केवल साक्षी और भर्त्ता है, जगदीश्वरका नियामक सक्रिय चैतन्य नहीं। यह वह पुरुष है जो देखता और ग्रहण करता है, जैसे कोई दर्शक अपने सामने होनेवाले अभिनयको देखता और ग्रहण करता है, वह पुरुष नहीं जिसने उस अभिनयको तैयार किया, अपनी सत्ताके अंदर ही खेला और फिर उसका साथ-साथ संचालन भी करता है और दर्शक बनकर देखता भी है। इसलिये यदि यह पुरुष प्रकृतिके कर्मसे अपनी अनुमति हटा लेता है, यदि उस मिथ्या कर्त्तृत्वाभिमानको त्याग देता है जिससे प्रकृतिका यह सारा खेल जारी रहता है, तो वह उसका भर्त्ता भी नहीं रह जाता और कर्म बंद हो जाता है, क्योंकि साक्षी चैतन्य पुरुषकी प्रसन्नताके लिये ही प्रकृति यह खेल खेलती और उसीका आश्रय पाकर ही उसे जारी रख सकती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पुरुष-प्रकृति-संबंधके विषयमें गीताकी जो धारणा है वह वही नहीं है जो सांख्यकी है, कारण एक ही साधनसे दोनोंमें दो परस्पर सर्वथा भिन्न परिणाम होते हैं; सांख्यके अनुसार पुरुषके मुक्त होते ही कर्म बंद हो जाता है और गीताके अनुसार पुरुषकी मुक्तिका अर्थ है किसी महान्, किसी निःस्वार्थ, किसी दिव्य कर्मका होना। सांख्य सिद्धांतमें पुरुष और प्रकृति दो भिन्न सत्ताएं हैं, गीतामें ये दोनों एक ही स्वतःस्थित सत्ताके दो पहलू हैं, दो शक्तियां हैं; पुरुष यहां केवल अनुमंता ही नहीं है, वल्कि प्रकृतिका ईश्वर है और प्रकृतिके द्वारा वह जगत्-लीलाको भोगता है, प्रकृतिके द्वारा दिव्य संकल्प और ज्ञानको जगत्की उस योजनाके अंदर क्रियान्वित करता है जिसको वह अपनी अनुमतिद्वारा धारण किये रहता है और जो उसीकी सर्वव्यापी अवस्थितिसे उसीकी

यह होता है कि प्रकृति इन संभावनाओंको विकसित और सिद्ध करनेमें लग जाती है। परंतु स्वाधीन इच्छाका त्याग, अपने वास्तविक आत्माका किसी रूपमें आभास पाये बिना, केवल अदृष्टवादको मानकर या प्रकृतिके नियंतृत्वको मानकर ही, नहीं होना चाहिये; क्योंकि तब तो अहंकारको ही हम अपना आत्मा जानते रहेंगे और अहंकार सर्वदा ही प्रकृतिका करण होनेसे हम अहंकारसे ही कर्म करते रहेंगे और हमारी इच्छा प्रकृतिका एक यंत्रमात्र बनी रहेगी, इससे हमारे अंदर कोई वास्तविक परिवर्तन न होगा, केवल हमारे बौद्धिक भावमें कुछ फेर-फार हो जायगा। तब हमने अपनी अहमात्मक सत्ता और कर्मका प्रकृतिद्वारा नियंत्रित किये जानेका जो व्यावहारिक सत्य है उसे तो स्वीकार कर लिया होगा, अपनी अधीनताको भी देख लिया होगा, किंतु अपने अंदर जो हमारा अज आत्मा है, जो गुणोंके कर्मसे परे है, उसे नहीं देख पाया होगा, हमने यह नहीं देख पाया होगा कि हमारी मुक्तिका द्वार कहां है। प्रकृति और अहंकार ही हमारी संपूर्ण सत्ता नहीं हैं, मुक्त पुरुष भी है।

परंतु पुरुषकी इस स्वाधीनताका स्वरूप क्या है? प्रचलित सांख्य दर्शनके अनुसार पुरुष अपनी मूल सत्तामें स्वाधीन है, किंतु इस स्वाधीनताका कारण यह है कि वह अकर्त्ता है; वह अपने अकर्तृस्वरूपपर प्रकृतिके कर्मकी जो छाया पड़ने देता है उसीसे वह त्रिगुणके कर्मोंद्वारा बाह्यतः बंध जाता है और अपनी स्वाधीनताको फिरसे तब ही पा सकता है जब वह प्रकृतिसे अपना संबंध तोड़ दे और उसके फलस्वरूप प्रकृतिके कर्म बंद हो जायं। इस तरह यदि कोई मनुष्य अपने चित्तसे इस विचारको हटा दे कि मैं कर्त्ता हूं या ये मेरे कर्म हैं और गीताके उपदेशानुसार अपने-आपको अकर्त्ता जाने (आत्मानं अकर्त्तारं) तथा सब कर्मोंको अपने नहीं बल्कि प्रकृतिके जाने, उन्हें उसके गुणोंके खेलके रूपमें देखे और इसी

बुद्धिमें स्थित हो जाय, तो क्या इसका परिणाम वैसा ही नहीं होगा? सांख्यका पुरुष अनुमंता है, पर उसकी अनुमति निष्क्रिय है, कर्म सारा प्रकृतिका है; यह पुरुष साररूपसे केवल साक्षी और भर्त्ता है, जगदीश्वरका नियामक सक्रिय चैतन्य नहीं। यह वह पुरुष है जो देखता और ग्रहण करता है, जैसे कोई दर्शक अपने सामने होनेवाले अभिनयको देखता और ग्रहण करता है, वह पुरुष नहीं जिसने उस अभिनयको तैयार किया, अपनी सत्ताके अंदर ही खेला और फिर उसका साथ-साथ संचालन भी करता है और दर्शक बनकर देखता भी है। इसलिये यदि यह पुरुष प्रकृतिके कर्मसे अपनी अनुमति हटा लेता है, यदि उस मिथ्या कर्त्तृत्वाभिमानको त्याग देता है जिससे प्रकृतिका यह सारा खेल जारी रहता है, तो वह उसका भर्त्ता भी नहीं रह जाता और कर्म बंद हो जाता है, क्योंकि साक्षी चैतन्य पुरुषकी प्रसन्नताके लिये ही प्रकृति यह खेल खेलती और उसीका आश्रय पाकर ही उसे जारी रख सकती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पुरुष-प्रकृति-संबंधके विषयमें गीताकी जो धारणा है वह वही नहीं है जो सांख्यकी है, कारण एक ही साधनसे दोनोंमें दो परस्पर सर्वथा भिन्न परिणाम होते हैं; सांख्यके अनुसार पुरुषके मुक्त होते ही कर्म बंद हो जाता है और गीताके अनुसार पुरुषकी मुक्तिका अर्थ है किसी महान्, किसी निःस्वार्थ, किसी दिव्य कर्मका होना। सांख्य सिद्धांतमें पुरुष और प्रकृति दो भिन्न सत्ताएं हैं, गीतामें ये दोनों एक ही स्वतःस्थित सत्ताके दो पहलू हैं, दो शक्तियां हैं; पुरुष यहां केवल अनुमंता ही नहीं है, बल्कि प्रकृतिका ईश्वर है और प्रकृतिके द्वारा वह जगत्-लीलाको भोगता है, प्रकृतिके द्वारा दिव्य संकल्प और ज्ञानको जगत्की उस योजनाके अंदर क्रियान्वित करता है जिसको वह अपनी अनुमतिद्वारा धारण किये रहता है और जो उसीकी सर्वव्यापी अवस्थितिसे उसीकी

सत्तामें स्थित है, जो उसीकी सत्ताके विधानसे तथा उसमें जो सचेतन संकल्प है उससे संचालित है। इस पुरुषकी दिव्य सत्ता और स्वभावको जानना, उसके अनुकूल होना और उसमें रहना ही अहंकार और उसके कर्मसे निवृत्त होनेका हेतु है। इससे मनुष्य त्रिगुणकी निम्न प्रकृतिसे ऊपर उठकर उच्चतर दिव्य प्रकृतिको प्राप्त होता है।

यह ऊपर उठना जिस क्रियाके द्वारा नियंत्रित होता है वह प्रकृतिके साथ पुरुषका जो संबंध है उसमें पुरुषकी जो जटिल स्थिति है उससे पैदा होती है; त्रिविध पुरुषका गीतोक्त सिद्धांत ही इसका आधार है। जो पुरुष प्रकृतिकी क्रियाको, उसके परिवर्तनोंको, उसके आनुक्रमिक भूत-भावोंको सीधा अनुप्राणित करता है वह क्षर पुरुष है, वह जो प्रकृतिके परिवर्तनोंके साथ परिवर्तित होतासा और प्रकृतिकी गतिके साथ चलता-सा मालूम होता है, यह वह व्यष्टिपुरुष है जो प्रकृतिके सतत कर्म-प्रवाहसे अपने व्यक्तित्वमें होनेवाले परिवर्तनोंके साथ तदाकार हुआ चलता है। यहां प्रकृति क्षर है, जो कालके अंदर सतत प्रवाहित और परिवर्तित होती रहती है, उसका सदा उद्भव होता रहता है। परंतु यह प्रकृति पुरुषकी ही केवल कार्यकारिणी शक्ति है; क्योंकि पुरुष जो कुछ है उसीसे प्रकृतिका भूतभाव वन सकता है, उसकी संभूतिकी संभावनाओंके अनुसार ही वह कर्म कर सकती है; वह उसकी सत्ताके भूतभावको ही कार्यान्वित करती है। उसका कर्म स्व-भावद्वारा, पुरुषकी आत्म-संभूतिके विधानद्वारा, नियंत्रित होता है, यद्यपि, चूंकि प्रकृति पुरुषके भूतभावको व्यक्त करनेवाली कार्यकारिणी शक्ति है इसलिये प्रायः ऐसा दीखता है कि कर्म ही स्वभावको नियत करता है। जो कुछ हम हैं उसीके अनुसार हम कर्म करते हैं, और अपने कर्मके द्वारा हम विकसित होते तथा जो कुछ हम हैं उसे सिद्ध करते हैं। प्रकृति कर्म है, परिवर्तन है, भूतभाव

है और वह शक्ति है जो इन सबको कार्यमें परिणत करती है; परंतु पुरुष वह चित्स्वरूप सत् है जिससे यह शक्ति निःसृत होती है, जिसकी प्रकाशमान चेतनासे ही उसने यह इच्छा पायी है जो परिवर्तित होती रहती है और जो अपने परिवर्तनोंको उस प्रकृतिके कर्मोंमें अभिव्यक्त करती रहती है। और यह पुरुष एक है और अनेक भी; यही वह एक प्राण-सत्ता है जिसमेंसे सारा जीवन बनता है और यही सब प्राणी भी है; यही विश्व-सत्ता है और यही 'सर्वभूतानि' है, क्योंकि ये सब हैं एक ही; ये सब जो असंख्य पुरुष हैं, हैं अपने मूल स्वरूपमें एकमेव अद्वितीय पुरुष ही। परंतु प्रकृतिके अंदर अहंभावका यह जो यंत्र है, जो प्रकृतिके कर्मका ही एक अंग है, वह मनको इस बातके लिये प्रवृत्त कर लेता है कि वह पुरुषकी चेतनाको तात्कालिक परिच्छिन्न भूतभावके साथ, देश-काल-मर्यादित किसी विशिष्ट क्षेत्रमें प्रकृतिकी जो सक्रिय चेतना है उसके साथ, प्रकृतिका जो पूर्व-कर्म-समूह है उसके क्षण-क्षणपर होनेवाले फलके साथ, तदाकार कर ले। एक तरहसे यह संभव है कि इन समस्त जीवोंकी एकताको स्वयं प्रकृतिके अंदर ही अनुभव किया जा सके और विश्वप्रकृतिके अखिल कर्मके अंदर व्यक्त जो विराट् पुरुष है उसको जाना जा सके, यह जाना जा सके कि प्रकृति पुरुषको अभिव्यक्त करती है और पुरुष ही प्रकृति बनता है। परंतु यह अनुभव करना और जानना विराट् भूतभावको ही जानना है, जो कोई मिथ्या या असत् भाव नहीं है, किंतु केवल इसी ज्ञानसे हमें आत्माका सच्चा ज्ञान नहीं मिलता; क्योंकि हमारा जो वास्तविक आत्मा है वह सदा ही इससे भी कुछ अधिक है और इसके परे है।

कारण, प्रकृतिमें व्यक्त और उसके कर्ममें बद्ध जो पुरुष है उसके परे पुरुषकी एक और स्थिति है, जो केवल एक स्थितिशील अवस्था है, वहां कर्म बिलकुल नहीं है; वह पुरुषकी नीरव निश्चल, सर्वगत, स्वतः-

स्थित, अचल, अक्षर आत्मसत्ता है, भूतभाव नहीं। क्षरभावमें पुरुष प्रकृतिके कर्ममें फंसा है, इसलिये वह कालके मुहूर्त्तोंमें, भूतभावकी तरंगोंमें केंद्रीभूत है, मानो अपने-आपको खो बैठा है, पर यह खो बैठना वास्तविक नहीं, यह केवल ऐसा दिखायी ही देता है और चूंकि यहां पुरुष भूतभावके प्रवाहका अनुसरण करता है इसीलिये ऐसा जान पड़ता है। अक्षरभावमें प्रकृति पुरुषके अंदर शांति और विश्रांतिको प्राप्त होती है, इस कारण पुरुष अपने अक्षर स्वरूपको जान जाता है। क्षर सांख्योक्त पुरुषकी वह अवस्था है जब वह प्रकृतिके गुणोंके नानाविध कर्मोंको प्रतिबिंबित करता और अपने-आपको सगुण, व्यष्टि-पुरुष जानता है; अक्षर सांख्योक्त पुरुषकी वह अवस्था है जब ये गुण साम्यावस्थाको प्राप्त होते हैं और वह अपने-आपको निर्गुण, नैर्व्यक्तिक-पुरुष जानता है। इसलिये क्षर पुरुषकी जहां यह अवस्था है कि वह प्रकृतिके कर्मके साथ युक्त होकर कर्त्ता भासित होता है वहां अक्षर पुरुष गुण-कर्मोसे सर्वथा अलग, निष्क्रिय, अकर्त्ता और साक्षीमात्र रहता है। मनुष्यका आत्मा जब क्षरभावमें आता है तब वह व्यक्तित्वके खेलके साथ एक हो जाता और प्रकृतिगत अहंभावसे अपने स्वरूप-ज्ञानको ढंक लेता है और इस तरह वह अपने-आपको कर्मोंका कर्त्ता समझने लगता है; और जब यह आत्मा अक्षर भावमें आता है तब वह अपने-आपको नैर्व्यक्तिक भावके साथ एक कर लेता और यह जान लेता है कि कर्त्री प्रकृति है, हम तो निष्क्रिय अकर्त्ता साक्षी पुरुष हैं। मनुष्यके मनको इन दो भावोंमेंसे किसी एक भावकी ओर झुकना पड़ता है, मन इन दो भावोंको यह समझ-कर ग्रहण करता है कि ये सर्वथा अलग-अलग हैं—या तो वह गुण और व्यक्तित्वके क्षरभावमय कर्ममें जाकर प्रकृतिके द्वारा बंध जाता है, नहीं तो अक्षर नैर्व्यक्तित्वमें जाकर प्रकृतिकी क्रियाओंसे मुक्त हो जाता है।

परंतु यथार्थमें पुरुषका आत्मपद और अक्षरत्व तथा प्रकृतिके अंदर उसका कर्म और क्षरत्व, ये दोनों एक साथ ही रहा करते हैं। और ये जो दो परस्पर-विरोधी बातें हैं इनके समाधानके लिये या तो मायावाद जैसे किसी वादका ही आश्रय करना पड़ता या आत्माको उभयविध और विभक्त ही मान लेना पड़ता यदि आत्माका कोई परम भाव नहीं होता, जिसके ही ये दो विपरीत पहलू हैं, पर जो स्वयं इनमेंसे किसीसे सीमित नहीं है। हमने यह देखा है कि इस परम भावको गीता पुरुषोत्तमकी भावनामें पाती है। वे परम पुरुष ईश्वर हैं, भगवान् हैं, 'सर्वभूत-महेश्वर' हैं। ये परम पुरुष अपनी प्रकृतिको—गीताके शब्दोंमें 'स्वां प्रकृतिं' को—अपने अंदरसे बाहर निकालते हैं जो जीवमें प्रकट होती है और जो क्रियान्वित की जाती है प्रत्येक जीवके स्वभावके द्वारा—यह जीव अपने अन्तःस्थित भागवत सत्ताके धर्मके अनुसार बरतेगा और उसका यह काम होगा कि इस धर्मकी महान् धाराओंका अनुसरण करे। भगवान्‌की यह शक्ति अहंभावापन्न प्रकृतिमें भी गुणोंके एक दूसरेपर हो रहे भ्रामक खेलके द्वारा क्रियान्वित होती है (गुणागुणेषु वर्तन्ते)। यह त्रैगुण्यमयी माया है जिसे पार करना मनुष्यके लिये बड़ा ही कठिन है (दुरत्यया), फिर भी त्रिगुणको पार कर इसके परे पहुंचा जा सकता है। क्योंकि ईश्वर जब क्षरभावके अंदर अपनी प्रकृति-शक्तिके द्वारा यह सब कर रहे होते हैं, तब भी वे अपने अक्षर-भावमें इस सबसे अलिप्त और उदासीन रहते हैं, वे सबको समदृष्टिसे देखते हैं, सबके अंदर प्रसारित हैं, और फिर भी सबके परे रहते हैं। तीनों अवस्थाओंमें वे ही स्वामी हैं; उत्तम भावमें वे परमेश्वर हैं, अक्षर भावमें सबके अध्यक्ष (प्रभु) और सर्वव्यापक निर्गुण ब्रह्म (विभु) हैं, और क्षर भावमें सर्वव्यापी भगवत्संकल्प और सर्वत्र विद्यमान सक्रिय ईश्वर हैं। वे अपने व्यक्तित्वका खेल खेलते हुए भी अपने

निर्गुण स्वरूपमें नित्यमुक्त हैं; वे न तो केवल निर्गुण हैं न केवल सगुण ही, बल्कि सगुण और निर्गुण उस एक ही सत्ताके दो पहलू हैं, उपनिषदने इनको 'निर्गुणो गुणी' कहा है। किसी घटनाके घटनेसे पहले ही उन्होंने उसका संकल्प किया हुआ होता है—तभी तो वे अभी भी जीते-जागते धार्त्तराष्ट्रोंके संबंधमें कहते हैं कि "मयैव निहिताः पूर्वमेव" (मैं उन्हें पहले ही मार चुका हूं)—और प्रकृति जिस किसी कामका संपादन करती है वह केवल उन्हींके संकल्पका परिणाममात्र होता है; फिर भी चूंकि उनके व्यष्टि-स्वरूपके पीछे उनका नैर्व्यक्तिक स्वरूप रहता है इसलिये वे अपने कर्मोंसे नहीं बंधते (कर्त्तारम् अकर्त्तारम्)।

परंतु कर्म और भूतभावके साथ अपनेको अज्ञानवश तादात्म्य कर लेनेके कारण मनुष्य अहंकार-विमूढ़ हो जाता है, वह कर्म और भूतभावको ही अपना समग्र आत्मा जानने लगता है, उसे यह ज्ञान नहीं रहता कि ये उसकी आत्माकी ही वह शक्ति है जो उसकी आत्मासे ही निःसृत होती है। वह सोचता है कि सब कुछ हम और दूसरे-दूसरे लोग ही तो कर रहे हैं और वह यह नहीं देख पाता कि सारा कर्म प्रकृति कर रही है और अज्ञान तथा आसक्तिके कारण प्रकृतिके कर्मोंको वह गलत समझता और विकृत ही करता है। गुणोंने उसको अपना गुलाम बना रखा है, कभी तमोगुण उसे जड़तामें धर दबाता है, कभी रजोगुणकी जोरदार आंधी उसे उड़ा ले जाती है तो कभी सत्त्वगुणका आंशिक प्रकाश उसे बांध रखता है और वह यह नहीं देख पाता कि वह अपने प्राकृत मनसे कोई अलग चीज है और गुणोंके द्वारा जो फेर-फार होता है वह तो केवल प्राकृत मनका ही होता है। इसीलिये सुख और दुःख, हर्ष और शोक, काम और क्रोध, आसक्ति और जुगुप्सा उसे अपने वशमें कर लेते हैं, उसे जरा भी स्वाधीनता नहीं रहती।

मुक्त होनेके लिये उसे प्रकृतिके कर्मसे लौटकर अक्षर पुरुषकी स्थितिमें आ जाना होगा; तब वह त्रिगुणातीत होगा। अपने-आपको अक्षर, अविकार्य, अपरिवर्तनीय पुरुष जानकर वह अपने-आपको अक्षर, निर्गुण आत्मा जानेगा और प्रकृतिके कर्मको स्थिर शांतिके साथ देखेगा तथा उसे निष्पक्षभावसे सहारा देगा, पर खुद स्थिर, उदासीन, अलिप्त, अचल, विशुद्ध तथा सब प्राणियोंके साथ उनके आत्मामें एकीभूत रहेगा, प्रकृति और उसके कर्मके साथ नहीं। यह आत्मा यद्यपि अपनी उपस्थितिसे प्रकृतिको कर्म करनेका अधिकार देता है, यद्यपि अपनी सर्वव्यापी सत्ताद्वारा प्रकृतिके कर्मोंको सहारा देता, उन्हें अनुमति देता है, अर्थात् यद्यपि यह प्रभु है विभु है, फिर भी यह कर्म या कर्त्तृत्व या कर्मफलसंयोगका सृजन नहीं करता, बल्कि क्षरभावमें प्रकृतिके द्वारा होनेवाले इन सब कर्मोंको केवल देखता रहता है;* इस जन्मके अंदर आये हुए किसी भी प्राणीके पाप और पुण्यको अपना मानकर उन्हें यह अपने सिरपर नहीं ओढ़ता "नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः"; यह अपनी आध्यात्मिक विशुद्ध दिव्य स्थितिमें बना रहता है। अज्ञानसे विमूढ़ अहंकार ही इन सब चीजोंको अपनी मान लेता है क्योंकि यह कर्त्तापनकी जिम्मेवारीको अपने ऊपर ओढ़ लेता है और अपनेको उसी रूपमें देखना पसंद करता है, न कि अपने असली रूपमें जिसमें यह किसी महत्तर शक्तिका एक यंत्रमात्र है, "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः"। निर्गुण, नैर्व्यक्तिक आत्मस्थितिमें लौटकर जीव महत्तर आत्म-ज्ञानको फिरसे पा जाता और प्रकृतिके कर्मबंधनसे मुक्त हो जाता है, प्रकृतिके गुण तब उसे स्पर्श नहीं करते, उसके शुभाशुभ और सुख-दुःखके द्वन्द्वोंसे वह

---

* न कर्त्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

अलिप्त रहता है। प्राकृत सत्ता, मन-प्राण-शरीर अभी भी रहते हैं, प्रकृति अब भी कर्म करती है; पर आंतरिक सत्ता अपने-आपको इनके साथ तदाकार नहीं करती, न यह उस समय सुखी या दुखी ही होती है जब कि प्राकृत सत्तामें गुणोंकी क्रीड़ा हो रही होती है। अब वह जीव स्थिर, मुक्त, सर्वसाक्षी अक्षर ब्रह्म हो जाता है।

क्या यही परम पद, परम प्राधान्य, उत्तम रहस्य है? नहीं, यह नहीं हो सकता, क्योंकि यह मिश्रित या विभक्त अवस्था है, पूर्ण समन्वित पद नहीं; यह द्विविध सत्ता है, एकीभूत स्वरूप नहीं, यहां आत्मामें तो मुक्ति है पर प्रकृतिमें अपूर्णता है। यह केवल एक अवस्था हो सकती है। तब इसके परे क्या है? एक समाधान उन संन्यासवादियोंका है जो प्रकृतिका, कर्मका सर्वथा त्याग कर देते हैं, कम-से-कम कर्मका उतना त्याग कर देते हैं जितना कि संभव है, इसलिये कि विशुद्ध अविभक्त मुक्तस्थिति प्राप्त हो; किंतु गीता इस समाधानको स्वीकार तो करती है पर इसे उत्तम नहीं मानती। गीता भी कर्मोंके संन्यासपर जोर देती है (सर्वकर्माणि संन्यस्य) पर यह ब्रह्मको आंतरिक अर्पण है। क्षर भावमें ब्रह्म प्रकृतिके कर्मको पूरा-पूरा सहारा देता है और अक्षरभावमें ब्रह्म, कर्मको सहारा देते हुए भी उससे अलग रहता है, अपने मुक्त स्वरूपको कायम रखता है; अक्षर ब्रह्मके साथ युक्त व्यष्टि-पुरुष मुक्त और प्रकृतिसे अलग रहता है, फिर भी क्षरमें स्थित ब्रह्मके साथ युक्त रहकर वह कर्मको सहारा देता है पर उससे लिप्त नहीं होता। यह द्विविध भाव उत्तम प्रकारसे तब होता है जब वह यह देख लेता है कि एक पुरुषोत्तमके ही ये दो पहलू हैं। पुरुषोत्तम सब भूतोंमें निगूढ़ अंतर्यामी ईश्वर रूपसे रहते हुए प्रकृतिका नियंत्रण करते हैं और उन्हींकी इच्छासे, जो अब अहं-भावसे विकृत या विरूप नहीं है, प्रकृति स्वभाव-नियत होकर कर्मसंपादन

करती है; और व्यष्टि-पुरुष दिव्यीकृत प्राकृत सत्ताको भगवत्संकल्प-साधनका एक यंत्रमात्र (निमित्तमात्र) बना देता है। वह कर्म करता हुआ भी त्रिगुणातीत, निस्त्रैगुण्य ही बना रहता है और गीताने आरंभमें ही जो आदेश किया कि, "निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" (हे अर्जुन! तू निस्त्रैगुण्य हो जा) उसे अंतमें पूर्णतया कार्यतः सफल करता है। अभी भी वह गुणोंका भोक्ता है जैसा कि ब्रह्म है अर्थात् भोक्ता होनेपर भी उनसे बद्ध नहीं (निर्गुणं गुणभोक्तृच) और ब्रह्मकी ही तरह अनासक्त होकर भी सबका भर्त्ता है (असक्तं सर्वभृत्) पर गुणोंकी जो क्रिया उसके अंदर होती है उसका स्वरूप बिलकुल बदल जाता है, यह क्रिया गुणोंके अहमात्मक रूप और प्रतिक्रियाओंसे ऊपर उठी रहती है। क्योंकि उसने अपनी संपूर्ण सत्ताको पुरुषोत्तमके अंदर एकीभूत कर लिया है, वह भागवत सत्ता और भूतभावकी उच्चतम दिव्य प्रकृतिको (मद्भावम्) प्राप्त हो गया है, और अपने मन और चित्तको भी भगवान्के साथ एक कर लिया है (मन्मना, मच्चित्तः)। यह रूपांतर ही प्रकृतिका चरम विकास और दिव्य जन्मकी परम सिद्धि है, यही "उत्तमं रहस्यं" है। यह संसिद्धि जब प्राप्त हो चुकती है तब पुरुष अपनेको अपनी प्रकृतिका स्वामी जानता है और, भागवत ज्योतिकी ही एक ज्योति तथा भगवदिच्छाकी ही एक इच्छा बनकर अपनी प्रकृतिकी क्रियाओंको दिव्यकर्ममें रूपांतरित करनेमें समर्थ होता है।

---

# निर्वाण और संसारमें कर्म

गीताकी संपूर्ण शिक्षा है अपनी समग्र सत्ताके योगके द्वारा जीवका पुरुषोत्तमके साथ एक हो जाना। यह केवल अक्षर पुरुषके साथ एक हो जाना नहीं है, जैसा कि उस संकीर्णतर सिद्धांतमें बतलाया गया है जो मात्र ज्ञान-मार्गका अनुसरण करता है। यही कारण है कि ज्ञान और कर्मका समन्वय साधनेके पश्चात् गीताने कर्म और ज्ञानसे युक्त प्रेम और भक्तिकी भावनाका विकास करके यह बतलाया है कि जिस मार्गके द्वारा उत्तम रहस्यतक पहुंचा जा सकता है उस मार्गकी सर्वोच्च भूमि यही है। यदि अक्षर ब्रह्मके साथ एक हो जाना ही एकमात्र रहस्य या परम रहस्य होता तो कर्म और ज्ञानसे युक्त प्रेम और भक्तिका साधन संभव न होता क्योंकि तब साधनामें एक ऐसी अवस्था आ ही जाती जब प्रेम और भक्तिके लिये जो हमारा आंतरिक आधार है वह कर्मके आंतरिक आधारके समान ही चूर-चूर होकर ढह जाता। केवल अक्षर पुरुषके साथ संपूर्ण और अनन्य एकताका अर्थ होता है क्षर पुरुषके दृष्टि-विंदुको सर्वथा नष्ट कर देना। यह, हीनतर कर्ममें जो क्षर पुरुषकी सत्ता है केवल उस दृष्टिविंदुको नष्ट करना ही नहीं है, बल्कि स्वयं उसके मूलको भी, जो कुछ उसकी सत्ताको संभव बनाता है उस सबका भी, इनकार करना होता है; यह केवल उसकी अज्ञानावस्थाके कर्मका ही नहीं,

प्रत्युत् उसकी ज्ञानावस्थाके कर्मका भी इनकार करना होता है। इसका अर्थ होगा मानव-जीवकी और भगवान्‌की चेतना तथा कर्मण्यतामें जो भेद है, जिसके कारण ही क्षरभावकी लीला संभव होती है, उसको नष्ट कर देना; कारण तब क्षर पुरुषका कर्ममात्र केवल अज्ञानका खेल रह जायगा और उसके मूलमें या उसके आधारस्वरूप कोई भागवत सद्वस्तु नहीं रहेगी। इसके विपरीत, योगके द्वारा पुरुषोत्तमके साथ एक होनेका अर्थ होता है अपनी स्वतःस्थित सत्तामें तो उनके साथ एकत्वका ज्ञान और आस्वादन तथा अपनी क्रियाशील सत्तामें उनके साथ एक विशेष प्रकारके भेदभावका ज्ञान और आस्वादन। दिव्य प्रेमकी प्रेरक-शक्ति-द्वारा परिचालित और संसिद्ध दिव्य प्रकृतिद्वारा अनुष्ठित दिव्य कर्मोंकी लीलामें सक्रिय सत्ता और पुरुषोत्तमके बीच उपर्युक्त विशेष प्रकारके भेद-भावका बना रहना तथा आत्माके अंदर भगवान्‌की उपलब्धिके स्वरमें मिला हुआ जगत्‌के अंदर भगवान्‌का दर्शन होना, इन दो कारणोंसे ही मुक्त पुरुषके लिये कर्म और भक्ति करना संभव होता है, केवल संभव ही नहीं, बल्कि उसके सिद्ध स्वभावके लिये अपरिहार्य होता है।

परंतु पुरुषोत्तमके साथ एकता स्थापित करनेका सीधा रास्ता अक्षर ब्रह्मकी सुदृढ़ अनुभूतिमेंसे होकर ही है, और इस बातपर गीताने जो बहुत जोर दिया है और यह कहा है कि ऐसा करना जीवकी पहली आवश्यकता है,—और इसको प्राप्त कर लेनेके बाद ही कर्म और भक्ति अपने परम दिव्यार्थको प्राप्त होंगे—इसीसे यह होता है कि हम गीताके आशयको समझनेमें भूल कर जाते हैं। कारण यदि हम केवल उन्हीं श्लोकोंको देखें जिनमें इस आवश्यकतापर जोरदार आग्रह किया गया है और गीता-की विचारधाराके पूर्वापरका पूर्ण विचार न करें तो हम अनायास ही इसी निर्णयपर पहुंचेंगे कि गीता वास्तवमें यह शिक्षा देती है कि कर्महीन लय

ही जीवकी परम गति है और कर्म, अविचल अक्षर पुरुषमें जाकर शांत हो जानेका प्राथमिक साधनमात्र है। पांचवें अध्यायके अंतमें और छठे अध्यायमें सर्वत्र यही आग्रह अत्यंत प्रबल और व्यापक है। वहां एक ऐसे योगका वर्णन है जो पहली नजरमें कर्म-मार्गसे विसंगत ही प्रतीत होगा और वहां बारबार, योगी जिस पदको प्राप्त होता है उसकी सूचना 'निर्वाण' शब्दसे ही की गयी है।

इस पदका लक्षण है निर्वाणकी परम शांति (शांतिं निर्वाण परमां) और शायद इस बातको स्पष्ट करनेके लिये ही कि यह निर्वाण बौद्धोंका शून्य निर्वाण नहीं है बल्कि यह आंशिक सत्ताका पूर्ण सत्तामें वैदांतिक लय है, गीताने सदा ही ब्रह्म-निर्वाण शब्दका प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है ब्रह्ममें विलीन होना; और यहां ब्रह्म शब्दसे अवश्य ही अभिप्राय है अक्षर ब्रह्मका, कम-से-कम मुख्यतः उस अन्तःस्थ कालातीत आत्माका जो बाह्य प्रकृतिमें व्यापक होते हुए भी सक्रिय रूपसे उसमें कोई भाग नहीं लेता। इसलिये हमें यह देखना होगा कि यहां गीताका आशय क्या है, विशेषकर यह कि यह शांति क्या पूर्ण नैष्कर्म्यकी शांति ही है और क्या अक्षर ब्रह्ममें निर्वाण होनेका अभिप्राय क्षरके संपूर्ण ज्ञान और चैतन्यका तथा अक्षरमें होनेवाले संपूर्ण कर्मका सर्वथा परिहार ही है। हम लोगोंको कुछ ऐसा अभ्यास पड़ा हुआ है कि हम लोग निर्वाण और किसी प्रकारके जगत्-जीवन और कर्मको एक दूसरेसे सर्वथा विसंगत मानते हैं और हम लोग यहांतक भी कह डालना चाहते हैं कि 'निर्वाण' शब्दका प्रयोग स्वयं ही इस प्रश्नका निर्णय और पूर्ण उत्तर है। परंतु यदि हम बौद्ध मतका ही सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करें तो हमको भी संदेह होगा कि क्या यह विरोध बौद्धोंके यहां भी यथार्थतः था; और यदि हम गीताको अच्छी तरह देखें तो यह देख पड़ेगा कि यह विरोध वेदांतकी परम शिक्षाके अंदर नहीं है।

# निर्वाण और संसारमें कर्म

ब्रह्मकी चेतनामें जो ऊपर उठ चुका है ऐसे ब्रह्मवेत्ताकी (ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः) पूर्ण समताकी चर्चा करनेके बाद उसके परवर्ती नौ श्लोकोंमें गीताने ब्रह्मयोग और ब्रह्मनिर्वाणसंबंधी अपनी भावनाको विस्तारके साथ कहा है। उसने अपना कथन यों आरंभ किया है, "जब बाह्य पदार्थोंमें जीवकी कोई आसक्ति नहीं रह जाती तब उस मनुष्यको वह सुख मिलता है जो आत्मामें है; ऐसा व्यक्ति अक्षय सुख भोग करता है, क्योंकि उसका आत्मा ब्रह्मके साथ योगके द्वारा युक्त है।" गीता कहती है कि अनासक्त होना अत्यावश्यक है, इसलिये कि काम-क्रोध लोभ-मोहसे छुटकारा मिले, इस छुटकारेके बिना सच्चे सुखका मिलना संभव नहीं है। यह सुख और यह समत्व मनुष्यको शरीरमें रहते हुए ही पूर्ण रूपसे प्राप्त करने होंगे; निम्न विक्षुब्ध प्रकृतिके दासत्वके कारण वह जो यह समझता था कि पूर्ण मुक्ति शरीरको छोड़नेके बाद ही प्राप्त होगी, इस दासत्वका लेशमात्र भी उसके अंदर नहीं रह जाना चाहिये; पूर्ण आध्यात्मिक स्वातंत्र्य लाभ करना और भोगना होगा इसी जगत्में, इसी मानव-जीवनके अंदर, अर्थात् देह त्याग करनेके पहले ही (प्राक् शरीर विमोक्षणात्)। इसके आगे गीता कहती है कि "जो अंतःसुख है, अंतराराम है और अंतर्ज्योति है वही योगी ब्रह्मभूत होकर ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होता है।" यहां निर्वाणका अर्थ स्पष्ट ही उस परम आत्मस्वरूपमें अहंकारका लोप होना है जो सदा देशकालातीत, कार्यकारणबंधनातीत तथा क्षरणशील जगत्के परिवर्तनोंके अतीत है और जो सदा आत्मानंदमय, आत्मप्रकाशमय और शांतिमय है। वह योगी अब अहंकारस्वरूप नहीं रह जाता, वह छोटासा व्यक्तित्व नहीं रह जाता जो मन और शरीरसे सीमित रहता है; वह ब्रह्म हो जाता है, उसकी चेतना शाश्वत पुरुषकी उस अक्षर दिव्यताके साथ एक हो जाती है जो उसकी प्राकृत सत्तामें व्याप्त है।

परंतु क्या यह जगत्-चैतन्यसे दूर, समाधिकी किसी गभीर निद्रामें सो जाना है अथवा क्या यह प्राकृत सत्ता तथा व्यष्टिपुरुषके किसी ऐसे निरपेक्ष ब्रह्ममें लय हो जाने या मोक्षको पानेकी तैयारी है जो ब्रह्म सर्वथा और सदा प्रकृति और उसके कर्मोंके परे है? क्या निर्वाणको प्राप्त होनेके पहले विश्व-चैतन्यसे अलग हो जाना आवश्यक है अथवा क्या निर्वाण, जैसा कि उस प्रकरणसे मालूम होता है, एक ऐसी अवस्था है जो जगत्-चैतन्यके साथ-साथ रह सकती और अपने ही तरीकेसे उसका अपने अंदर समावेश भी कर सकती है? यह पिछले प्रकारकी अवस्था ही स्पष्ट रूपसे गीताको अभिप्रेत मालूम होती है, क्योंकि इसके बादके ही श्लोकमें गीताने कहा है कि "वे ऋषि ब्रह्मनिर्वाण लाभ करते हैं जिनके पापके दाग सब धुल गये हैं और जिनकी संशय-ग्रंथिका छेदन हो चुका है, जो अपने-आपको वशमें कर चुके हैं और जो सब भूतोंके कल्याणमें रत हैं (सर्वभूतहिते रताः)।" इसका तो प्रायः यही अभिप्राय मालूम होता है कि इस प्रकारका होना ही निर्वाणको प्राप्त होना है। परंतु इसके बादका श्लोक बिलकुल ही स्पष्ट और निश्चयात्मक है, "यती, (अर्थात् जो लोग योग और तपके द्वारा आत्मवशी होनेका अभ्यास करते हैं) जो काम और क्रोधसे मुक्त हो चुके हैं और जिन्होंने आत्म-वशित्व लाभ कर लिया है उनके लिये ब्रह्मनिर्वाण उनके चारों ओर ही रहता है वह उन्हें घेरे हुए रहता है, वे उसीमें रहते हैं, क्योंकि आत्म-ज्ञान उन्हें प्राप्त है।" अर्थात् आत्माका ज्ञान होना और आत्मवान् होना ही निर्वाणमें रहना है। यह स्पष्ट ही निर्वाणकी भावनाका एक व्यापक रूप है। काम-क्रोधादि दोषोंके कल्मषसे सर्वथा मुक्त होना और यह मुक्ति जिस समत्वबुद्धिके आत्मवशित्वपर अपना आधार रखती है उस आत्मवशित्वका होना, सब भूतोंके प्रति समत्वका होना, सबके प्रति

कल्याणकारी प्रेमका होना, अज्ञानजनित जो संशय और अंधकार सर्वैक्य-साधक भगवान्‌से और हमारे अंदर और सबके अंदर जो एक आत्मा है उसके ज्ञानसे हमको अलग करके रखते हैं उनका सर्वथा नाश हो जाना, ये सब स्पष्ट ही निर्वाणकी अवस्थाएं हैं जो गीताके इन श्लोकोंमें बतलायी गयी हैं, इन्हींसे निर्वाण पद सिद्ध होता है और ये ही उसके आध्यात्मिक तत्त्व हैं।

इस प्रकार निर्वाण स्पष्ट ही जगत्-चैतन्य और संसारमें कर्मके साथ विसंगत नहीं है। कारण जो ऋषि निर्वाणको प्राप्त हैं वे इस क्षर जगत्‌में भगवान्‌को प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं और कर्मोंके द्वारा उनके साथ अति निकट संबंध बनाये रहते हैं; वे सब भूतोंके कल्याणमें लगे रहते हैं (सर्व-भूतहिते रताः)। क्षर पुरुषकी अनुभूतियोंको उन्होंने त्याग नहीं दिया है, बल्कि उन्हें दिव्य बना लिया है; कारण, गीता कहती है कि क्षर पुरुष ही 'सर्वभूतानि' है, और सब भूतोंका कल्याण करना प्रकृतिकी क्षरताके अंदर एक भागवत कर्म है। संसारमें जो यह कर्म है वह ब्राह्मी-स्थितिसे विसंगत नहीं है, बल्कि यह उस अवस्थाकी अपरिहार्य शर्त्त और बाह्य परिणाम है, क्योंकि जिस ब्रह्ममें निर्वाण लाभ किया जाता है वह ब्रह्म, जिस आत्मचैतन्यमें हमारा पृथकात्मक अहंभाव विलीन हो जाता है वह आत्मचैतन्य केवल हमारे अंदर ही नहीं है, बल्कि इन सब भूत प्राणियोंके अंदर भी है, इन सब जगत्-प्रपंचोंसे वह केवल पृथक् और इनके ऊपर ही नहीं है, बल्कि इन सबमें व्याप्त है, इन्हें धारण किये हुए है और इनमें प्रसारित है। इसलिये ब्रह्मनिर्वाण पदका अर्थ उसी सीमित पृथक्कारी चेतनाका ही नाश या निर्वाण समझना होगा जो सारे भ्रम और भेदभावका कारण है और जो जीवनके बाह्य स्तरपर त्रिगुणात्मिका निम्नतर मायाकी ही एक रचनामात्र है। और इस निर्वाण पदमें जो

प्रवेश है वह उस एकत्वसाधक परम सच्चैतन्यकी प्राप्तिका रास्ता है जो समस्त सृष्टिका हृदय और आधार है, और जो उसका सर्वसमाहारक, सर्वसहायक, समग्र मूल सनातन परम सत्य है। जब हम निर्वाण लाभ करते और उसमें प्रवेश करते हैं तब वह निर्वाण केवल हमारे अंदर नहीं रहता, बल्कि हमारे चारों ओर रहता है (अभितो वर्त्तते), क्योंकि यह केवल वह ब्रह्म-चैतन्य नहीं है जो हमारे अंदर गुप्त रूपसे रहता है, बल्कि यह वह ब्रह्म-चैतन्य है जिसमें हम सब रहते हैं। यह वह आत्मा है जो हम अपने अंतः स्वरूपमें हैं—हमारी व्यष्टि-सत्ताका परम आत्मा; पर साथ ही यह वह आत्मा भी है जो हम बाह्य रूपमें हैं, यह समस्त विश्व-ब्रह्मांडका परम आत्मा है, सब भूतोंका आत्मा है। इस आत्मामें रहते हुए हम सबके अंदर रहते हैं, और अब केवल अपनी अहंभावापन्न पृथक् सत्तामें ही नहीं रहते; इस आत्माके साथ एकत्व लाभ करनेसे जगत्में जो-जो कुछ है उसके साथ निरंतर एकत्व हमारी सत्ताका स्वभाव, हमारे क्रियाशील चैतन्यका मूल पद और हमारे सब कर्मोंका मूल प्रेरक-भाव बन जाता है।

परंतु इसके बाद ही फिर दो श्लोक ऐसे आते हैं जो इस निर्णयमें बाधकसे प्रतीत होते हैं। "बाह्य स्पर्शोंको अपने अंदरसे बाहर करके, भ्रूमध्यमें अपनी दृष्टिको स्थिर करके और नासाभ्यंतरचारी प्राण तथा अपानको सम करके, इंद्रिय मन और बुद्धिको वशमें किये हुआ मोक्ष-परायण मुनि, जिसके काम क्रोध भय दूर हो गये हैं, सदा ही मुक्त रहता है।" यहां इस योग-प्रणालीमें एक दूसरी ही बात आती है जो कर्म-योगसे भिन्न है और उस विशुद्ध ज्ञानयोगसे भी भिन्न है जो विवेक और ध्यानसे साधित होता है; इसके सब विशिष्ट लक्षण कायिक-मानसिक तपःसाध्य राजयोगके लक्षण हैं। चित्तवृत्तिनिरोध, प्राणायाम, प्रत्याहार

आदिका ही यह वर्णन है। ये सब मनःसमाधिकी ओर ले जानेवाली प्रक्रियाएं हैं, इन सबका लक्ष्य मोक्ष है और सामान्य व्यवहारकी भाषामें मोक्ष कहते हैं केवल पृथक्कारी अहं-चैतन्यके ही त्यागको नहीं, बल्कि संपूर्ण कर्म-चैतन्यके त्यागको, परब्रह्ममें अपनी सत्ताके संपूर्ण अस्तित्वको लय कर देनेको। तब क्या हम यह समझें कि गीताने यहां इसका विधान इस अभिप्रायसे किया है कि इसी लयको मुक्तिका चरम उपाय मानकर ग्रहण किया जाय या इस अभिप्रायसे कि यह बहिर्मुख मनको वशमें करनेका केवल एक विशेष उपाय या शक्तिशाली साधनमात्र है? क्या यही आखिरी बात, परम वचन या महावाक्य है? हम इसे दोनों ही मान सकते हैं, एक विशेष उपाय, एक विशिष्ट साधन भी और चरम गतिका अंततः एक द्वार भी; इस चरम गतिका साधन अवश्य ही लय हो जाना नहीं है बल्कि एक विश्वातीत सत्तामें ऊपर उठ जाना है। कारण यहां इस श्लोकमें भी जो कुछ कहा गया है वह आखिरी बात नहीं है; महावाक्य, आखिरी बात, परम वचन तो इसके बादके श्लोकमें आता है जो इस अध्यायका अंतिम श्लोक है। वह श्लोक है—"भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्। सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ गी० ५-२९ ॥" अर्थात् "जब मनुष्य मुझे सब यज्ञों और तपोंका भोक्ता, सब लोकोंका महेश्वर, सब प्राणियोंका सुहृद् जानता है तब वह शांतिको प्राप्त होता है।" यहां कर्मयोगकी शक्ति ही फिरसे आ जाती है; यहां इस बातपर आग्रह किया गया है कि ब्रह्मनिर्वाणकी शांतिके लिये यह आवश्यक है कि जीवको सक्रिय ब्रह्मका, विराट् पुरुषका ज्ञान भी हो।

गीताका परम प्रतिपाद्य विषय, पुरुषोत्तमकी भावना यहां फिर सामने आती है। यह नाम आया तो है गीताके उपसंहारके ही कुछ पहले, तथापि गीतामें आदिसे अंततक जहां-जहां श्रीकृष्ण "अहं,"

"माम्" इत्यादि पदोंका प्रयोग करते हैं वहां-वहां उनका अभि
उन्हीं भगवान्से है जो हमारी कालातीत अक्षर सत्तामें हमारे एकमे
द्वितीय आत्मस्वरूप हैं, जो जगत्में भी अवस्थित हैं, सब भूतोंमें
कर्मोंमें विद्यमान् हैं, जो निश्चल-नीरवता और शांतिके अधीश्वर हैं,
शक्ति और कर्मके स्वामी हैं, जो इस महायुद्धमें पार्थसारथीरूपसे अवत
हैं, जो परात्पर पुरुष हैं, परमात्मा हैं, सर्वमिदं हैं, प्रत्येक जीवके ई
हैं। सब यज्ञों और तपोंके वे भोक्ता हैं, इसलिये मुक्तिकामी पुरुष
कर्मोंको यज्ञ और तपरूपसे करे ; वे सर्वलोकमहेश्वर हैं, और इस प्रकृ
तथा सब प्राणियोंमें प्रकट हैं, इसलिये मुक्त पुरुष मुक्त होनेपर भी, लो
संग्रहार्थ कर्म करे, अर्थात् जगत्में ये जो लोग हैं इनका समुचित नियं
करे और इन्हें सन्मार्ग दिखावे; वे सबके सुहृद हैं, इसलिये वही मु
है जिसने अपने अंदर और अपनी चारों ओर (अभितः) निर्वाण ल
किया है, फिर भी सब भूतोंके कल्याणमें सदा रत रहता है—
बौद्धोंके महायान पंथमें भी निर्वाणका परम लक्षण जगतके सब प्राणियों
प्रति करुणामय कर्म ही समझा जाता है। इसीलिये अपने कालातीत अ
आत्मस्वरूपमें भगवान्के साथ एक होनेपर भी वह मनुष्यसे दिव्य प्रे
कर सकता है क्योंकि उसके अंदर प्रकृतिकी क्रीड़ाके संबंध भी समा
हैं, और साथ ही भगवान्की भक्ति भी कर सकता है।

गीताके इन श्लोकोंका यही तात्पर्य है, यह बात छठे अध्याय
आशयकी तहमें पहुंचनेपर और भी अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है।
अध्यायमें पांचवें अध्यायके इन्हीं अंतिम श्लोकोंके भावका विशदीक
और पूर्ण विकास किया गया है—और इससे यह पता चलता है कि गी
इन श्लोकोंको कितना महत्त्व देती है। इसलिये अब हम लोग इ
छठे अध्यायके सार-मर्मका अति संक्षिप्त रूपसे पर्यवेक्षण करेंगे। स

पहले भगवान् गुरु अपनी बारबार दोहरायी गयी संन्यासके मूलतत्त्वकी घोषणापर जोर देते और उस बातको फिरसे कहते हैं कि असली संन्यास आंतरिक है न कि बाह्य। "जो कोई कर्मफलका आश्रय किये बिना कर्तव्य कर्म करता है वही संन्यासी है, वही योगी है, वह नहीं जो निरग्नि हो और जो अक्रिय हो। जिसे लोग संन्यास कहते हैं उसे तू योग समझ; क्योंकि जिसने अपने मनके वासनामूलक संकल्पोंका त्याग नहीं किया वह योगी नहीं हो सकता।" कर्म करने होंगे, पर किस उद्देश्यसे, किस क्रमसे? पहले योग-पर्वतकी चढ़ाई चढ़ते हुए करने होंगे, क्योंकि वहां कर्म 'कारण' हैं। कारण किसके? आत्मसंसिद्धिके, मुक्तिके, ब्रह्म-निर्वाणके; क्योंकि आंतरिक संन्यासके निरंतर अभ्यासके साथ कर्म करनेसे यह संसिद्धि, यह मुक्ति, वासनात्मक मन और आरुरुक्षुकी जीवदशा और निम्न प्रकृतिपर यह विजय अनायास प्राप्त होती है।

पर जब कोई चोटीपर पहुंच जाता है तब? तब कर्म कारण नहीं रह जाते, कर्मके द्वारा आत्मवशित्व और आत्मवत्ताकी जो शांति प्राप्त होती है, वही यहां कारण बनती है। कारण किस चीजकी? आत्म-स्वरूपमें, ब्रह्मचैतन्यमें स्थित बने रहने और उस पूर्ण समत्वको बनाये रखनेका कारण बनती है जिसमें स्थित रहते हुए मुक्त पुरुषके दिव्य कर्म होते हैं। कारण, "जब कोई इंद्रियोंके अर्थोंमें और कर्मोंमें आसक्त नहीं होता और मनके सब वासनात्मक संकल्पोंको त्याग चुका होता है तब उसे योग शिखरपर आरूढ़ कहते हैं।" इसी भावके साथ ही, हम यह जान चुके हैं कि, मुक्त पुरुषके सब कर्म होते हैं; वह कर्मोंको कामना-रहित, आसक्तिरहित होकर करता है, उसमें कोई अहंभावापन्न व्यक्तिगत इच्छा नहीं होती, वासनाका जनक जो मनोगत स्वार्थ है वह उसमें नहीं होता। उसका निम्नतर आत्मा उसके वशमें होता है, वह उस

परा शांतिको पहुंचा हुआ होता है जहां उसका परम आत्मा उसके सामने प्रकट रहता है—वह परम आत्मा जो सदा अपनी ही सत्तामें 'समाहित' है, समाधिस्थ है; केवल अपनी चेतनाकी अंतर्मुखीन अवस्थामें ही नहीं बल्कि सदा ही, मनकी जाग्रत अवस्थामें भी, जब वासना और अशांतिके कारण मौजूद हों तब भी, शीतोष्ण सुखदुःख तथा मानापमानादि द्वंद्वोंके प्रत्यक्ष प्रसंगोंमें भी (शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः)। यह उच्चतर आत्मा कूटस्थ अक्षर पुरुष है जो प्राकृत पुरुषके सब प्रकारके परिवर्तनों और विक्षोभोंके ऊपर रहता है; और योगी उसके साथ योग-युक्त तब कहा जाता है जब वह भी उसके समान कूटस्थ होता, जब वह सब प्रकारके बाह्य दृश्यों और परिवर्तनोंके ऊपर उठ जाता है, जब वह आत्मज्ञानसे परितृप्त हो जाता है और जब वह सब पदार्थों, घटनाओं और व्यक्तियोंके प्रति समचित्त हो जाता है।

परंतु इस योगको प्राप्त करना कोई सुगम बात नहीं है, जैसा कि अर्जुन वास्तवमें आगे चलकर सूचित करता है, क्योंकि यह चंचल मन सदा ही बाह्य पदार्थोंके आक्रमणोंके कारण इस उच्च अवस्थासे नीचे खिंच आता और फिरसे शोक आवेश और वैषम्यके जोरदार कब्जेमें पड़ जाता है। इसीलिये, ऐसा मालूम होता है कि, गीतामें ज्ञान और कर्मकी अपनी साधारण पद्धतिके साथ-साथ राजयोगकी विशिष्ट ध्यान-प्रक्रिया भी बतायी गयी है, जो एक शक्तिशाली अभ्यास है, मन और उसकी सब वृत्तियोंके पूर्ण निरोधका एक बलवान् साधन है। इस प्रक्रियामें यह बतलाया गया है कि, योगी आत्मासे युक्त रहनेका सतत अभ्यास करे, जिससे कि अभ्यास करते-करते यह अवस्था उसकी साधारण चेतना बन जाय। उसे काम-क्रोधादि सब विकारोंको मनसे निकालकर सबसे अलग किसी एकांत स्थानमें जाकर बैठ जाना होगा और अपनी समग्र

सत्ता और चेतनापर आत्म-वशित्व ले आना होगा—" वह शुचिदेशमें अपना स्थिर आसन लगावे, आसन बहुत ऊंचा न हो न बहुत नीचा हो, और वह कुशाका हो, उसपर मृगचर्म और मृगचर्मके ऊपर वस्त्र बिछा हो और ऐसे आसनपर बैठकर मनको एकाग्र तथा मन और इंद्रियोंकी सब वृत्तियोंको वशमें कर आत्मविशुद्धिके लिये योगाभ्यास करे।" वह ऐसा आसन जमावे कि उसका शरीर अचल और सीधा तना रहे जैसा कि राजयोगके अभ्यासमें बताया गया है; उसकी दृष्टि एकाग्र हो जाय और भ्रूमध्यमें स्थिर रहे, "दिशाओंकी ओर दृष्टि न जाय।" मनको स्थिर और निर्भय रखे और ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करे; इस प्रकार संयत समग्र चित्तवृत्तिको भगवान्‌में ऐसे लगावे कि चैतन्यकी निम्नतर क्रिया उच्चतर शांतिमें निमज्जित हो जाय। कारण इस साधनाका लक्ष्य निर्वाणकी निष्क्रिय शांतिको प्राप्त होना है। "इस प्रकार नियतमानस होकर सतत योगमें लगा हुआ योगी निर्वाणकी उस परम शांतिको प्राप्त होता है जिसकी नींव मेरे अंदर है (शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति)।"

निर्वाणकी यह परम शांति तब प्राप्त होती है जब चित्त पूर्णतया संयत और कामनामुक्त होकर आत्मामें स्थित रहता है, जब वह निर्वात स्थानमें स्थित दीपशिखाके समान अचल होकर अपने चंचल कर्म करना बंद कर देता, अपनी बहिर्मुख वृत्तियोंसे खिंचा हुआ रहता है और जब मनके निश्चल नीरव हो जानेके कारण अंतरमें आत्माका दर्शन होने लगता है, मनमें आत्माका विकृत भान नहीं, बल्कि आत्मामें ही आत्माका साक्षात्कार होता है, मनके द्वारा अयथार्थ या आंशिक रूपमें नहीं, अहंकार-से होकर प्रतिभात होनेवाले रूपमें नहीं, बल्कि स्वप्रकाशरूपमें। तब जीव तृप्त होता और अपने वास्तविक परमसुखको अनुभव करता है, वह अशांत सुख नहीं जो मन और इंद्रियोंको प्राप्त है, बल्कि वह आंतरिक

और प्रशांत आनंद जिसमें मनका कोई विक्षोभ नहीं, जिसमें स्थित होनेपर पुरुष अपनी सत्ताके आध्यात्मिक सत्यसे कभी च्युत नहीं होता। मानसिक दुःखका अति प्रचंड आक्रमण भी उसे विचलित नहीं कर सकता; कारण मानसिक दुःख हमारे पास बाहरसे आता है, वह बाह्य स्पर्शोंकी प्रतिक्रियाओंका ही फल होता है और यह है उन लोगोंका आंतरिक स्वतः-सिद्ध आनंद जिन्हें बाह्य स्पर्शोंकी चंचल मानस-प्रतिक्रियाओंका दासत्व अब गवारा नहीं है। यह दुःखके साथ संबंध विच्छेद कर लेना है, मनका उसे तलाक दे देना है (दुःख-संयोग-वियोगम्)। इसी अविच्छेद्य आध्यात्मिक आनंदकी सुदृढ़ प्राप्तिका नाम ही योग, अर्थात् भगवान्से ऐक्य है; यही लाभोंमें सबसे बड़ा लाभ है, यह वह धन है जिसके सामने अन्य सब संपत्तियोंका कोई मूल्य नहीं रह जाता। इसलिये पूर्ण निश्चयके साथ, कठिनाई या विफलता जिस हतोत्साहको ले आते हैं उसके अधीन हुए बिना इस योगको तबतक किये जाना चाहिये जबतक मुक्ति न मिले, ब्रह्मनिर्वाणका आनंद सदाके लिये प्राप्त न हो जाय।

यहां मुख्यतया चित्तके, काममूलक मनके और इंद्रियोंके निरोध-पर ही जोर है, क्योंकि ये ही बाह्य स्पर्शोंको ग्रहण करते और हमारी अभ्यस्त भावावेगमय प्रतिक्रियाओंके द्वारा उनका प्रत्युत्तर देते हैं; परंतु इसके साथ ही मानसिक विचारको भी स्वतःस्थित आत्म-सत्ताकी शांतिमें ले जाकर निश्चेष्ट करना होगा। पहले सब कामनाओंको, जो वासना-मूलक संकल्पसे उठती हैं, एकदम त्याग देना होगा और मनके द्वारा इंद्रियोंको इतना वशमें कर लेना होगा कि वे अपनी हमेशाकी अव्यवस्थित और चंचल आदतके कारण चारों ओर दौड़ती न फिरा करें; परंतु इसके बाद मनको ही बुद्धिसे पकड़कर अंतर्मुख करना होगा। धृतिसे गृहीत बुद्धिके द्वारा मानस कर्म करना धीरे-धीरे बंद कर देना होगा और

मनको आत्मामें स्थित करके किसी बारेमें कुछ भी न सोचना होगा। जब-जब चंचल अस्थिर मन निकल भागे तब-तब उसका नियमन करके उसे पकड़कर आत्माके अधीन ले आना होगा। जब मन पूर्ण रूपसे शांत हो जाता है तब योगीको ब्रह्मभूत आत्माका उच्चतम, निष्कलंक, निर्विकार परमानंद प्राप्त होता है। "इस प्रकार विगतकल्मष होकर और योगमें लगे रहकर योगी अनायास और सुखपूर्वक ब्रह्मसंस्पर्शरूप आत्यंतिक आनंदको प्राप्त होता है।"

फिर भी, जबतक यह शरीर है तबतक इस अवस्थाका फल निर्वाण नहीं है, क्योंकि निर्वाण संसारमें कर्म करनेकी हर एक संभावनाको, संसारके प्राणियोंके साथ हर एक संबंधको दूर कर देता है। पहले तो यही मालूम होता है कि यह निर्वाण ही होना चाहिये। कारण जब सब वासनाएं और सब विकार बंद हो गये, जब मनको विचार करनेकी अब इजाजत नहीं रही, जब इसी मौन और ऐकांतिक योगका अभ्यास ही नियम हो गया, तब कर्म करना, बाह्य संस्पर्शोंवाले इस जगत् और अनित्य संसारसे किसी प्रकारका संबंध रखना संभव ही कहां? निःसंदेह योगी फिर भी कुछ कालतक इस शरीरमें रहेगा, पर अब तो गिरि-गुहा, जंगल या पर्वतशिखरपर ही उसके रहनेकी जगह होगी और सतत बाह्य चेतनाशून्य समाधि ही उसकी एकमात्र सुखस्थिति और जीवनचर्या होगी। परंतु पहली बात तो यह है कि गीता यह नहीं कहती कि जब इस ऐकांतिक योगका अभ्यास किया जाय तब अन्य सब कर्मोंका त्याग कर देना होगा। यह योग, गीता कहती है कि, उस मनुष्यके लिये नहीं है जो आहार, विहार, निद्रा और कर्म छोड़ दे न उसके लिये है जो इन सब चीजोंमें बेहद रमा करे; बल्कि निद्रा, जागरण, आहार, विहार और कर्म-प्रयास सब 'युक्त' होना चाहिये। इसका अर्थ प्रायः यह

लगाया जाता है कि यह सब परिमित, नियमित और उपयुक्त मात्रामें होना चाहिये, और इसका यह आशय हो भी सकता है। परंतु जो भी हो, जब योग प्राप्त हो चुका हो तब इस सबको एक दूसरे ही अर्थमें 'युक्त' होना होगा, उस अर्थमें जो इस शब्दका साधारण अर्थ है और जिस अर्थमें ही यह शब्द गीताके अन्य सब स्थानोंमें व्यवहृत हुआ है। खाते-पीते, सोते-जागते और कर्म करते, अर्थात् सब अवस्थाओंमें योगी तब भगवान्के साथ 'युक्त' रहेगा और वह जो कुछ करेगा वह भगवान्को ही अपना आत्मा और सर्वमिदं तथा अपने जीवन और कर्मका आश्रय तथा आधार जानकर करेगा। वासना-कामना, अहंकार, व्यक्तिगत संकल्प और मनके विचार केवल निम्न प्रकृतिमें ही कर्मके प्रेरक होते हैं; परंतु जब अहंकार नष्ट हो जाता और योगी ब्रह्म हो जाता है, जब वह परात्पर चैतन्य और विश्व-चैतन्यमें ही रहता और स्वयं वही बन भी जाता है, तब कर्म उसीमेंसे स्वतः निकलता है, उसीमेंसे वह ज्योतिर्मय ज्ञान निकलता है जो मनके विचारसे ऊपरकी चीज है, उसीमेंसे वह शक्ति निकलती है, जो व्यक्तिगत संकल्पसे विलक्षण और बहुत अधिक बलवती है और जो उसके लिये कर्म करती और उसके फलको लाती है; व्यक्तिगत कर्म फिर नहीं रह जाता, सब कर्म ब्रह्ममें ले लिया जाता और भगवान्के द्वारा धारण कर लिया जाता है (मयि संन्यस्य कर्माणि)।

कारण इस आत्म-साक्षात्कार और पृथक्कारी अहंभावापन्न मन और उसके विचार अनुभव और कर्मके प्रेरक-भावको ब्राह्मी चेतनामें निर्वाण करनेसे योगका जो फल *प्राप्त होता है, इस विषयका जो गीताका वर्णन है उसके अंदर विश्वचैतन्यका समावेश है, यद्यपि यहां उसे एक नवीन ज्ञानालोकमें उठा लिया गया है। "जिस पुरुषका आत्मा योग-

* योगक्षेमं वहाम्यहम्।

युक्त है वह आत्माको सब भूतोंमें देखता और सब भूतोंको आत्मामें देखता है, वह सर्वत्र समदर्शी होता है।" जो कुछ भी वह देखता है उसके लिये वह आत्मा है, सब कुछ उसका आत्मा है, सब भगवान् है। परंतु यदि वह क्षरकी क्षरतामें रहे तो क्या यह खतरा नहीं है कि वह इस कठिन योगके समस्त फलोंको खो दे, वह आत्माको खो दे और फिरसे मनके अंदर जा गिरे, भगवान् उसको खो दें और वह जगत्का हो जाय तथा वह भी भगवान्को खो दे और उनकी जगह फिरसे पावे अहंकारको तथा निम्नप्रकृतिको? गीता उत्तर देती है कि नहीं, "जो मुझे सर्वत्र देखता है और सब कुछ मेरे अंदर देखता है वह मुझसे खो नहीं जाता न मैं उससे खो जाता हूं।" क्योंकि निर्वाणकी यह परम शांति यद्यपि अक्षरसे प्राप्त होती है, पर है वह पुरुषोत्तमकी सत्तापर ही प्रतिष्ठित (मत्संस्थाम्) और यह सत्ता व्यापक है; भगवान्, ब्रह्म, प्राणियोंके इस जगत्में भी परिव्याप्त हैं और यद्यपि वे इस जगत्के अतीत हैं, किंतु वे अपनी अतीतावस्थासे बंधे हुए नहीं हैं। मनुष्यको सब कुछको भगवद्रूप देखना होगा और इसी साक्षात्कार-में निवास करना और इसी भावके साथ कर्म करना होगा; यही योगका परम फल है।

पर कर्म क्यों करना? क्या यह अधिक निरापद नहीं है कि अपने एकांतमें बैठा रहे और यदि इच्छा हो तो जगत्की ओर एक निगाह देख भी ले, देखे उसे ब्रह्ममें, भगवान्में, पर उसमें कोई भाग न ले, उसमें चले-फिरे नहीं, उसमें रहे नहीं, उसमें कर्म न करे और साधारणतया अपनी आंतरिक समाधिमें ही रहे? इस उच्चतम आध्यात्मिक अवस्थाका क्या यही धर्म, यही विधान, यही नियम नहीं होना चाहिये? गीता फिर कहती है कि नहीं, मुक्त योगीके लिये एकमात्र धर्म, एकमात्र विधान, एकमात्र नियम तो बस यही है कि वह भगवान्में रहे, भगवान्से प्रेम करे और सब

प्राणियोंके साथ एक हो जाय; उसका जो स्वातंत्र्य है वह निरपेक्ष है, किसी अन्यका आश्रित नहीं, वह स्वतःसिद्ध है, किसी आचार, धर्म या मर्यादासे बंधा नहीं। योगकी किसी साधनासे अब उसका कुछ प्रयोजन नहीं, क्योंकि वह अब सतत योगमें ही स्थित है। भगवान् कहते हैं, "जो योगी एकत्वमें स्थित है और सब भूतमें मुझको भजता है, वह चाहे जैसे और सब प्रकारसे रहता और कर्म करता हुआ भी मुझमें ही रहता और कर्म करता है।" संसार-प्रेम तब आध्यात्मिक प्रेममें परिवर्तित होकर इंद्रियानुभवसे आत्मानुभव हो जाता है और वह ईश्वर-प्रेमकी नींवपर प्रतिष्ठित रहता है और तब उस प्रेममें कोई भय, कोई दोष नहीं होता। निम्न प्रकृतिसे पीछे हटनेके लिये संसारसे भय और जुगुप्सा प्रायः आवश्यक हो सकते हैं, क्योंकि वास्तवमें यह हमारा अपने अहंकारसे ही भीत और जुगुप्सित होना है जो अपने-आप जाकर जगत्में प्रतिबिंबित होता है। परंतु ईश्वरको जगत्में देखना निर्भय होना है, यह सब कुछका ईश्वरकी सत्तामें आलिंगन करना है; सब कुछ भगवद्रूपमें देखना है, किसी पदार्थका तिरस्कार करना या किसीसे घृणा करना नहीं, बल्कि जगत्में भगवान्से और भगवान्में जगत्से प्रेम करना है।

परंतु कम-से-कम निम्न प्रकृतिके उन विषयोंका तो परिहार करना और उनसे डरना होगा ही जिनसे ऊपर उठनेके लिये योगीने इतनी कड़ी साधना की? नहीं, यह भी नहीं; आत्मदर्शनकी समतामें सब कुछका आलिंगन किया जाता है। भगवान् कहते हैं, "हे अर्जुन, जो कोई सब कुछको आत्माकी ही तरह समभावसे देखता है चाहे वह दुःख हो या सुख, उसे मैं परम योगी मानता हूं।" और इससे यह अभिप्रेत नहीं है कि योगी स्वयं ही, दूसरोंके दुःखमें ही क्यों न हो, अपने दुःखरहित आत्मानंदसे गिर जायगा और फिरसे सांसारिक दुःख अनुभव करेगा,

बल्कि यह कि दूसरोंके अंदर उन द्वंद्वोंके खेलको निहारकर, जिन्हें वह स्वयं छोड़कर उनसे ऊपर उठ चुका है, वह अब भी देखेगा सब कुछ आत्मवत्, सबमें अपने आत्माको, सबमें ईश्वरको और इन चीजोंके बाह्य रूपोंसे क्षुब्ध या मुग्ध न होकर केवल करुणासे उनकी मदद करने उनका दुःख दूर करने, सब प्राणियोंके कल्याणमें अपने-आपको लगानेमें, लोगोंको आध्यात्मिक आनंदकी ओर ले जानेमें, जगत्को भगवान्की ओर अग्रसर करनेके काममें प्रवृत्त होकर जितने दिन उसे इस जगत्में जीना है उतने दिन वह अपने जीवनको दिव्य जीवन बनाकर रहेगा। जो भगवत्प्रेमी ऐसा कर सकता है, इस प्रकार सब कुछका भगवान्के अंदर आलिंगन कर सकता है, निम्न प्रकृति और त्रिगुणात्मिका मायाके सब कर्मोंकी ओर स्थिर होकर देख सकता और बिना क्षुब्ध हुए तथा आध्यात्मिक ऐक्यकी ऊंचाईसे मुग्ध या च्युत हुए, भगवान्की अपनी दृष्टिकी विशालतामें स्वतंत्र भावसे रहते हुए, भागवत प्रकृतिकी शक्तिसे मधुर, महान् और प्रकाशमय होकर उन कर्मोंके अंदर और उन कर्मोंपर क्रिया कर सकता है, उसको निःसंकोच परम योगी कहा जा सकता है। यथार्थमें उसीने सृष्टिको जीता है (जितः सर्गः)।

गीताने जैसे सर्वत्र वैसे ही यहां भी भक्तिको ही योगकी पराकाष्ठा कहा है, "सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः"। गीताकी शिक्षाका यही संपूर्ण सार-सर्वस्व कहा जा सकता है—जो कोई सबमें स्थित भगवान्से प्रेम करता है और जिसका आत्मा भगवदैक्यभावमें प्रतिष्ठित है, वह चाहे कैसे भी रहता और कर्म करता हो, पर भगवान्में ही रहता और कर्म करता है। और जब अर्जुनने प्रश्न किया कि ऐसा कठिन योग मनुष्यके चंचल मनके लिये कैसे संभव हो सकता है तब भगवान् गुरु उसी बातपर विशेष जोर देनेके लिये उसीका प्रसंग फिरसे चलाते

हैं और अंतमें यही कहते हैं, "योगी तपस्वीसे श्रेष्ठ है, ज्ञानीसे श्रेष्ठ है, कर्मीसे श्रेष्ठ है; इसलिये हे अर्जुन, तू योगी बन।" योगी वह जो कर्मसे, ज्ञानसे, तपसे अथवा और चाहे जिस तरहसे केवल आत्मज्ञानके लिये आत्मज्ञान, केवल शक्तिके लिये शक्ति या केवल किसी चीजके लिये कोई चीज नहीं बल्कि एक भगवान्के साथ ऐक्य ही ढूंढ़ता और पाता है; उसी ऐक्यमें और सब कुछ आ जाता तथा सब कुछ अपने रूपसे ऊपर उठकर परम भागवत अर्थको प्राप्त हो जाता है। परंतु योगियोंमें भी भक्त ही सबसे श्रेष्ठ होता है। "सब योगियोंमें वह योगी जो अपने अंतरात्माको मुझे सौंप देता और श्रद्धा और प्रीतिसे मेरा भजन करता है, उसे मैं अपने साथ योगमें सबसे अधिक युक्त समझता हूं।" गीताके प्रथम षट्कका यही अंतिम वचन है और इसीमें बाकी जो कुछ अभी नहीं कहा गया है और जो कहीं भी पूर्णतया नहीं कहा गया है उसका बीज मौजूद है। परम आध्यात्मिक रहस्य और भागवत रहस्य सदा रहस्य ही है और उसका कुछ-न-कुछ रहस्य सदा बना ही रहता है।

---

# कर्मयोगका सारतत्त्व

गीताके प्रथम छः अध्यायोंमें गीताकी शिक्षा एक तरहसे मूलरूपमें आ गयी है, बाकीके बारह अध्यायोंमें इस प्रथम षट्कमें जो कुछ संकेत-रूपसे और अधूरे तौरपर कहा गया है उसीको विशद किया गया है, पर ये संकेत इतने अधिक महत्त्वपूर्ण हैं कि इनका खुलासा बाकीके दो षट्कोंमें करना पड़ा है। गीता-ग्रंथ यदि एक ऐसा लिखित शास्त्र न होता जिसे संपूर्ण करना ही होगा, यदि यह ग्रंथ वास्तवमें किसी शिष्यको दिया हुआ किसी जीवित गुरुका उपदेश होता, जिस उपदेशको शिष्य जब आगेके सत्यको ग्रहण करनेके लिये तैयार हो जाय तब यथा समय फिरसे आरंभ किया जा सकता हो तब तो यह धारणा बांधी जा सकती थी कि इस छठे अध्यायके अंतमें गुरु यहीं रुक जाते और शिष्यसे कहते कि "पहले इसे अपने आचरणमें ले आ, यहांतक जो कुछ कहा गया है उसे अनुभवमें ले आनेके लिये तुझे अभी बहुत कुछ करना है और तुझे इसके लिये अत्यंत विशाल आधार-क्षेत्र दे दिया गया है, आगे जैसे-जैसे जो कठिनाइयां उत्पन्न होंगी वे आप ही हल होती जायंगी या मैं उन्हें तेरे लिये हल कर दूंगा। अभी तो जो कुछ मैंने कहा है इसीको अपने जीवनमें ले आ; इसीके भावमें स्थिर होकर कर्म कर।" अवश्य ही इसमें बहुतसी ऐसी बातें हैं जो आगे इनपर जो कुछ कहा जायगा

उसके बिना ठीक तरहसे समझमें नही आ सकतीं। प्रथम षट्कमें ही उपस्थित होनेवाली कुछ शंकाओंका समाधान करनेके लिये तथा अन्यथा उत्पन्न होनेवाले भ्रमको दूर करनेके लिये, स्वयं मुझे भी बहुतसी बातें पहले ही कह देनी पड़ी हैं, उदाहरणार्थ पुरुषोत्तम-तत्त्वकी भावनाको पहले ही बारबार कहना पड़ा है क्योंकि ऐसा किये बिना आत्मा और कर्म और कर्मके अधीश्वर भगवान्‌के बारेमें जो कुछ अस्पष्टता है वह दूर नहीं हो सकती थी। गीताने इन बातोंको जान-बूझकर ही प्रथम षट्कमें विशद इसलिये नहीं किया है कि जो बातें मानव-शिष्यकी अभीकी बुद्धिके लिये बहुत बड़ी हैं उन्हें उसकी अपरिपक्व दशामें पहले ही कह देना उसकी प्राथमिक साधनाकी दृढ़ताको विचलित कर सकता है।

गुरु यदि अपना उपदेश यहीं समाप्त कर देते तो अर्जुन स्वयं ही यह शंका भली प्रकारसे उपस्थित कर सकता था कि, "आपने काम और संगका नाश, समत्व, इंद्रियोंका दमन और मनका शमन, निष्काम निरहंकार कर्म, कर्मोंका यज्ञरूपसे उत्सर्ग, बाह्य संन्याससे आंतर संन्यासका श्रेष्ठत्व, इन सबके बारेमें तो बहुत कुछ कहा और मैं इन सब बातोंको विचारसे तो समझता हूं, चाहे आचारमें इन्हें ले आना मुझे कितना ही कठिन मालूम होता हो। परंतु आपने कर्म करते हुए गुणोंके ऊपर उठनेकी बात भी कही है और यह नहीं बताया कि गुण कैसे कार्य करते हैं, और जबतक मैं यह न जान लूं तबतक गुणोंका पता लगाना और उनके ऊपर उठना मेरे लिये कठिन होगा। इसके अतिरिक्त आपने यह भी कहा है कि योगका सबसे प्रधान अंग भक्ति है, फिर भी आपने कर्म और ज्ञानकी तो खूब प्रशंसा की है, पर भक्तिके बारेमें प्रायः कुछ भी नहीं कहा। और फिर यह भक्ति, जो सबसे बड़ी चीज है, किसको अर्पण की जायगी? अवश्य ही शांत निर्गुण ब्रह्मको नहीं, बल्कि आपको, ईश्वरको। इसलिये

अब आप मुझे यह बताइये कि आप क्या हैं, कौन हैं, क्योंकि जैसे भक्ति इस आत्मज्ञानसे भी बड़ी चीज है वैसे ही आप उस अक्षर ब्रह्मसे बड़े हैं जो अक्षर ब्रह्म क्षर प्रकृति और कर्ममय संसारसे वैसे ही बड़ा है जैसे ज्ञान कर्मसे बड़ा है। इन तीनों वस्तुओंमें परस्पर क्या संबंध है? कर्म, ज्ञान और भगवद्भक्तिमें परस्पर क्या संबंध है? प्रकृतिस्थ पुरुष, अक्षर पुरुष और वह जो सबका अव्यय आत्मा होनेके साथ-साथ समस्त ज्ञान, भक्ति और कर्मका प्रभु है, परमेश्वर है, जो यहां इस महायुद्ध और भीषण रक्तपातमें मेरे साथ है, इस घोर भयानक कर्मके रथमें मेरा सारथी है इन तीनोंमें परस्पर क्या संबंध है?" इन्हीं प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये गीताके शेष अध्याय लिखे गये हैं और विचारद्वारा इनकी पूर्ण मीमांसा जहां अभिप्रेत है वहां तुरत ही इनका विचार और समाधान करना ही होगा। परंतु प्रकृत साधन-क्षेत्रमें क्रम-क्रमसे ही आगे बढ़ना होता है और बहुतसी बातोंको, यहांतक कि बड़ी-से-बड़ी बातोंको भी पीछे अपने समयसे आप ही आने और यथाप्राप्त आध्यात्मिक अनुभवसे आप ही सुलझने देनेके लिये छोड़ रखना पड़ता है। एक हदतक गीताने अनुभवकी इस वर्त्तुल गतिका अनुसरण किया है और पहले कर्म और ज्ञानकी एक विशाल प्राथमिक भित्ति निर्माण कर उसमें एक ऐसी चीज रख दी है जो भक्तितक और महत्तर ज्ञानकी ओर ले जाती है, पर अभी वहांतक पहुंची नहीं है। प्रथम छः अध्याय हमें इसी भित्तिपर ला छोड़ते हैं।

अब यहांपर हम लोग जरा रुक जायं और इस बातपर विचार करें कि जिस मूल प्रश्नको लेकर गीताका उपक्रम हुआ उसका समाधान इन अध्यायोंमें कहांतक हुआ है। यहां फिर यह कह देना अच्छा रहेगा कि स्वयं प्रश्नमें कोई ऐसी बात नहीं थी जिसके लिये संपूर्ण विश्वके स्वरूपका और सामान्य जीवनके स्थानमें आध्यात्मिक जीवनकी प्रतिष्ठाका विचार

आवश्यक ही होता। उपस्थित प्रश्नका विचार व्यावहारिक या नैतिक रूपसे या बौद्धिक दृष्टिसे अथवा आदर्शवादकी दृष्टिसे या इन सब दृष्टियोंसे एक साथ ही किया जा सकता था; और यदि ऐसा किया जाता तो यह प्रश्नका विचार करनेकी जो आधुनिक पद्धति है उसके अनुकूल ही पड़ता। यह प्रश्न अपने-आपमें तो सबसे पहले यही सवाल उपस्थित करता है कि अर्जुन किस विधानके द्वारा अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निर्द्धारण करे? क्या वह नैतिक भावनाके अनुसार चले और समझे कि जनसंहार तो पाप ही है अथवा क्या वह अपने सार्वजनिक और सामाजिक कर्त्तव्यकी भावनाके अनुसार चले—और यह भी उसी तरहकी एक नैतिक भावना ही है—न्यायकी रक्षा करे तथा वह करे जो सभी महान् स्वभाववाले मनुष्योंसे उनकी विवेक बुद्धि आशा रखती है, अर्थात् अन्याय और अत्याचारका पक्ष लेनेवाले सशस्त्र बलका विरोध करे? यही प्रश्न इस समय, इस घड़ी हम लोगोंके सामने भी उठा है और इसका समाधान हम लोग अनेकानेक प्रकारोंसे कर सकते हैं और कर ही रहे हैं, किंतु ये सब समाधान होंगे हमारे साधारण जीवन और हमारे साधारण मानव-मनके दृष्टिबिंदुसे ही। यह कहा जा सकता है कि यह एक ऐसा सवाल है जिसमें परस्पर-भिन्न दृष्टिकोण उपस्थित होते हैं, जैसे कि हम अपनी विवेक-बुद्धिकी आवाज सुनें या समाज और राज्यके प्रति हमारा जो कर्त्तव्य है उसका पालन करें, हम अपने आदर्शकी रक्षा करें या व्यावहारिक नीतिकी; हम आत्मबलपर विश्वास करें या इस कड़वी बातको मानें कि जीवन अभी आत्मरूप नहीं हो गया है और इसलिये न्यायका पक्ष लेकर भौतिक संघर्षमें अस्त्र धारण करना कभी-कभी अनिवार्य होता है। जो भी हो, ये सब समाधान होंगे अपनी-अपनी बुद्धि, स्वभाव और हृदयके अनुरूप ही; ये निर्भर करेंगे हमारे वैयक्तिक दृष्टिकोणपर और इनका अधिक-से-

अधिक यही लाभ होगा कि हम अपने ही तरीकेसे अपने सामने आयी हुई कठिनाईका मुकाबला करेंगे, अपने ही तरीकेसे इसलिये कि ये हमारे स्वभावके तथा हमारे नैतिक और बौद्धिक विकासकी अवस्थाके अनुरूप होंगे, और हमें जो प्रकाश अभी प्राप्त है उसमें हम लोग इससे अधिक और कुछ न देख सकते हैं न कर सकते हैं—पर इससे अंतिम समाधान नहीं होगा। इसका कारण यह है कि यह सब हमारे साधारण मनका समाधानमात्र होगा, उस मनका जो हमारी सत्ताकी विविध वृत्तियोंका एक गोरखधंधा है और जो इन विविध वृत्तियोंमेंसे किसी-किसीको चुन लेता या उन सबको मिला-जुलाकर अपना काम चला भर सकता है; हमारी युक्ति, हमारी नैतिक सत्ता, हमारी सक्रिय प्रकृतिकी आवश्यकताएं, हमारी सहज प्राणवृत्तियां, हमारी भावावेगमय सत्ता और वे विरली वृत्तियां भी जिन्हें हम अंतरात्माकी सहज स्फुरणा या हृत्पुरुषकी तरजीह कह सकते हैं उनके बीच एक कामचलाऊ मेल बैठा सकता है। गीताकी यह मान्यता है कि इस तरहसे कोई परम निरपेक्ष समाधान नहीं हो सकता, हो सकता है केवल तात्कालिक, व्यावहारिक समाधान। अर्जुनके सामने उस कालके उच्चतम आदर्शके अनुसार ऐसा ही एक व्यावहारिक समाधान पेश किया गया था, पर उसकी चित्तवृत्ति उसे स्वीकार करनेके अनुकूल नहीं थी और वास्तवमें भगवान् यह चाहते भी नहीं थे कि वह उसको स्वीकार कर ले। अतः गीता इस प्रश्नका समाधान बिलकुल दूसरे ही दृष्टिकोणसे करती है और इसका बिलकुल दूसरा ही हल निकालती है।

गीताका समाधान यही है कि अपने प्राकृत जीवभाव और साधारण मनोभावसे ऊपर उठो, अपने बौद्धिक और नैतिक भ्रमजालोंके ऊपर उठो और उस चिद्भावमें आ जाओ जहांका जीवन-विधान कुछ दूसरा

ही है और इसलिये जहां कर्मका विचार एक दूसरी ही दृष्टिसे किया जाता है; वहां कर्मके चालक वैयक्तिक काम और भावावेग नहीं होते; वहां द्वंद्व दूर हो जाते हैं; वहां कर्म हमारे अपने नहीं रह जाते और इसलिये हम वैयक्तिक पाप और पुण्यको अतिक्रम कर जाते हैं; वहां विराट् नैर्व्यक्तिक भागवत सत्ता हमारे द्वारा जगत्‌में अपने हेतुको क्रियान्वित करती है; वहां हम स्वयं एक दिव्य नवजन्मके द्वारा उसी सत्‌के सत्, उसी चित्‌के चित्, उसी आनंदके आनंद हो जाते हैं और तब हम अपनी इस निम्न प्रकृतिके अंदर नहीं रह जाते, हमारे लिये अपना कोई कर्म नहीं रह जाता, अपना कोई वैयक्तिक हेतु नहीं रह जाता और यदि हम कोई कर्म करते हैं—और यही तो एकमात्र समस्या और कठिनाई बाकी रह जाती है—तो हम केवल भागवत कर्मको करते हैं और यहां बाह्य प्रकृति उस कर्मका कारण नहीं, प्रेरक नहीं, केवल एक अबाध शांत उपकरणमात्र होती है; क्योंकि प्रेरक-शक्ति तो हमारे कर्मोंके अधीश्वरकी इच्छामें हमारे ऊपर रहती है। और गीताने इसीको सच्चे समाधानके रूपमें सामने रखा है, क्योंकि यह हमें हमारी सत्ताके वास्तविक सत्यमें ले जाता है और अपनी सत्ताके वास्तविक सत्यके अनुसार रहना ही स्पष्टतया हमारे जीवनके प्रश्नोंका सर्वोत्कृष्ट एकमात्र और संपूर्ण रूपसे सत्य समाधान है। हमारा जो मनोमय और प्राणमय व्यक्तित्व है वह हमारे प्राकृत जीवनका सत्य है, पर यह सत्य अज्ञानगत सत्य है और जो कुछ भी उसके साथ संबद्ध है वह उसी कोटिका सत्य है जो अज्ञानगत कर्मोंके लिये व्यवहारतः उपयोगी तो है, पर जब हम अपनी सत्ताके वास्तविक सत्यमें लौट आते हैं तब यह सत्य उपयोगी नहीं रह जाता। परंतु इस बातका हमको पूर्ण निश्चय कैसे हो कि यही सत्य है? पूर्ण निश्चय तबतक नहीं हो सकता जबतक हम अपने मनके सामान्य अनुभवोंसे ही संतुष्ट हैं; कारण हमारे

सामान्य मानस अनुभव सर्वथा इसी निम्न प्रकृतिके हैं जो अज्ञानसे भरी पड़ी है। हम उस महत्सत्यको उसमें निवास करके ही जान सकते हैं, अर्थात् योगके द्वारा मन-बुद्धिको पार कर आध्यात्मिक अनुभवमें पहुंचनेसे ही हम इसे जान सकते हैं। कारण आध्यात्मिक अनुभूतिमें तबतक बसे रहना जबतक मनुष्य मानस भावसे छूटकर आत्मभावमें प्रतिष्ठित न हो जाय, जबतक वह अपनी वर्त्तमान प्रकृतिके दोषोंसे मुक्त होकर अपनी सत्य भागवत सत्तामें पूर्ण रूपसे रहने न लग जाय—यही वह अंतिम भाव है जिसे हम योग कहते हैं।

हमारी सत्ताका केंद्र इस तरह ऊर्ध्वमें उठे और उससे हमारा संपूर्ण जीवन तथा हमारी चेतना रूपांतरित हो, और इसके फलस्वरूप हमारे कर्मका बाह्य रूप बहुधा वैसा ही बना रहनेपर भी उसका सारा आंतरिक भाव और हेतु ही परिवर्तित हो जाय, यही गीताके कर्मयोगका सारतत्त्व है। अपनी सत्ताको रूपांतरित करो, आत्मस्वरूपमें नया जन्म लो और उस नवीन जन्मसे उस कर्ममें लगो जिसके लिये तुम्हारे अंतःस्थित आत्माने तुमको नियुक्त किया है, यही गीताके संदेशका मर्म कहा जा सकता है। अथवा दूसरी तरहसे, अधिक गंभीर और अधिक आध्यात्मिक आशयके साथ यों कहें कि, जो कर्म तुम्हें यहां करना पड़ता है उसे अपने आंतर आध्यात्मिक नवजन्मका साधन बना लो, अपने दिव्य जन्मका साधन बना लो, और दिव्य होकर, भगवान्‌के उपकरण बनकर लोकसंग्रहके लिये अब भी दिव्य कर्म करो। यहां दो बातें हैं जिन्हें स्पष्ट रूपसे सामने रखना और समझना होगा, एक है इस परिवर्तनका मार्ग, अपनी सत्ताके केंद्रको ऊर्ध्वमें उठा ले जानेका मार्ग, यह दिव्यजन्म-ग्रहण और दूसरी बात है कर्मका स्वभाव या यह कहिये कि वह भाव जिससे प्रेरित होकर कर्म करना होगा—क्योंकि कर्मके बाह्य

रूपकी तो कोई बात ही नहीं है, उसका बदलना कोई जरूरी बात नहीं है, यद्यपि उसके हेतु और परिधि तो बिलकुल बदल ही जायंगे। परंतु ये दोनों बातें कार्यतः एक ही हैं, क्योंकि एकको समझनेसे दूसरी समझमें आ ही जाती है। हमारे कर्मके भावका उदय हमारी सत्ताका अभी जो स्वभाव है उससे तथा उसकी जो आंतरिक प्रतिष्ठा अबतक हुई है उससे होता है; परंतु अपनी सत्ताका यह स्वभाव स्वयं भी हमारी कर्मकी धारा और उसके आध्यात्मिक प्रभावसे बदला करता है; कर्मके भावमें बहुत बड़ा परिवर्तन होनेसे हमारी सत्ताके स्वभावमें और उसकी आंतरिक प्रतिष्ठामें परिवर्तन होता है; इससे उस सचेतन शक्तिका केंद्र ही दूसरा हो जाता है जिससे हम कर्म करते हैं। यदि जीवन और कर्म केवल मिथ्या माया होते, जैसा कि कुछ लोग कहा करते हैं, यदि आत्माका कर्म या जीवनके साथ कोई सरोकार न होता तो यह बात न होती; पर हमारे अंदर जो देही जीव है वह जीवन और कर्मोंसे अपने-आपको विकसित किया करता है और कर्म स्वयं तो उतना नहीं बल्कि जीवकी कर्म करनेकी अन्तःशक्तिकी क्रियाका रूप ही उसकी आत्मसत्ताके साथ उसका संबंध निर्द्धारित किया करता है। यही तो आत्मज्ञानके व्यावहारिक साधन-स्वरूप कर्मयोगकी सार्थकता है।

हमारे समाधानका भवन इस नींवपर उठना आरंभ करता है कि मनुष्यका वर्त्तमान आंतर जीवन ही, जो अभी प्रायः उसकी प्राण-प्रकृति और शरीर-प्रकृतिपर सर्वथा निर्भर करता और मानसी शक्तिकी मर्यादित क्रीड़ाके सहारे कुछ ही उसके ऊपर उठा रहता है, उसका संपूर्ण संभाव्य जीवन नहीं है न उसके वर्त्तमान वास्तविक जीवनका ही सब कुछ है। उसके अंदर छिपा हुआ एक आत्मा है और उसकी वर्त्तमान प्रकृति या तो उस आत्माका केवल एक बाह्य रूप है या उसकी कर्मशक्तिका एक आंशिक

फल। गीतामें अथसे इतितक सर्वत्र इस कर्मशक्तिकी वास्तविकताकी बात स्वीकृत है, कहीं भी ऐसा नहीं मालूम होता कि उसने चरमपंथी वेदांतियोंका यह कठोर मत स्वीकार किया हो कि यह सत्ता केवल प्रातिभासिक है, जो मत सारे कर्म और क्रियाशक्तिकी जड़पर ही कुठाराघात करता है। गीताने अपनी दार्शनिक विवेचनामें इस पहलूको जिस रूपमें सामने रखा है (यह काम दूसरे रूपमें भी किया जा सकता था) वह यही है कि सांख्योंका प्रकृति-पुरुष-भेद उसने मान लिया है—पुरुष अर्थात् वह ज्ञानशक्ति जो जानती, धारण करती और पदार्थमात्रको अनुप्राणित करती है और प्रकृति अर्थात् वह क्रियाशक्ति जो कर्म करती और नानाविध उपकरणों, माध्यमों और प्रक्रियाओंको जुटाती रहती है। फर्क इतना ही है कि गीताने सांख्योंका मुक्त अक्षर पुरुष ग्रहण किया है सही किंतु उसे वेदांतकी भाषामें एक अक्षर सर्वव्यापक आत्मा या ब्रह्म कहा है, और यह जो प्रकृतिबद्ध दूसरा पुरुष है इससे उसका पार्थक्य दिखाया है। यह प्रकृतिबद्ध पुरुष ही हमारा क्षर कर्मशील पुरुष है, यही बहुपुरुष है जो समस्त वस्तुओंमें है और जो विभिन्नता और व्यक्तित्वका आधार है। परंतु तब प्रकृतिका कर्म क्या है?

यह प्रक्रियाशक्ति है, इसीका नाम प्रकृति है और यह है तीनों गुणोंकी एक दूसरेपर क्रियारूप जो क्रीड़ा होती है वह। और यह माध्यम क्या है? यह है प्रकृतिके उपकरणोंके क्रम-विकाससे सृष्ट जीवनकी जटिल प्रणाली और ये उपकरण प्रकृतिकी क्रियामें जीवकी अनुभूतिके अंदर ज्यों-ज्यों यहां प्रतिभासित होते हैं त्यों-त्यों इन्हें हम यथाक्रम बुद्धि, अहंकार, मन, इंद्रियां और पंचमहाभूत कह सकते हैं, और ये पंचमहाभूत ही प्रकृतिके रूपोंके आधार हैं। ये सब यांत्रिक हैं, यह एक ऐसा यंत्र है जिसके अनेकों कल-पुर्जे हैं और अपने आधुनिक दृष्टिकोणसे

हम यह कह सकते हैं कि ये सब-के-सब जड़प्राकृतिक शक्तिमें समाये हुए हैं और प्रकृतिस्थ जीव जैसे-जैसे प्रत्येक यंत्रके ऊर्ध्वगामी विकासके द्वारा अपने-आपको जानता है वैसे-वैसे ये प्रकृतिमें प्रकट होते हैं, किंतु जिस क्रमसे हम इन्हें ऊपर गिना आये उससे इनके प्रकटीकरणका क्रम उलटा होता है, अर्थात् पहले जड़ सृष्टि प्रकट होती है, तब इंद्रियसमूह, उसके बाद क्रमसे मन और बुद्धि और अंतमें आत्मचैतन्य। बुद्धि जो पहले प्रकृतिके कार्योंमें ही लगी रहती है, पीछे इन कार्योंके यथार्थ स्वरूपको जान सकती है, यह देख सकती है कि यह केवल त्रिगुणका खेल है जिसमें जीव फंसा हुआ है और जीवको तथा त्रिगुणके इन कार्योंको वह अलग-अलग देख सकती है; और जब ऐसा होता है तब जीवको मौका मिलता है कि वह इस बंधनसे अपने-आपको छुड़ा ले और अपने मूल मुक्त स्वरूप और अक्षर सत्तामें लौट आवे। वेदांतकी परिभाषामें जीव तब आत्माको, सत्ताको देखता है; प्रकृतिके उपकरणों और कार्योंसे, उसके भूतभावसे अपने आपको तादात्म्य कर लेना बंद कर देता है; वह अपने सदात्माके साथ, अपने सत्स्वरूपके साथ तदात्म होता और अपनी स्वतःसिद्ध अक्षर आत्मसत्ताको फिरसे पा लेता है। तब इस आत्मस्थितिसे, गीता कहती है कि, वह मुक्त भावसे और अपनी सत्ताके ईश्वररूपसे अपने भूतभावके कर्मका आश्रय बन सकता है।

ये दार्शनिक प्रभेद जिन मनस्तात्विक तथ्योंपर प्रतिष्ठित हैं—और दर्शनशास्त्र उस शास्त्रको कहते हैं जो जीवनके मनस्तात्विक तथा भौतिक तथ्योंके तथा जो कोई भी परम सद्वस्तु है उसके साथ इनका क्या संबंध है इसके सारमर्मको हमें बौद्धिक रूपमें दिखा देता है—उन्हें देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि हम दो तरहके जीवन बिता सकते हैं, एक है अपनी सक्रिय प्रकृतिके कार्योंमें लीन जीवका जीवन, जिसमें जीव अपने

आंतरिक और बाह्य उपकरणोंके साथ तदाकार, उनसे परिच्छिन्न, अपने व्यक्तित्वसे बंधा, प्रकृतिके वशमें होता है; और दूसरा है आत्माका जीवन जो इन सब चीजोंसे श्रेष्ठ, विशाल, नैर्व्यक्तिक, विश्वव्यापी, मुक्त, अपरिच्छिन्न, अतिवर्ती है और अपने असीम समत्वसे अपनी प्राकृत सत्ता और कर्मको धारण करता पर अपनी मुक्तस्थिति और अनंतसत्तासे इनके परे रहता है। हम चाहें तो अपनी अभीकी प्राकृत सत्तामें रह सकते हैं अथवा चाहें तो अपने महत्तर आत्मसत्तामें रह सकते हैं। यही वह पहला महान् प्रभेद है जिसपर गीताका कर्मयोग प्रतिष्ठित है।

इसलिये अब सारा प्रश्न और उपाय यही है कि अंतरात्माको अपनी वर्त्तमान प्राकृत सत्ताकी परिच्छिन्नताओंसे मुक्त किया जाय। हमारे प्राकृत जीवनमें सर्वप्रथम मुख्य बात है हमारा जड़ प्रकृतिके रूपोंके, पदार्थोंके बाह्यस्पर्शोंके अधीन होना। ये रूप, ये स्पर्श इंद्रियोंके द्वारा हमारे प्राणके सामने आते हैं और प्राण तुरत इंद्रियोंके द्वारा इन्हें पकड़नेके लिये दौड़ पड़ता और इनसे संबंध जोड़ता है, इनकी कामना करता, इनसे आसक्त होता और फलकी इच्छा करता है। मनके अंदर होनेवाली सब सुखदुःख-वेदनाएं उसकी सब प्रतिक्रियाएं और तरंगें, ग्रहण चिंतन और अनुभवके उसके सब अभ्यस्त तरीके इंद्रियोंके कर्मका ही अनुगमन करते हैं; बुद्धि भी मनसे हरी जाकर इंद्रियोंके इस जीवनके प्रति अपने-आपको सौंप देती है, यह जीवन जिसमें आंतर सत्ता वस्तुओंके बाह्य रूपोंमें ही फंसी रहती है और एक क्षणके लिये भी उनसे ऊपर नहीं उठ सकती या हमारे ऊपर होनेवाले उसके कर्मके घेरेसे अथवा हमारे अंदर होनेवाले उसके मानस परिणामों और प्रतिक्रियाओंके चक्करसे बाहर नहीं निकल सकती। इसका कारण है अहंकार, प्रकृतिका वह तत्त्व जिससे बुद्धि हमारे मन, इच्छा, इंद्रियसमूह और शरीरपर होनेवाले प्रकृतिके संपूर्ण कार्यको

अन्यान्य मनों, इच्छाओं, इंद्रियों और शरीरोंपर होनेवाले कार्योंसे पृथक् बोध करती है; और हमारे लिये हमारा जीवन उतनासा ही रह जाता है जितना कि हमारे अहंकारपर प्रकृतिका असर पड़ता और हमारा अहंकार उसके स्पर्शोंका प्रत्युत्तर देता है। इसके सिवाय हम और कुछ नहीं जानते, हम और भी कुछ हैं यह नहीं मालूम पड़ते; और अंतरात्मा भी तब ऐसा मालूम पड़ता है कि मन, इच्छा, भावावेगमय और स्नायवीय प्रतिग्रह और प्रतिक्रियाका यह कोई पृथकीभूत स्तूप हो। हम अपने अहंकारको विशाल बना सकते हैं, अपने-आपको कुल, जाति, वर्ण, देश, राष्ट्र, मनुष्य-जातितकके साथ एकीभूत कर सकते हैं; परंतु फिर भी इन सब बहुरूपोंमें अहंकार ही हमारे सब कर्मोंकी जड़ बना रहता है केवल उसे बाह्य पदार्थों-के साथ उसके इन उदार व्यवहारोंसे अपनी पृथक् सत्ताका एक विशेष संतोष प्राप्त होता है।

इस अवस्थामें भी हमारे अंदर प्राकृत सत्ताकी इच्छा ही काम करती है जो अपने व्यक्तित्वके विभिन्न रूपोंको तृप्त करनेके लिये ही बाह्य जगत्के स्पर्शोंको ग्रहण करती है, और इस प्रकार विषयोंको ग्रहण करनेवाली इच्छा सदा ही कर्म और कर्मफलके प्रति कामना, आवेश और आसक्तिमय इच्छा ही होती है; यह हमारी प्रकृतिकी ही इच्छा होती है; इसे हम अपनी इच्छा कहते हैं, पर हमारा अहंभावापन्न व्यक्तित्व तो प्रकृतिकी ही एक रचना है, यह हमारा मुक्त आत्मा, हमारी स्वाधीन सत्ता नहीं है और न हो सकता है। यह सारा प्रकृतिके गुणोंका कर्म है। यह कर्म तामसिक हो सकता है और तब हमारा व्यक्तित्व होता है जड़वत्, वस्तुओंकी यांत्रिक धाराके वशमें और उसीसे संतुष्ट, किसी अधिक स्वाधीन कर्म और प्रभुत्वका कोई प्रबल प्रयास करनेमें सर्वथा असमर्थ। अथवा यह कर्म राजसिक हो सकता है और तब हमारा

यक्तित्व उद्यमी और बेचैन रहता है, जो अपने-आपको प्रकृतिपर लाद देता और उससे अपनी आवश्यकताएं और इच्छाएं पूरी कराना चाहता है, पर यह नहीं देख पाता कि उसका यह प्रभुत्वाभास तो एक दासत्व ही है, क्योंकि उसकी आवश्यकताएं और इच्छाएं वे ही हैं जो प्रकृतिकी आवश्यकताएं और इच्छाएं हैं, और जबतक हम उनके वशमें हैं तबतक हमें मुक्ति नहीं मिल सकती। अथवा यह कर्म सात्विक हो सकता है और तब हमारा व्यक्तित्व प्रबुद्ध होता है, जो बुद्धिके द्वारा अपना जीवन बिताने और किसी शुभ, सत्य या सुंदरके ईप्सित आदर्शको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है; पर अभी यह बुद्धि प्रकृतिके रूपोंके ही वशमें होती है और ये आदर्श होते हैं हमारे अपने ही व्यष्टिस्वरूपके परिवर्तनशील भाव जिनमें अंततोगत्वा कोई ध्रुव नियम नहीं मिलता न सदाके लिये कोई संतोष ही होता है। यहां भी हम परिवर्तनके चक्करपर ही घूमते रहते हैं और हम उस शक्तिके अधीन रहते हैं जो हमारे अंदर और इस सबके अंदर है और जो हमें हमारे अहंकारके द्वारा इस तरह चक्कर दिलाया करती है, पर हम स्वयं वह शक्ति नहीं होते न उसके साथ हमारा योग या मेल ही होता है। यहां भी कोई मुक्तावस्था नहीं होती, कोई यथार्थ प्रभुत्व नहीं होता।

फिर भी मुक्तावस्था संभव है। उसके लिये पहले हमें, अपनी इंद्रियोंपर बाह्य संसारकी जो क्रिया होती है उससे अलग हटकर अपने-आपमें आ जाना होगा; अर्थात् हमें अंतर्मुख होकर रहना होगा और इंद्रियां जो अपने बाह्य विषयोंकी ओर स्वभावतः ही दौड़ पड़ती हैं, उन्हें रोक रखनेमें समर्थ होना होगा। इंद्रियोंको अपने वशमें रखना और इंद्रियां जिन सब चीजोंके लिये तरसा करती हैं उनके बिना सुख-पूर्वक रहनेमें समर्थ होना, सच्चे अध्यात्मजीवनकी पहली शर्त है, जब

यह हो जाता है केवल तभी हम यह अनुभव करने लगते हैं कि हमारे अंदर कोई आत्मा है जो बाह्य स्पर्शोंसे उत्पन्न होनेवाले मनके विकारोंसे सर्वथा भिन्न वस्तु है, वह आत्मा जो अपनी गभीरतर सत्तामें स्वयंभू, अक्षर, शांत, आत्मवान, भव्य, स्थिर, गंभीर और महान् है, आप ही अपना प्रभु है और बाह्य प्रकृतिकी व्यग्रताभरी दौड़-धूपसे सर्वथा अलिप्त है। परंतु यह तबतक नहीं हो सकता जबतक हम कामके वशमें हैं। कारण हमारे सारे बाह्य जीवनका मूल तत्त्व जो यह काम है इसे इंद्रियगत जीवनसे तृप्ति मिलती है और यह षड्रिपुओंके खेलमें ही मस्त रहता है। इसलिये इस कामसे हमें छुटकारा पाना होगा और हमारी प्राकृत सत्ताकी इस प्रवृत्तिके नष्ट होनेपर हमारे मनोविकार, जो कामकी तरंगोंके परिणामभूत होते हैं, आप ही शांत हो जायंगे; क्योंकि लाभ और हानिसे, सफलता और विफलतासे, प्रिय और अप्रियके स्पर्शोंसे जो सुखदुःख हुआ करते हैं और जो ही इन मनोविकारोंका स्वागत और सत्कार करते हैं, हमारे अंतरात्माओंके अंदरसे निकल जायंगे। तब स्थिर समता प्राप्त होगी। और अब भी जब हमें इस जगत्में रहना और कर्म करना है और हमारा स्वभाव तो कर्म करनेमें फलकी आकांक्षा करनेवाला बना हुआ है, तब हमारा यह कर्तव्य है कि हम इस स्वभावको बदल दें और फलासक्तिको छोड़कर कर्म करें, यदि ऐसा न करेंगे तो काम और उसके सारे परिणाम बने ही रहेंगे। परंतु हममें यह जो कर्मके कर्त्ताका स्वभाव है इसको हम कैसे बदल सकते हैं? बदल सकते हैं अपने अहंकार और व्यक्तित्वसे अपने कर्मोंको अलग करके, विवेक-बुद्धिसे यह देख करके कि यह सब कुछ केवल प्रकृतिके गुणोंका ही तो खेल है, और अपने अंतरात्माको इस खेलसे अलग करके, सबसे पहले अपने अंतरात्माको प्रकृतिके कर्मोंका साक्षी बनाके तथा उन कार्योंको उस शक्तिके

हवाले करके जो वास्तवमें उनके पीछे है; यह शक्ति प्रकृतिके अंदर रहनेवाली वह वस्तु है जो हमसे बड़ी है, यह हमारा व्यक्तित्व नहीं बल्कि वह शक्ति है जो विश्वकी स्वामिनी है। परंतु मन यह सब न होने देगा; क्योंकि उसका स्वभाव इंद्रियोंके पीछे चलना और बुद्धि और इच्छा-शक्तिको अपने साथ घसीट ले जाना है। इसलिये मनको स्थिर करना हमें सीखना होगा। हमें वह निरपेक्ष शांति और स्थिरता प्राप्त करनी होगी जिसमें पहुंचकर हम अपने उस अंतःस्थित स्थिर, अचल, आनंदमय आत्माको जान सकें जो सदा ही बाह्य पदार्थोंके स्पर्शोंसे अक्षत, अक्षुब्ध रहता है, अपने-आपमें ही पूर्ण रहता और अपने-आपमें ही अपनी चिरंतन तृप्ति लाभ करता है।

यह आत्मा ही हमारा स्वतःसिद्ध स्वरूप है। यह हमारे वैयक्तिक जीवनसे बद्ध नहीं। यह सब भूतोंमें एक, सबमें व्यापक, सबमें सम, अपनी अनंत सत्तासे अखिल विश्वकर्मका धारण करनेवाला है, पर देश-कालकी परिच्छिन्नतासे परिच्छिन्न होनेवाला नहीं, प्रकृति और व्यष्टिके परिवर्तनोंसे परिवर्तित होनेवाला नहीं। जब हमें अपने अंदर इस आत्माके दर्शन होते हैं, जब हमें उसकी शांति और स्थिरताका अनुभव होता है, तब हम उसमें संवर्द्धित हो सकते हैं; हमारा अंतःपुरुष अभी जो प्रकृतिमें निमज्जित होकर निम्नतर अवस्थामें आसन जमाये बैठा है उसकी इस अवस्थाको बदलकर हम उसे आत्माके अंदर पुनःप्रतिष्ठित कर सकते हैं। हम यह कर सकते हैं इन वस्तुओंकी शक्तिसे जो हमें प्राप्त हुई हैं—स्थिरता, समता, निर्विकार नैर्व्यक्तिकता। क्योंकि ज्यों-ज्यों हम इन चीजोंको अपने अंदर अधिकाधिक बढ़ाते हैं, अपने अंदर उनकी पूर्णता ले आते हैं और अपनी सारी प्रकृतिको उनके अधीन करने देते हैं त्यों-त्यों हम इस स्थिर, सम, निर्विकार, नैर्व्यक्तिक, सर्वव्यापक आत्माके

स्वरूपको प्राप्त होते जाते हैं। हमारी इंद्रियां उसी स्थिरतामें जा पहुंचती हैं और जगत्के स्पर्शोंको महती शांतिके साथ ग्रहण करती हैं; हमारा मन उसी स्थिरताको प्राप्त होता और शांत, विराट् साक्षी बन जाता है; हमारा अहंकार इसी नैर्व्यक्तिक सत्तामें विलीन हो जाता है। हम तब सभी चीजें इसी आत्माके अंदर देखते हैं जो आत्मा हम स्वयं हो गये होते हैं; और हम इस आत्माको सबके अंदर देखते हैं; हम सब भूतोंके साथ उनकी आत्मसत्तामें एकीभूत हो जाते हैं। इस अहंभावशून्य शांति और नैर्व्यक्तिकतामें रहते हुए हम जो कर्म करते हैं वे हमारे कर्म नहीं रह जाते, वे अब अपनी प्रतिक्रियाओंसे हमें किसी भी प्रकारसे न तो बांध सकते हैं न कोई पीड़ा ही पहुंचा सकते हैं। प्रकृति और उसके गुण अब भी अपने कर्मका जाल बुना करते हैं, पर उनसे हमारी दुःख-रहित स्वतःसिद्ध शांति भंग नहीं होती। सब कुछ उसी एक सम विराट् ब्रह्मको समर्पित होता है।

परंतु यहां दो शंकाएं उपस्थित होती हैं। एक यह कि यह शांत अक्षर आत्मा और प्रकृतिके कर्म, इन दोनोंके बीच एक विरोध प्रतीत होता है। जब हम इस अक्षर आत्मासत्तामें एक बार प्रवेश कर चुके तब फिर कर्मका अस्तित्व ही कैसे रह सकता है और वह जारी कैसे रह सकता है? उसमें कर्म करनेकी वह इच्छा ही कहां है जिससे हमारी प्रकृतिका कर्म हो सके? यदि हम सांख्यमतके अनुसार यह कहें कि इच्छा प्रकृतिमें होती है, पुरुषमें नहीं, तब भी प्रकृतिमें कर्मके पीछे कोई-न-कोई प्रेरक-भाव तो होना ही चाहिये और उसमें वह शक्ति भी होनी ही चाहिये जिससे वह आत्माको रस, अहंकार और आसक्तिके द्वारा अपने कर्मोंमें खींच सके, और इन चीजोंका आत्मचैतन्यके अंदर प्रतिबिंबित होना ही जब बंद हो गया तब प्रकृतिकी वह शक्ति भी

जाती रही, और उसके साथ-साथ कर्म करनेका प्रेरक-भाव भी जाता रहा। परंतु गीता इस मतको स्वीकार नहीं करती, जो मत एक विराट पुरुषके बजाय अनेक पुरुषोंका होना आवश्यक ठहराता है, क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तो यह बात समझमें न आ सकेगी कि किसी पुरुषकी पृथक् आत्मानुभूति और मोक्ष कैसे संभव है जब कि अन्य लाखों-करोड़ों पुरुष बद्ध ही पड़े हैं। प्रकृति कोई पृथक् तत्त्व नहीं बल्कि परमेश्वरकी ही शक्ति है जो विश्वरचनामें प्रवृत्त होती है। परंतु परमेश्वर यदि केवल यही अक्षर पुरुष है और व्यष्टिपुरुष केवल कोई ऐसी चीज जो उसमेंसे निकलकर उस शक्तिके साथ इस सृष्टिमें आया है, तो जिस क्षण व्यष्टि-पुरुष लौटकर आत्मामें स्थित होगा उसी क्षण सारी सृष्टिक्रिया बंद हो जायगी, रह जायगी केवल परम एकता और परम निस्तब्धता। दूसरी बात यह कि यदि किसी अचिंत्यरूपसे कर्म अब भी जारी रहे तो भी आत्मा जब सब पदार्थोंके लिये सम है तब कर्म हों या न हों और हों तो चाहे जैसे हों, इससे कुछ भी आता-जाता नहीं। ऐसी अवस्थामें यह भयंकर सत्यानासी कर्म क्यों, यह रथ, यह युद्ध, यह योद्धा, यह भगवान् सारथी किस लिये?

गीता इसका उत्तर देती है यह बतलाकर कि परमेश्वर अक्षर पुरुषसे भी महान् हैं, अधिक व्यापक हैं, वे साथ-साथ यह आत्मा भी हैं और प्रकृतिमें जो कर्म हो रहे हैं उनके अधीश्वर भी। परंतु वे प्रकृतिके कर्मोंका संचालन करते हैं अक्षर ब्रह्मकी सनातनी अचलता, समता, कर्म और व्यष्टिभावसे अतीत श्रेष्ठतामें स्थित रहते हुए। यही, हम कह सकते हैं कि, उनकी सत्ताकी वह स्थिति है जिसमेंसे वे कर्मसंचालन करते हैं, और जैसे-जैसे हम इस स्थितिमें संवर्द्धित होते हैं वैसे-वैसे हम उन्हींकी सत्ता और दिव्य कर्मोंकी स्थितिको प्राप्त होते हैं। इसी स्थितिसे वे अपनी सत्ताकी प्रकृतिगत इच्छा और शक्तिके रूपमें निकल आते हैं,

अपने-आपको सब भूतोंमें प्रकट करते हैं, जगत्‌में मनुष्यरूपसे जन्म लेते हैं, सब मनुष्योंके हृदयोंमें निवास करते हैं, अवताररूपसे अपने-आपको अभिव्यक्त करते हैं (यही मनुष्यके अंदर उनका दिव्य जन्म है); और मनुष्य ज्यों-ज्यों उनकी सत्तामें संवर्द्धित होता है त्यों-त्यों वह इसी दिव्य जन्मको प्राप्त होता है। कर्म करने होंगे यज्ञके तौरपर इन्हीं प्रभुके लिये जो हमारे कर्मोंके अधीश्वर हैं, और अपने-आपको अपने आत्म-स्वरूपमें उन्नत करते हुए हमें अपनी सत्ताके अंदर उनके साथ एकत्व लाभ करना होगा और अपने व्यष्टिभावको इस तरह देखना होगा कि यह उन्हींका प्रकृतिमें आंशिक प्राकट्य है। सत्तामें उनके साथ ऐक्य लाभ करनेसे हम जगत्‌के सब प्राणियोंके साथ एक हो जाते हैं और हम दिव्य कर्म करने लगते हैं, अपने कर्मके तौरपर नहीं बल्कि लोकसंरक्षण और लोकसंग्रहके लिये हमारे द्वारा होनेवाली उन्हींकी क्रियाके तौरपर।

असलमें करनेकी बात यही है और एक बार जहां यह की जा सकी तहाँ जो कोई भी शंकाएं अर्जुनके सामने उपस्थित हैं उन सबका निरसन हो जाता है। प्रश्न फिर हमारे वैयक्तिक कर्मका नहीं रहता, कारण हमारा व्यक्तित्व जिससे बनता है वह चीज तो फिर केवल इस लौकिक जीवनसे संबंध रखनेवाली और इसलिये गौण हो जाती है, प्रश्न तब रहता है केवल जगत्‌में हमारे द्वारा भगवदिच्छाके कार्यान्वित होनेका। उसे समझनेके लिये हमें यह जानना होगा कि ये परमेश्वर स्वयं क्या हैं और प्रकृतिके अंदर इनका क्या स्वरूप है, प्रकृतिकी कर्मपरंपरा क्या है और उसका लक्ष्य क्या है और प्रकृतिस्थ पुरुष और इन परमेश्वरके बीच आंतरिक संबंध क्या है, ज्ञानयुक्त भक्ति ही जिसकी नींव है। इन्हीं बातोंका स्पष्टीकरण गीताके शेष अध्यायोंका विषय है।